आचार्य श्रीचन्द्र की विचारधारा

डा० विष्णुदत्त राकेश

मध्यकाल के आचार्य संत जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्य उच्चकोटि के दार्शनिक, समाज सुधारक, योगी, भक्त, कवि और युगचेता विचारक थे। राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक विषमता, धार्मिक कदाचार, आडम्बर पूर्ण जीवन शैली, सामंती शोषण तथा दमन के विरुद्ध उन्होंने शासक, शोषक और धर्माचार्यों को खुली चेतावनी दी। गाँव और नगरों के बहुसंख्यक दीन-हीन जनों के उद्धार की घोषणा की। मानवमात्र की समानता का उद्घोष किया। सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के लिए उन्होंने जनजागरण का अभियान चलाया। भक्ति, ज्ञान और योग का समन्वय उनके चिन्तन की महत्तम उपलब्धि है।

निरंकुश व्यवस्था के प्रति आक्रोश के स्वर आचार्यश्री की वाणी में बड़े तीखे हैं। वह केवल वाचिक फटकार तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने महाराणा प्रताप, भामाशाह, समर्थ स्वामी रामदास तथा गुरुहरगोविन्द को सशस्त्र संघर्ष की प्रेरणा दी।
□

आचार्यश्री के चमत्कारी व्यक्तित्व से विधर्मी शासक और हुक्मरान भी प्रभावित हुए। उनके श्रद्धालु अनुयाइयों में हिन्दू-मुसलमान तथा अन्य तबकों के लोग थे। उनके उपदेशों ने मानव मात्र को समग्र मुक्ति का रास्ता दिखाया।

उनका एक सौ पचास वर्षों का जीवनकाल तप, त्याग, करुणा, प्रेम, देशोद्धार और भारतीय समाज के कल्याणकारी कार्यों का जीवन्त इतिहास है। उनके

क्रमशः ➡
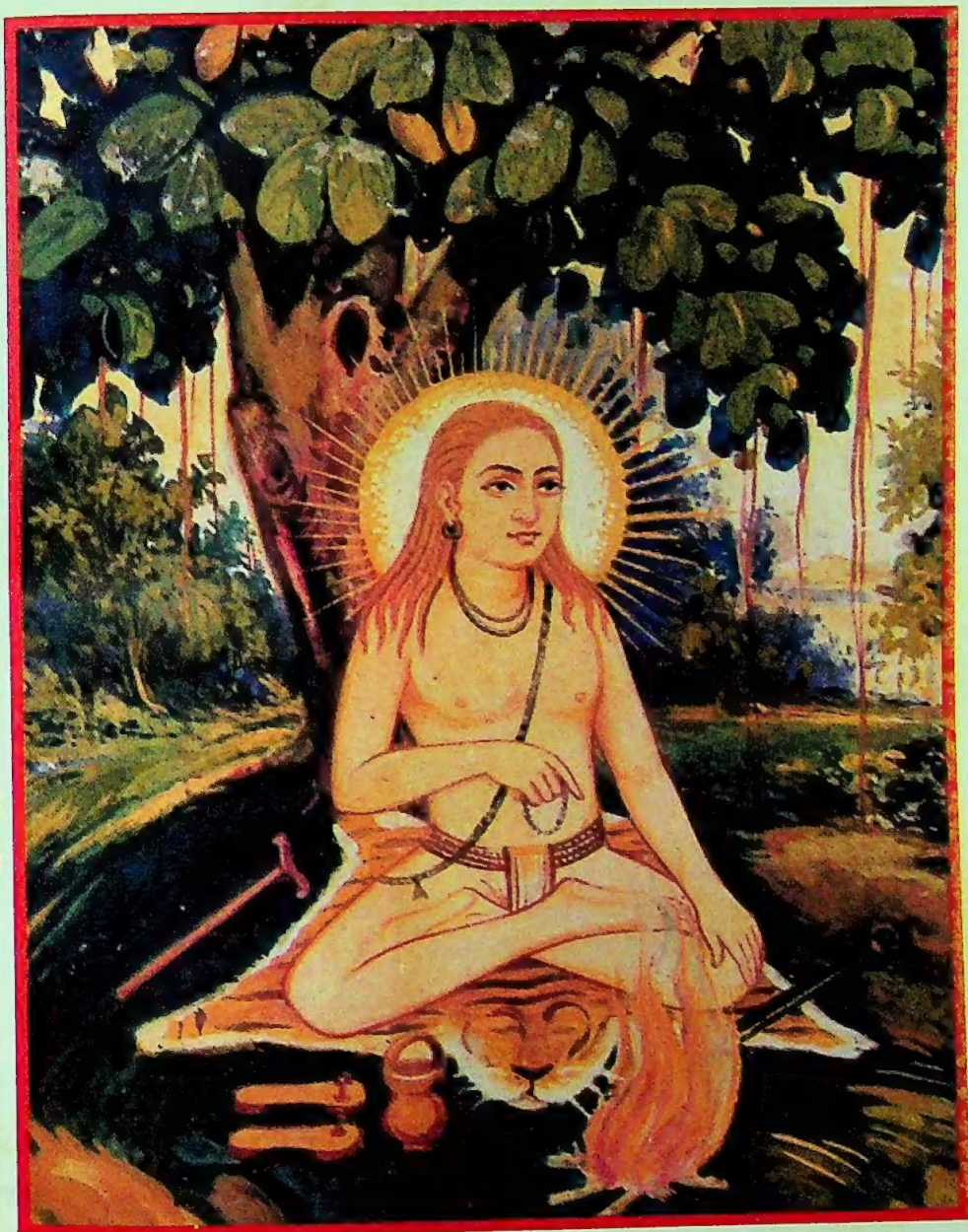
उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्र जी महाराज
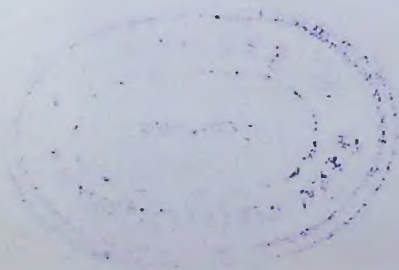
आचार्य श्रीचन्द्र की विचारधारा

Views & Vision of Acharya Shrichandra

लेखक :

डा० विष्णुदत्त राकेश

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : हिन्दी विभाग

तथा **निदेशक** : स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार – 249 404 (उ०प्र०)
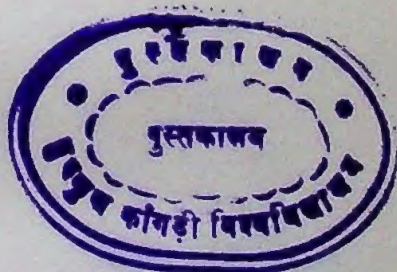
प्रकाशक :

प्रियतम प्रकाशन

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

उदासीन आश्रम, अखाड़ा संगलवाला
बाज़ार माई सेवां, अमृतसर – 143 001

♦ ♦ ♦

श्री पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन
राजघाट, कनखल–249 408, हरिद्वार (उ०प्र०)

♦ ♦ ♦

पूर्वोदय प्रकाशन
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली–110 002

प्रथम संस्करण : 2000 ई०

मूल्य : रु० 250/–

प्रकाशक : प्रियतम प्रकाशन, उदासीन आश्रम, अखाड़ा संगलवाला, बाज़ार माई सेवा, अमृतसर - 143 001

मुद्रक : त्रिवेणी ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

Views & Vision of Acharya Shrichandra by Dr. Vishnu Datt Rakesh
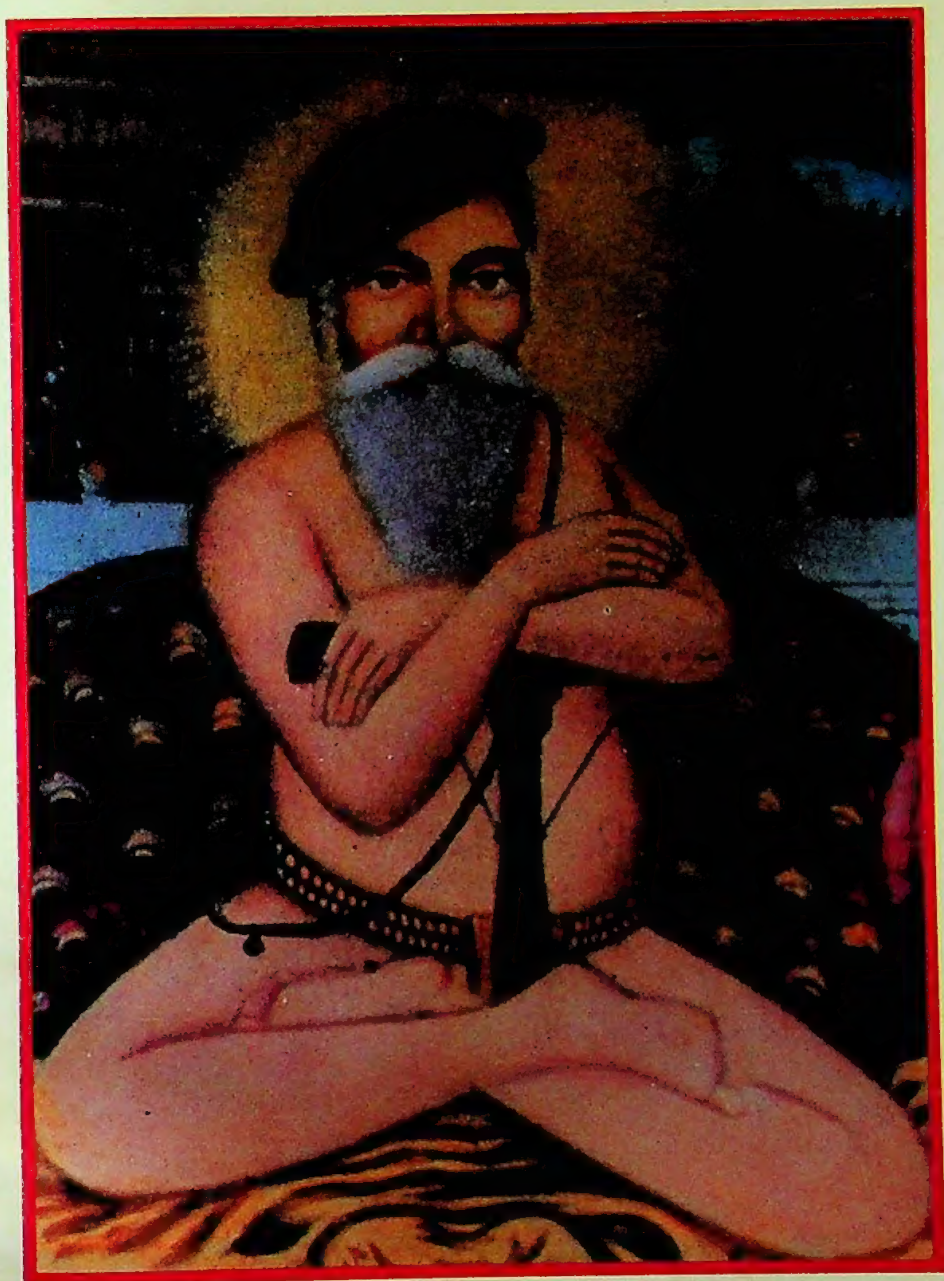
तपोमूर्ति निर्वाणदेव श्री प्रियतमदास जी महाराज

संस्थापक : श्री पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन निर्वाण

विषयानुक्रमणिका

आचार्य श्रीचन्द्र की विचारधारा	पृष्ठ सं०

महन्त श्री अनन्तानन्द जी उदासीन

अखाड़ा संगलवाला, अमृतसर

भूमिका

उदासीनाचार्य श्रीचन्द्र जी महाराज का प्रादुर्भाव 1494 ई0 में लाहौर की खड्गपुर तहसील के तलवंडी ग्राम में हुआ था। उनके गुरु मुनि अविनाशी ने उन्हें उदासीनमत की दीक्षा देते हुए वैदिक धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के उद्धार की प्रेरणा दी। आचार्य श्रीचन्द्र उच्च कोटि के दार्शनिक, भाष्यकार, योगी, संतकवि तथा विचारक थे। उन्होंने साम्राज्यवादी, सामंतवादी तथा महाजनी व्यवस्था से छिन्न-भिन्न होते हुए भारतीय समाज को मुक्ति का रास्ता दिखाया। हताश जनता के हृदय में आत्मविश्वास उत्पन्न किया तथा नैतिक जीवनमूल्यों का उपदेश कर अनीति और कदाचार से भरे जन-जीवन को नई चमक और ऊर्जा प्रदान की। वह केवल आध्यात्मिक साधक ही न थे, उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र निर्माण तथा मानव मात्र की एकता के सूत्र को व्यावहारिक रूप देने के लिए तिब्बत, भूटान, नेपाल, सम्पूर्ण भारतवर्ष, ठट्ठा कंधार, काबुल तथा उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के सुदूर स्थानों की यात्राएँ की। अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य, आत्मसंयम, कठोर तप, वैदिक-पौराणिक उपदेश, चमत्कार पूर्ण कार्यों तथा लोकहितकारी विचारों द्वारा उन्होंने सद्धर्महीन जनता को स्वधर्मपालन का पाठ पढ़ाते हुए संगठित किया एवं श्रुति-स्मृति द्वारा अनुमोदित धर्म के दृढ़ता पूर्वक पालन की प्रेरणा दी। स्वानुभववाद और श्रौत सिद्धान्तवाद दोनों का अनुमोदन उन्होंने किया।

मुस्लिम आक्रान्ताओं के कठोर व्यवहार से त्रस्त जन जीवन को उनके उपदेश मृत संजीवनी की तरह सुखकारी लगे। मध्यकाल के पतनोन्मुख समाज का भयावह चित्रण उनकी वाणियों में हुआ है। राजा, नवाब, जागीरदार, जमींदार, सरकारी अहलकार, कारिंदे, सिपाही, धर्मगुरु, संत, फकीर, औलिया तथा महाजन सभी तो भोली भाली जनता को लूटने में लगे थे। शहरों की दशा तो हीन थी ही, ग्रामों की दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। किसानों, मजदूरों, शिल्पियों और कामगारों को मेहनत करने के बाद भी दो समय की रोटी नसीब न थी। श्रीचन्द्र जी ने इनकी दयनीय दशा का चित्रण अपनी बानी में किया है। इस दृष्टि से वह मध्यकाल के क्रान्तिकारी संत कवियों में अग्रणी हैं। उन्होंने जात-पाँत, ऊंच-नीच तथा छोटे-बड़े के भेद को कृत्रिम बताया। आत्मा की एकता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर जहाँ उन्होंने शंकर के अद्वैत को व्यावहारिक जामा पहनाया वहाँ वैदिक एकेश्वरवाद के सिद्धान्त द्वारा इस्लामी एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को अमान्य कर दिया। शास्त्रार्थ में उलझे पण्डितों से जन-सामान्य के साथ जुड़ने का आह्वान किया तथा बौद्धिक तर्क-वितर्क को

मात्र बुद्धि-विलास मानते हुए सामाजिक सरोकारों को विकसित करने के लिए रागात्मक संवेदन जगाने की आवश्यकता पर बल दिया। जो धर्म, पंथ या सम्प्रदाय पारस्परिक विद्वेष तथा वैर भावना को जगाता है, वह उनकी दृष्टि में अशुभ है तथा जो प्राणी मात्र को एक-दूसरे के साथ जोड़ने में सहायक है, वह शुभ और मंगलकारी है। वैचारिक दृष्टि से यों तो छहों दर्शनों में अन्तर है पर लक्ष्य की दृष्टि से, मानव-निर्माण की दृष्टि से, कल्याणकारी चिन्तन की दृष्टि से या व्यष्टि तथा समष्टिगत हित सम्पादन की दृष्टि से उनमें विविधता होते हुए भी एकता विद्यमान है। अनेकता में एकता के दर्शन का प्रयत्न ही सांस्कृतिक उन्नति का रास्ता खोलता है। इसी की अमिट छाप युग के इतिहास पर पड़ती है और आने वाली पीढ़ियाँ इसी के आलोक में अपना लक्ष्य सुनिश्चित करती हैं। आचार्य श्रीचन्द्र ने कहा-

निर्वैर संध्या दर्शन छापा,
वाद-विवाद मिटाओ आपा ।

इस प्रकार वह सच्चे लोकनायक संत थे। संस्कृत तथा जनवाणी पर उनका असाधारण अधिकार था। श्रीचन्द्र जी मात्र उपदेशक संत ही नहीं थे, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के निरीक्षणकर्ता भी थे। इन विषयों पर उनकी गहरी पकड़ थी। समर्थ स्वामी रामदास, राणाप्रताप, भामाशाह तथा गुरु हरगोविन्द को उन्होंने राजनीतिक मुक्ति के लिए प्रेरित किया। स्वयं गाँव-गाँव घूमकर जन जागरण का कार्य किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य श्रीचन्द्र इस देश की मुक्ति के लिए भी सचेष्ट रहे। वह वैदिक ऋषियों के इस देश को स्वतंत्र, समृद्ध तथा सुखी देखना चाहते थे। इतना होने पर भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि श्रीचन्द्र जी की इस अमूल्य चिन्तन धारा का अध्ययन ऐतिहासिक और संत साहित्य की परम्परागत विशेषताओं के संदर्भ में नहीं हो पाया। सम्प्रदाय के संतों, विचारकों तथा विद्वानों ने उदासी सम्प्रदाय के उद्भव-विकास तथ दर्शन पर अच्छी पुस्तकें लिखी हैं पर उनमें इतिहास, समाज और जनचेतना का विश्लेषण नहीं के बराबर है।

1986 में मैंने '*आचार्य श्रीचन्द्र : साधना, सिद्धान्त और साहित्य*' पुस्तक में पहली बार उनकी कुछ हिन्दी तथा संस्कृत रचनाओं का परिचय दिया। अब उनकी विशाल वाणी-रचना '*सिद्धान्तसागर*' प्रकाशित होकर सामने आई है, अतः आचार्य श्री की विचारधारा को समझने के लिए ठोस सामग्री उपलब्ध हो गई है। संगलवाला अखाड़ा के महन्त श्री अनन्तानन्द जी उदासीन ने श्रीचन्द्र जी की पाँचसौवीं जयंती पर इसे प्रकाशित कर युगान्तरकारी कार्य किया है।

संगलवाला अखाड़ा की स्मारिका '*श्रीचन्द्र ज्योत्सना*' में तथा डा0 शोभा पाराशर की पुस्तक में इस ग्रंथ के उपजीव्य पर प्रकाश डाला गया है पर सिद्धान्तसागर का सांगोपांग अध्ययन अभी तक नहीं हो सका।

इस कृति के प्रेरक महन्त श्री गोविन्ददास जी

अखाड़ा संगलवाला की यों तो अनेक शाखाएँ हैं पर पठानकोट से पूर्व की ओर लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पर डलहौजी रोड के बाईं ओर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित मैमून ग्राम (जिला गुरुदासपुर) में 'मन्दिर चरणपादुका बाबा श्रीचन्द्र जी' एक ऐतिहासिक महत्व की शाखा है। भगवान् श्रीचन्द्र जी 1685 विक्रमी (1628 ई0) में श्रीनगर की यात्रा के समय इस स्थान पर रुके थे। श्रीचन्द्र जी महाराज यहाँ जिस पीपल के नीचे आकर बैठे थे, वह कई सालों से सूखा पड़ा था। भगवान् श्रीचन्द्र की कृपा से वह तभी हरा भरा हो गया था। इसी पीपल के साथ एक पातंजल का विशाल वृक्ष भी है, जिसके बारे में कहा जाता है कि श्रीचन्द्र जी महाराज ने यहाँ दातुन गाड़ दी थी जो एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हुई। आज ये दोनों वृक्ष श्रद्धालुओं की श्रद्धा के प्रतीक बने हुए हैं। यहीं भगवान् श्रीचन्द्र की चरणपादुकाएँ तथा मन्दिर है।

विक्रमी संवत् 2012 से पूर्व श्रीमान 108 बाबा कल्याणदास जी यहाँ के महन्त थे। उनके निधन के उपरान्त बाबा हरिदास जी यहाँ के महन्त रहे। बाबा हरिदास जी तथा बाबा अखण्डानन्द जी अखाड़ा संगलवाला के महन्त हीरानन्द जी की परम्परा के शिष्य थे। बाबा हरिदास जी के बाद 2029 विक्रमी संवत में महन्त गोविन्ददास जी को यहाँ की महन्ती प्रदान की गई। अखाड़ा संगलवाला के तत्कालीन महन्त श्री नर्बदानन्द जी तथा श्रीमहन्त सोहनदास जी ने इनको तिलक चादर प्रदान की। श्री अनन्तानन्द जी उदासीन भी इस अवसर पर उपस्थित थे।

महन्त श्री गोविन्ददास जी का जन्म एक सम्पन्न सुशिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ। आप बचपन से विरक्त प्रवृत्ति के थे। 1952 ई0 में बाबा कल्याणदास जी ने आपको उदासीन मत की दीक्षा प्रदान की। निर्वाण संत के रूप में आपने कठोर तपस्या की। देश की धार्मिक यात्राओं तथा जनकल्याण के कार्यों में विशेष रुचि के कारण आपकी कीर्ति चतुर्दिक फैली। 1960 ई0 में आप श्री पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन के प्रबन्धतंत्र से जुड़े तथा इलाहाबाद कार्यालय में नियुक्त हुए। 1970 ई0 में आप इलाहाबाद कार्यालय से हरिद्वार पधारे। तब से लगातार आप अखाड़े की सेवा करते आ रहे हैं।

अखिल भारतीय अखाड़ा परिषद् के महामंत्री के रूप में आपका कार्यकाल स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। प्रशासन, देशी-विदेशी मीडिया, साधु समाज तथा

नगर के नागरिक आप के निर्णयों, मन्तव्यों तथा लोकोपकारी कार्यों से प्रभावित हैं। महन्त गोविन्ददास जी हँसमुख वृत्ति के कर्मठ संत हैं। आपकी मीठी तथा बुलन्द आवाज़ आकर्षक है। आपके कीर्तन पर हजारों की भीड़ मंत्रमुग्ध हो जाती है। हिन्दूधर्म, संस्कृति तथा समाज के लिए आपके हृदय में भारी उत्साह है। निर्लोभ, स्वाभिमानी, त्यागी तथा उदारसंत का व्यक्तित्व पाया है आपने। विद्वानों का हृदय से सम्मान करते हैं। भगवान् श्रीचन्द्र जी के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार को अपना लक्ष्य मानते हैं। श्री अनन्तानन्द जी उदासीन के शब्दों में- '*आप बड़े कुशल प्रबन्धक, परिश्रमी, भेषहितकारी, दयालु, कर्मठ, नीतिज्ञ, भगवद्भक्त, विश्वसनीय, हँसमुख एवं पठित महात्मा हैं। आपकी कुशल देखरेख एवं आप द्वारा नियुक्त प्रबन्धकों की सूझबूझ के परिणाम स्वरूप ही आज मैमून का मकान उन्नति के शिखर पर है।*' सम्प्रति यहाँ की प्रबन्ध व्यवस्था महन्त गोविंददास जी के निर्देशानुसार श्री बाबा मदन मुनि सुचारु रूप से कर रहे हैं।

यह कहने में मुझे गौरव का अनुभव होता है कि महन्त गोविन्ददास जहाँ उच्च कोटि के साधक, भक्त तथा निर्मल हृदय संत हैं, वहाँ परम विद्यानुरागी भी हैं। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और रीति-रिवाजों के मर्मज्ञ हैं। आपने षड्दर्शन के साधुओं को एक सूत्र में पिरोए रखने का काम अखाड़ा परिषद् के मंच से कुशलतापूर्वक किया है। ऐसे परदु:खकांतर, गुणग्राही, प्रशस्तहृदय और विद्याव्यसनी संत कठिनाई से मिलते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में '*आचार्य श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर*' का शोध के धरातल पर व्यापक, शास्त्र सम्मत तथा तलस्पर्शी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि संत साहित्य के अध्येताओं को इस कृति से सर्वथा नवीन दृष्टि प्राप्त होगी। वह आचार्य श्री की विचारधारा से अवगत होंगे तथा आचार्य श्री की बहुआयामी वाणी का मर्म समझेंगे। इतना होने पर भी कोई यह दावा कैसे कर सकता है कि उसने सिद्धान्तसागर का एक एक कोना झाँक लिया है। आचार्यश्री की वाणी शोधार्थियों को चुनौती दे रही है, वे निष्ठापूर्वक आएँ, डुबकी लगाएँ और खोजपूर्ण निष्कर्षों के नित्य नये मोती निकालकर अपना तथा अपने समाज और राष्ट्र का कल्याण करें।

वैशाखी पर्व (2000 ई0) विष्णुदत्त राकेश

'ईशान', 4-भगवन्तपुरम
कनखल-249 408, हरिद्वार (उ.प्र.)
फोन : (0133)-414994

महन्त श्री गोविन्ददास जी महाराज

महामंत्री : अखिल भारतीय अखाड़ा परिषद

श्री पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन, कनखल, हरिद्वार

प्रथम अध्याय

उदासीन सम्प्रदाय और उदासीन परम्परा

भारतीय धर्म साधनाओं में योग मार्ग प्राचीन है । वैदिक साहित्य में ध्यान योग, हठ योग तथा मंत्र योग का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। योग मार्ग के आदि प्रवर्तक शिव हैं तथा इसके प्रथम प्रचारक वसिष्ठ बताए गए हैं। अष्टांग योग का निरूपण महर्षि पतंजलि ने किया है, उनके योग सूत्रों का भाष्य व्यास जी ने किया है। श्री शिव ने महायोग का उपदेश श्री विष्णु को, श्री विष्णु ने ब्रह्मा जी को, ब्रह्मा जी ने सनत्कुमार को, सनत्कुमार जी ने नारद जी को, नारद जी ने व्यास जी को, व्यास जी ने श्री कृष्ण और अर्जुन को प्रदान किया। इस योग परम्परा का लक्ष्य ब्रह्मवादियों को आत्मयोग की साधना में दीक्षित करना रहा है। कूर्म पुराण, शिवपुराण तथा भागवतपुराण में योगमार्गी आचार्यों की साधना का उल्लेख है। योग परम्परा का एक संदेश यह भी है कि श्री शिव तथा श्री विष्णु में कोई भेद नहीं है।

अयं नारायणो सोऽसावीश्वरो नात्र संशयः,
नान्तरं ये प्रपश्यन्ति तेषां देयमिदं परम् ।

श्रीचन्द्राचार्य इसीलिए कहते हैं- *'नारायण के सर्व स्वरूप, देवी देव देवालय ब्रह्म शिवै गण भूप'* । योगी मार्ग का प्रभाव शैव, शाक्त, कापालिक तथा वैष्णव सम्प्रदायों पर भी देखा जा सकता है। वेद तथा तंत्र मूलक साधनाएँ भी योग मार्ग से अछूती नहीं रहीं। मध्यकाल में

मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ तथा गोरखनाथ ने इस मार्ग को लोकप्रिय बनाया। कालान्तर में कनफटा, कनिया, जोगी, कालवेलिया तथा अवधूत आदि इसकी अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। नाथपंथ के रूप में इसका बारह शाखाओं में विकास हुआ जिनमें छह शाखाओं का सम्बन्ध सीधे शिव से तथा छह का सम्बन्ध श्री गोरखनाथ से माना जाता है। गोरखनाथ का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके साथ कपिल मत, लकुलीश मत, कापालिक मत, सिद्ध पंथ तथा वाममार्गी साधकों की भीड़ इकट्ठी हो गई। उन्होंने वैदिक-अवैदिक योग मार्गी साधकों को अपनी धारा में सम्मिलित कर लिया। कपिल मत में जैगीषव्य तथा पंच शिख जैसे आचार्य हुए जो पुरातन आदर्शों एवं संन्यास की उच्च परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे तो दूसरी ओर जालंधरपाद, मत्स्येन्द्र, सरहपा, तिलोपा और नारोपा जैसे सिद्ध आचारभ्रष्ट तंत्र परम्परा से छिटक कर इस विराट धारा में घुलमिल गए थे। जालंधर के शिष्य कृष्णपाद या कान्हपा कापालिक साधना के अनुयायी थे तथा मत्स्येन्द्र योगिनीमत छोड़ कर अपने शिष्य गोरखनाथ की प्रणाली तथा पद्धति के अनुयायी हो गए थे। मत्स्येन्द्र की साधना में अब योग तथा ब्रह्मचर्य की प्रधानता हो गई थी, वह स्त्री सेवन के मार्ग से पूर्णरूपेण मुक्त हो चले थे। ब्रह्मचर्योचित क्रिया योग के उद्धारक गोरखनाथ कहे जा सकते हैं। मत्स्येन्द्र, गोरख, भर्तृहरि तथा गोपीचन्दनाथ इस धारा के चार प्रमुख स्तंभ हैं जो चिरजीवी तथा चिरयुवा कहे जाते है। देह को शुद्ध रखने के लिए इन्होंने यमनियमादि के साथ क्रिया योग का उपदेश किया। तात्विक दृष्टि से निर्गुण निराकार परमपुरुष की आराधना को सर्वोपरि माना तथा शरीर को भस्मार्चित कर भस्म स्नान या विभूति धारण को आचार का प्रमुख साधन घोषित किया। ध्यान तथा मंत्र जाप के साथ अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करना इनकी साधना के अनिवार्य अंग हैं। मध्यकाल का संतमत इस योग धारा का ऋणी है। वारकरी सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय तथा उदासी सम्प्रदाय पर योग मार्ग का प्रभाव परिलक्षित होता है।

यों तो सभी सम्प्रदाय किसी ने किसी रूप में अष्टांग योग का समर्थन

करते हैं तथा मंत्र योग, हठ योग, लय योग तथा राज योग का अनुकरण करते हैं पर उदासीन सम्प्रदाय में क्रिया योग के साथ भक्ति का समन्वय उसे सभी संत मार्गों से भिन्न कर देता है।

श्रौतपरम्परा के योगमार्गी मुनियों के अतिरिक्त श्रौत परम्परानुयायी उदासीन मुनियों की योगधारा की श्रृंखला सर्वथा भिन्न है। श्री शिव ने श्री सनत्कुमार, सनत्कुमार ने श्री नारद, नारद ने श्री वाभ्रव्य, वाभ्रव्य ने श्री दालभ्य तथा दालभ्य ने श्री जयमुनि जी को उदासीन मत में दीक्षित किया। श्री सनत्कुमार ज्ञान-योग मार्गी तथा श्री नारद भक्ति-योग मार्गी आचार्य हैं। उदासीन मत में इन दोनों के प्रभाव के कारण ज्ञान-भक्ति समुच्चय तथा योगमार्गानुधावन की प्रवृत्ति विकसित हुई। उदासीन मुनियों की श्रृंखला में 164वें मुनि श्री अविनाशी जी हुए। इन्हीं श्री अविनाशी मुनि ने श्रीचन्द्र को उदासीन दीक्षा दी। श्रीचन्द्र जी ने उदासीन मत को व्यवस्थित रूप देकर चार धूणे तथा छह बख्शीशों की परम्परा स्थापित की। निवृत्ति प्रधान ज्ञान-भक्ति समुच्चयवादी योगधारा को उदासी संज्ञा दिए जाने का चलन गुरुनानक जी के समय भी था-

इसु धनकारणि शिव सनकादिक खोजत भए उदासी ।

श्रीचन्द्र जी से 226 वर्ष पूर्व प्रकट हुए संत त्रिलोचन के समय भी संन्यासी तथा उदासी भेष के संत प्रसिद्ध थे। त्रिलोचन जी कहते हैं-

अंतरूमन निरमल नहिं कीना, बाहरि भेख उदासी ।
हिरदै कमलुघटि ब्रह्म न चीन्हां, काहे भया संन्यासी ।।

भाई गुरुदास की बार में *'सनकादिक नारद उदास बाल सुभाय अतीत सुहाणे'* कथन उदासीन मत की प्राचीन परम्परा का अस्तित्व स्वीकार करता है। उदासीन शब्द के प्रयोग को लेकर अनेक ग्रन्थों के उद्धरण विद्वानों ने दिए हैं पर इतिहास सिद्ध उदासीन साधुओं की परम्परा मध्यकाल में प्रचलित थी, यह बात संतमत के अन्तः साक्ष्य से सिद्ध हो जाती है। उदासीन मत की मूल मान्यता क्या है, इसका विवरण श्री चन्द्र जी के शब्दों में सुनिए-

निरतभूतहित सोई उदासी ।
ग्यान परोख अवरि साकारा ध्यान प्रवर फल कर्म निरासी ।
ममता हेत द्वेष तजि राता अभय दया समद्रिष्टि सुपासी ।
निंदा स्तुती तुल्य अनिकेता इस्थिर मति संतोषु प्रकासी ।
मानहिं प्रभुहिं परमगति एका विगतविथा करतापनु नासी ।
सुखदुख समां विवर्जित संगा त्रासु अमर्ष उदेग न हाँसी ।
सुभ अरू असुभ करमफलु त्यागी चाहु न सोग भगति प्रत्यासी ।
श्रीचंद हरि हितु करम करीजै जउ बलहीन कटै तउ फाँसी ।।

अर्थात् जो समस्त प्राणियों के कल्याण साधन में लगा रहता है, वही उदासी है। *'सर्वभूत हिते रता:' (गीता/12/4)* ज्ञानी उसे परोक्ष रूप में देखता है तथा ध्यान द्वारा वह परम तत्त्व साकार रूप में भी दीखता है। सांख्य योगी उन्हें ज्ञान रूप में तथा भक्त उन्हें भगवान् के रूप में देखता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि श्रवण तथा शास्त्रों के पठन से परमेश्वर के स्वरूप का अनुमान कराने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। इस परोक्ष ज्ञान से सगुण स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से भी समस्त कर्मों का फल मेरे लिए त्याग करना श्रेष्ठ है। इसी से शांति मिलती है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते,
ध्यानात्कर्म फलस्त्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् । (गीता 12/12)

ममता रहित, हेतु रहित दयालु, द्वेष न रखने वाला, अभय, समदृष्टि को पालने वाला, निंदा और प्रशंसा को समान समझने वाला, घर न बनाकर घरद्वार के मोह से रहित, स्थिर बुद्धि तथा संतोष वृत्ति को धारण करने वाला ही उदासी है जो प्रभु को ही परम गति मानता है, जिसकी पीड़ाएँ नहीं रह गई हैं, जो स्वयं को कर्तापन से मुक्त कर चुका है, जो पुरुष शत्रु-मित्र में, मानापमान में सम है, आसक्ति रहित रहता है, जो त्रास, क्रोध, उद्वेग और प्रसन्नता के भाव से मुक्त है, जो शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मफलों से छूट गया है, जिसे कोई इच्छा नहीं है, न अभाव और न अभावजन्य शोक का अनुभव करता

है, जो केवल भक्ति की प्रत्याशा या चाहना करता है, वही सच्चा उदासी संत अथवा उदासी गृहस्थ है। गीता में भगवान् ने भक्त के जितने लक्षण बताए हैं वे सभी आचार्य श्री के कथन में निहित हैं। *उदासीनो गत व्यथः* कह कर ऐसे भक्त को उदासीन संज्ञा दिए जाने का संकेत भी भगवान् ने कर दिया है। दशमस्कन्ध के साठवें अध्याय में रुक्मिणी जी के सम्मुख श्री कृष्ण ने स्वयं को उदासी कह कर उदासी गृहस्थ होने का संकेत भी दे दिया है-

उदासीनां वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थ कामुकाः,
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः । (भा./10/60/20)

अर्थात्-निश्चय ही हम उदासीन हैं। हम स्त्री, सन्तान और धन के लोलुप नहीं हैं। निष्क्रिय और देह-गेह से सम्बन्ध रहित दीप शिखा के समान साक्षीमात्र हैं। हम अपने आत्मा के साक्षात्कार से ही पूर्णकाम हैं, कृतकृत्य हैं।

यहाँ निष्क्रिय का अर्थ कर्मत्याग नहीं है। श्रुति कहती है, *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'*, अर्थात्-कर्म तो करते रहना चाहिए पर सभी कर्म ब्रह्मार्पणभाव से किए जाने चाहिएँ तभी मुक्ति मिलती है। गीता में भी भगवान् ने कहा है-

सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः,
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । (गीता/18/76)

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से निष्क्रियता वादी उदासीन मुनियों के लिए 'उदासीन संज्ञा' का स्पष्ट प्रयोग महाभारत काल में उपलब्ध होता है। भगवान् ने उदासीन तथा आत्मलब्ध ब्रह्मनिष्ठ को समान माना है। उनकी दृष्टि में दोनों शब्द समानार्थक हैं। महामहोपाध्याय स्वामी केशवानन्द जी ने निराकार मीमांसादर्शनम् में इसी अभिप्राय से *'सचोदासीन आचार्य वर्यस्तथोपलब्धये'* सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है- **"यथा ब्रह्मणि नितरां तिष्ठन् ब्रह्मनिष्ठ इत्युच्यते तथा 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था'**

इति स्मृतेः। ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख इत्यादि श्रुतेश्च उद् ऊर्ध्वे ब्रह्मण्यास्ते इति उदासीन इति कृत्वा ब्रह्मनिष्ठोदासीन पदयोः समानार्थत्त्वं गम्यते इति भावः। किं चोदासीनत्वं विरक्तत्वमिति कृत्वापि उदासीनस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वं सम्भवतीत्याह न ह्युदासीनतामृते इत्यादिना। उदासीन विरक्तस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वमिति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढ़यति न हि भवतीत्यादिना। तस्माद्विरक्तस्यैवोदासीनत्वं तस्यैव च ब्रह्मनिष्ठत्वं। तदुक्तं भगवता 'जायापत्यगृहक्षेत्र स्वजन द्रविणादिषु'। उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः" इति। [1]

श्रौत मुनियों की परम्परा वैदिककाल से ही श्रमण परम्परा के मुनियों से भिन्न रही है। ऋग्वेद के केशीसूक्त में मुनि परम्परा और मुनिचर्या का निरूपण हुआ है। जटाजूट धारण करना, भस्म लेपन करना तथा प्राणायामादि की साधना करना इन मुनियों की प्रधान चर्या थी। इसके विपरीत श्रमण परम्परा के मुनि केशलुंचन तथा दिगम्बर रहनी को अनिवार्य मानते थे। दोनों मुनि मठ-मन्दिर बना कर नहीं रहते थे। *'शून्यागार निकेतः स्याद यत्र सायंगृहो मुनिः'* वनपर्व की पंक्ति की नीलकंठी टीका में सायंगृह शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति शून्यागार या निर्जन वन प्रदेश में निवास करता है, धर्मप्रचार के लिए चलता रहता है तथा सन्ध्या समय जो पहुँचे हुए स्थान पर ही ठहर जाता है, वह मुनि कहलाता है। यह विश्राम ग्राम, नगर, श्मशान, मन्दिर, देवस्थान, वृक्ष तथा सरोवर किसी भी स्थल पर हो सकता है। इन्हीं मुनियों की परम्परा में जैन-बौद्ध मुनि आते हैं। मुनिधारा की इन विशेषताओं को श्रीचन्द्र जी ने मात्रा शास्त्र में कहा है-

निराश मठ निरन्तर ध्यान।

• • •

तोड़ा चूड़ा और जंजीर,
लै पहिरै उदासी धीर।

1. *निराकारमीमांसा सूत्र भाष्य - पृष्ठ 371*

जटाजूट मुकुट सिर होइ,
मुक्ता फिरै बंध नहिं कोई ।

• • •

जटा जूट खेचरी धार मुद्रा भस्मी अंग लगावेंगे ।
कहै श्रीचंद सो उदासी जो सत्यनाम को ध्यावेंगे ।

निराशमठ से श्रीचन्द्र जी का अभिप्राय शून्यागार से तो है ही, ब्रह्मनिष्ठ होने से भी है। निराश शब्द का प्रयोग निरपेक्ष निर्गुण परमात्मा के लिए उदासी सम्प्रदाय में भी हुआ है। मध्यकाल के प्रसिद्ध सूफीसंत कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने परमेश्वर के लिए निराश शब्द का ही प्रयोग किया है-

काहे न पूजिए सोई निरासा,
मुएँ जियत मन जाकर आसा । (पदमावत 202.7)

• • •

ओहि न मोरि कछु आसा हौं मोहि आस करेउँ,
तेहि निरास प्रीतम कँह, जिउ न देउं का देउं । (पदमावत 210.7)

इतना ही नहीं उन्होंने संतों के जिन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, उनमें संन्यासी, सिद्ध, योगी रामदासी तथा निरासपंथी प्रमुख हैं। सिंहलगढ़ का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं-

कोई सरसुती, सिद्ध, कोई जोगी,
कोई निरासपँथ बैठ वियोगी ।

श्रीचन्द्र जी के निरासमठ के स्थान पर निरासपंथ का प्रयोग जायसी ने ऐतिहासिक तथ्य के रूप में किया है। श्रौतमुनि की एक विशेषता उसका '*उदासी धीर*' होना है। धीर शब्द वैदिक परम्परा का है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में *'इति शुश्रुम धीराणाम्'* में धीर शब्द उदासीन संत का द्योतक है। केनोपनिषद् के अनुसार *'धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता*

भवन्ति' - अर्थात् धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं- कथन ब्रह्मवेत्ता के लिए धीर शब्द के प्रयोग का समर्थन करता है। कठोपनिषद् में परस्पर मिले हुए श्रेय और प्रेय में से नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान श्रेय को अलग करने वाले ज्ञानी को धीर कहा गया है- *'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः'*। अन्यत्र कहा गया है कि अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा बुद्धिमान पुरुष (धीर) हर्ष-शोक को त्याग देता है-

अध्यात्म योगाधिगमेन मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति ।

श्रीचन्द्र जी ने भी अध्यात्मयोग निष्ठ धीर का लक्षण हर्ष-शोक का परित्याग करने वाला किया है। वह मात्रा में कहते हैं-

वश कर आज्ञा समदृष्टि चौगान,
हर्ष-शोक नहिं मन में आन ।

मुण्डकोपनिषद् की श्रुति में सम्पूर्ण भूतों के कारण परमेश्वर को देखने वाला धीर कहा गया है। आत्मदर्शी अर्थ में धीर शब्द का प्रयोग मुण्डक श्रुति बार-बार करती है-

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।

अथर्ववेदी शिरोव्रत के रूप में जिस अग्नि को निरन्तर धारण करते हैं, उदासीन उस अग्नि को धूने के रूप में निरन्तर साथ रखते हैं। अतः ये श्रौतमुनि ही ब्रह्मविद्या सुनने और सुनाने के अधिकारी हैं। मुण्डक की श्रुति है-

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः,
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधि वद्यैस्तु चीर्णम् ।

तात्पर्य यह कि निराकार आत्मा की भक्ति ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त होती है। गुरु धीर ही इस उद्देश्य में सफल होता है। *'हेमाद्रि व्रत खण्डधृतनय संग्रह'* में उदासी धीर का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

उदासीनाः सोपवीताः कमण्डल्वक्षसूत्रिणः,
जटिलाः श्मश्रुलाः शान्ता आसीनाध्यानतत्पराः ।

कूर्मपुराण के द्वितीय अध्याय में उदासीन का लक्षण किया गया है-

ऋणनि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम्,
एकाकी यस्तु विचरेदुदासीनः समौक्षिकः ।
निधाय वा सर्वं गत्वारण्यं तु तत्त्ववित्,
एकाकी विचरेन्नित्यं उदासीनः समाहितः ।

गुरु और शिष्य को श्रुति ने *'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तोभूत्वा- ऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्'* तथा *'ना विरतोदुश्चरितान्नाशान्तोनासमाहितः'* कह कर शान्त, दान्त, वैराग्य ज्ञान सम्पन्न, श्रद्धालु, आत्मद्रष्टा तथा चरित्रवान् होना बताया है। दुश्चरित्र को ब्रह्म विद्या नहीं मिल सकती। श्री चन्द्र भी मात्र शास्त्र में यही बात कहते हैं-

सहज वैरागी करे विराग,
माया मोहनी सकल त्याग ।
नारी सिद्ध करै न मेला,
सोई सिद्ध जान गुरु चेला ।
नारि सिस्न त्याग दोए,
प्रेम योगी सिद्ध होए ।।

श्रौत मुनियों की प्रशंसा करते हुए श्री कृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं कि निरपेक्ष, निर्वैर, शांत तथा समदृष्टि मुनियों के चरणों की धूल पवित्र करने वाली है, मैं उनके पीछे नित्य घूमता हूँ ताकि वह धूल मुझे भी प्राप्त हो जाए।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्,
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः । (भा.11/14/16)

श्रीकृष्ण के वचनानुसार श्रीचन्द्र जी निर्लेप विष्टी, समदृष्टि चौगान, निर्वैर

सन्ध्या, निहकर्म जीन कह कर उदासी साधु की विशेषता बताते हैं। कहना यह कि श्रौत मुनियों की यह परम्परा श्रुति-स्मृति अनुमोदित है।

★★★★

श्रौतमुनियों की परम्परा का उत्स ब्रह्मा से

श्रीचन्द्र जी ने अपनी दूसरी मात्रा में लिखा है-

प्रथमै ब्रह्मा धरी सुधाए,
होए अतीत बने सिद्धाए ।
ब्रह्मादिक सनकादिक जोहं,
ताके सीस मांहि यह सोहं ।
आगे योगी भोला ईश्वर,
बेग पैहर भये योगीश्वर ।
जटाजूट सिर धरै अभंगा,
पतित पावनी तिन सिह गंगा ।
जे पहरै तिस लागे रंगा,
सब सुखदाई सद्गुरु संगा ।
पहरी आदि श्री करतारं,
मुकुट नाम धर कियो उचारं ।
कलयुग पहरी नानक पूता,
पैहरत आए ऋषि अवधूता ।।

उदासीन परम्परा में प्रथम श्री ब्रह्मा फिर श्री सनकादि ऋषि, श्री योगीश्वर शिव, श्री नारायण और फिर श्री सनत्कुमार जी आए। शिव-नारायण दोनों उदासीन मत के आचार्य रहे अतः हरि-हर की एकता इस सम्प्रदाय में मान्य रही। कलियुग में श्री अविनाशी मुनि के शिष्य और गुरुनानक के पुत्र श्रीचन्द्र ने मुनि परम्परा स्वीकार की। उनसे ही उदासीन प्रणाली आगे चली। अविनाशी मुनि का उल्लेख श्रीचंद्र जी ने पहली मात्रा में किया है।

गुरु अविनाशी सूषम वेद,
निर्वाण विद्या अपार भेद ।

गुँथे हुए केशों के जूड़े को वेद में कपर्द कहा गया है। योगीश्वर शिव ऐसा जूड़ा बाँधते हैं। अत: उन्हें यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में कपर्दी तथा पगड़ी बाँधने के कारण उष्णीषिण कहा गया है। उदासीन निर्वाण कपर्दी तथा उदासीन पगड़ीधारी महन्त उष्णीषिण कहे जा सकते हैं।

श्रीचंद्र जी कपर्द को मुकुट कहते हैं-

जटा जूट मुकुट सिर होई ।

मुनि परम्परा में मोरछल या मोरपंखों के पुंज को हाथ में रखकर चलने की परम्परा श्रौतमुनि तथा श्रमण मुनि दोनों में है। श्रीचंद्र मात्रा में कहते हैं-

बहुरंगी मोरछड़ निर्लेप विष्टी ।

दूसरी मात्रा में भी उनका कथन है-

मोरछड़ मन करै अचाह,
चवर ज्ञान प्रेम झुलाह ।

दिगम्बर जैन साधु कमण्डलु तथा मोरपंखों की पिच्छी के अतिरिक्त कुछ नहीं रखते। केश उखाड़ देते हैं। तप-त्याग का कठोर जीवन व्यतीत करते हैं। आहार भी हाथ पर ही ग्रहण करते हैं। पिच्छी धारण करने की परम्परा उदासीन तथा जैन दिगम्बर साधुओं में प्राचीन केशी मुनियों से आई। श्री कृष्ण को भी मोर पंख अत्यन्त प्रिय थे।

संत कवियों में दूलनदास ने उदासीभाव को ही संत का लक्षण माना है। वह कहते हैं-

ना प्रभु मिलि है जोग जाप तें, ना पथरा के पूजे,
ना प्रभु मिलि है पउँआ पखारे, ना काया के भूंजे ।

• • •

दया धरम हिरदै में राखहु, घर में रहहु उदासी,
आनकै जिव आपन करि जानहु, तब मिलि हैं अविनासी ।

गुरुवाणी में गृहस्थ में रहते हुए भी उदासी भाव के पालन पर बल दिया गया है पर जो उदासी होकर घर तथा वन में दोनों स्थलों पर उदासी भाव से रहते हैं, वास्तव में वही उदासी है–

बिचे गृह सदा रहे उदासी जिउ कमल रहे बिचि पाणी हे ।
(मारु सोलहे, महला 4)

मन रे गृह ही माहि उदासु,
सचु संजम करणी सो करै गुरुमुखि होई परगासु । ।।रहाउ।।
(सिरी रागु, महला 3)

भगत जना कउ सरधा आपि हरि लाई ।
बिचे गृसत उदास रहाई ।। (राग गूजरी, महला 4)

सहज सुभाय भये किरपाला तिसु जन की काटी फाँस,
कहु नानक गुरु पुरिआ भेटिआ प्रवाणु गृसत उदास ।
(राग गूजरी, महला 5)

गुरुवाणी नानक शाही तथा उदासी शैलियों को श्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार जिसके मन में परमात्मा का निवास है वह चाहे गृहस्थ हो या उदासी विरक्त, श्रेष्ठ है–

नानकु नाम बसिआ जिसु अंतरि, परवाणु गिरसत उदासा जीउ ।

इस उदासीन मत का मूल स्रोत गुरुगोविन्द सिंह के अनुसार अविनाशी परमेश्वर है जो अपरिमित तेज वाला तथा अपनी ज्योति से जगत् को प्रकाशित करने वाला है जो आदि, अक्षत तथा अविनश्वर है, परमतत्त्व को प्रकाशित करने वाले परमार्थ का मार्ग भी उसी ने प्रशस्त किया है, यह मार्ग आदि काल से अखण्डरूप में उदासी नाम से चला आ रहा है–

अमित तेज जग जोति प्रकासी,
आदि अछेद अछै अविनाशी ।
परम तत्त्व परमार्थ प्रकाशी,
आदि सरूप अखण्ड उदासी ।[1]

इस महायोग के दाता महायोगी भगवान् वामदेव हैं जिन्होंने बादरायण व्यास को तथा कपिल मुनि ने योगी जैगीषव्य तथा पंच शिखाचार्य को दिया-

मामुवाच पुरादेवः सती देह भवाङ्गजः
वामदेवो महायोगी रुद्रः किलपिनाकधृक्
जैगीषव्याय कपिलस्तथा पञ्च शिखाय च ।
(कूर्मपुराण उत्तरार्ध/11/36)

भागवत में श्रीकृष्ण ने विराट् पुरुष परमात्मा के उरुस्थल से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम तथा मस्तक से संन्यास की उत्पत्ति बताई है। संन्यास इसीलिए उत्तम है-

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम,
वक्षः स्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ।[2]

यहाँ न्यास का तात्पर्य चतुर्थाश्रमी विरक्त से है चाहे वह संन्यासी हो चाहे उदासी या चाहे श्रमण। अन्यत्र भी श्रीकृष्ण संन्यास धर्म का प्रवर्तक परमेश्वर को ही मानते हैं-

धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।[3]

अथर्ववेद की श्रुति भी है-

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे
ततो राष्ट्रं बलमोजश्चजातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु । (19/41/1)

---

1. *श्री दशम गुरुग्रन्थ साहिब - पहली सैंची, पृष्ठ 315*
2. *श्रीमद्भागवत - 11/17/14*
3. *श्रीमद्भागवत - 11/16/26*

अर्थात् ऋषियों ने लोक कल्याण की भावना से सृष्टि के प्रारम्भ में ही (सनत्कुमार आदि) तप का अनुष्ठान किया तथा संन्यास दीक्षा को ग्रहण किया। उसी से राष्ट्र के अन्य तीन आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ ने बल और ओज प्राप्त किया। इसलिए उन विरक्तों के सामने देवता भी झुकते हैं।

श्री गुरुगोविंद सिंह ने दशम ग्रन्थ में संन्यासी तथा उदासी में कोई तात्विक अन्तर नहीं बताया। वह कहते हैं–

अनभव प्रकास, निसिदिन उदास ।
अतिभुत सुदास, संन्यास राव ।

दत्तात्रेय योगी की चर्चा करते हुए उनके बारे में गुरु जी कहते हैं कि वह महान् तत्त्वेत्ता, योग संन्यास के मर्मज्ञ और उदासीन थे।

महातत्तवेत्ता सु संन्यास जोगं,
अनासं उदासी सुबासं अरोगं ।
अनासा महां उरधरेता संन्यासी,
महातत्तवेता अनासं उदासी । [1]

उदासी संत की पहचान बताते हुए वह आगे कहते हैं–

राज साज सभै तजै नृप भेष कै संन्यास,
आन जोग करै लगै हवै जत्र तत्र उदास।
मंड अंग विभूति उज्जल सीस जूट जटान,
भाँत भाँतन सौ सुभै सभ राजपाट निधान । [2]

विभूति धारण करना, जटामुकुट धारण करना तथा योगाभ्यास करना उदासी संत निर्वाण की प्रमुख पहचान है, तीसरी मात्र में भी कहा गया है–

1. *श्री दशम गुरुग्रंथ साहिब – दूसरी सैंची, पृष्ठ 555*
2. *श्री दशम गुरुग्रंथ साहिब – दूसरी सैंची, पृष्ठ 558*

जटाजूट खेचरी धार मुद्रा भस्मी अंग लगावेंगे,
कहै श्रीचन्द्र सो उदासी जो सत्तनाम को ध्यावेंगे ।

भस्म गायत्री में भी बाबा जी का कथन है-

भस्म चढ़ावै सो बड़भागी,
गगन सबद अनहद लिव लागी।

भसम चढ़ावै सुर नर देवा,
अलख पुरुष की करियै सेवा ।

आसा माहि निरालस रहै,
तब श्रीचन्द्र भस्म गायत्री कहै ।।

भस्म धारण करने का विधान कालाग्नि रुद्रोपनिषद् के आधार पर है। कालाग्नि रुद्रोपनिषद् में सद्योजातादि पाँच ब्रह्म संज्ञक मंत्रों से भस्म को अभिमंत्रित करके *'मानस्तोंके तनयेमान'* मंत्र से समुद्धृत कर त्र्यायुषम् आदि तीन मंत्रों से धारण करने की बात कही गई है। श्रुति इसे शांभवव्रत कहती है। बारह ज्योतिर्लिंगों पर भस्म चढ़ाने का उल्लेख श्रीचंद्र जी ने भस्मगायत्री में किया है। उदासीन साधु धूने की विभूति को शरीर पर चढ़ाते हुए अग्नि, वायु, आकाश, जल तथा स्थल के देवता क्रमशः दुर्गा, सूर्य, विष्णु, गणेश तथा शिव का स्मरण करते हैं।

रुद्रोपनिषद् का मंत्र है-

ऊँ अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, व्योमेति भस्म,
जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, सर्वमिति भस्म ।

भस्म धारण करने से साधक की देह शुद्ध होती है, भूत शुद्धि होती है तथा प्राणशक्ति सुषुम्ना मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। यही प्राणाग्निहोत्र की प्रक्रिया है। इस भस्मन्ती का या भस्म धारण करने का स्रोत क्या है ? श्रीचन्द्र जी इसे निगमागम सम्मत मानते हैं। वह शिवपुराण तथा रुद्र कालाग्नि उपनिषद् के साक्ष्य पर कहते हैं-

सिद्धा जानी भस्मन्ती की सार,
भस्मन्ति अगम निगम से आई ।

श्रीचन्द्र जी ने मात्रा भस्म गायत्री में भस्म का रहस्य उद्घाटित किया है। वह कहते हैं-

ऊँ आदि का योगी अनादि की विभूत,
सत्य का नाता धर्म का पूत ।
ऊँ अवधू अम्बर झरै धरती पर पड़े,
तिसकी शाखा गायत्री चढ़े ।
सो गायत्री गोबर करे,
सूरज मुख सूखे अगन मुख जले ।
सो भसमन्ती श्रीचन्द्र यति को चढ़े ।।

भस्म सूखे हुए गाय के गोबर से बने कण्डों को जलाकर तथा उसमें पीपल, खैर आदि की समिधाएँ जलाकर बनाई जाती हैं। पाशुपत मत में भस्म स्नान को सर्वश्रेष्ठ स्नान बताया गया है। योगियों का विभूति धारण जागतिक पदार्थों की अनित्यता का बोध कराने के लिए है। शिव भी इसीलिए भस्म धारण करते हैं। *'भस्मान्तं शरीरम्'* श्रुति भी इस अनित्यता का बोध कराती है। ओंकार ही गायत्री है। इस प्रणवरूप गायत्री से नादरूप गोबर उत्पन्न होता है। सूर्यमुख अर्थात् सूर्यनाड़ी में यमादि रूप गोबर सूखता है तथा प्राणाग्नि (कालाग्नि) में जलकर भस्म हो जाता है। चन्द्र नाड़ी का जल इसे भिगोता है। इसी इड़ा-पिंगला में धावमान प्राण की भस्म को योगी धारण करता है। वह ऋग्वेद के शब्दों में 'सविताहर:' बन जाता है। आदि का योगी कहने का तात्पर्य आदि योगी शिव से है *'अग्निर्वै देवानां प्रथमं यजेत्'* कह कर प्राणाग्नि में हुत नाद रूप हवि से देवताओं की तृप्ति होने की बात स्वीकार की गई। श्रीचन्द्र जी ने इसे ही अनादि विभूति कहा है। मृत्यु पर जय प्राप्त करने के लिए यही विभूति धारण की जानी चाहिए। *'आदित्याद् ज्योतिर्जायते, आदित्याद् देवा जायन्ते'* तथा *'आदित्यो वा एव एतन्मण्डलं तपति'* जैसे वाक्यों को ध्यान में रख कर ही श्रीचन्द्र जी ने अम्बर झरे, धरती पर पड़े, सूरजमुख सूखे, अगन मुख जले जैसे वाक्यों का कथन किया। शिवपुराण ने सद्योजात, वामदेव,

अघोर, ईशान तथा तत्पुरुष के प्रादुर्भाव एवं रंग-वस्त्र का उल्लेख किया है। लाल, सफेद, काला तथा पीला (चार) रंगों की चर्चा वहाँ इसी प्रसंग में हुई है। मात्रा में स्याह, सफेद, जरद तथा सुरखाई रंगों की चर्चा इसीलिए श्रीचन्द्र जी ने शैव प्रभाव के कारण की। उन्होंने शैव योग परम्परा का उत्तरभारत में पुनः उद्धार किया। कालमुख, कापालिक शैव साधुओं के मध्य सुरादि सेवन का विरोध कर सात्विक तपस्यापूर्ण साधना का उन्होंने समर्थन किया। यों इन साधुओं का नैसर्गिकव्रत भस्मशयन तथा भस्म स्नान करना था पर उनकी योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य दुःख निवृत्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्ति था। शिव पार्वती की गुह्य-साधनाओं के प्रचलन के कारण तांत्रिक साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्ति तथा चमत्कार प्रदर्शन को बढ़ावा मिला। वीर शैवों ने वर्णाश्रम धर्म का खण्डन किया। जातिपाँति के भेद को निस्सार बताया तथा कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों को मिथ्या घोषित किया। श्रीचन्द्र जी ने सामाजिक-नैतिक और धार्मिक मान्यताओं की संगति बैठाते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को पवित्र जीवन जीने की प्रेरणा दी। उन्होंने उदार तथा सार्वभौम धर्म मार्ग का उपदेश किया। भारतीय धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्य के लिए पीला तथा शूद्र के लिए काला रंग प्रतीक के रूप में चुना गया है। इन सभी वर्गों में एकता तथा बन्धुत्व की स्थापना के लिए उदार एवं सार्वभौम आचार पद्धति की आवश्यकता बताते हुए श्रीचन्द्र जी ने प्रथम मात्रा में कहा-

स्याह सफेद जरद सुरखाई,
जो लै पहिरै सो गुरुभाई ।

इसी सूत्र का विस्तार करते हुए दूसरी मात्रा में कहा-

रक्तपीत सामरंग सफेद,
सिद्ध देख सिष्य कर्‌यो हेत ।
खत्री ब्राह्मण सूद्र बैसा,
भेष स्वरूप मिलै इकदेसा

रंक भूप सब एक समान,
यह बैराग उदास ज्ञान ।।

श्रीचन्द्र जी के प्रति सभी गुरुओं में आदर की भावना रही है। गुरु अमरदास जी, गुरु रामदास जी, गुरु अर्जुनदेव तथा गुरु हरगोविन्द जी ने उनके पास जाकर अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त की। सभी सिख इतिहास कारों ने मुक्तकंठ से यह बात स्वीकार की है। गुरुगोविन्द सिंह जी ने दशमग्रन्थ में श्रीदत्त तथा सुरथ आख्यान के रूप में श्रीचन्द्र जी का परोक्ष चित्रण किया है। उदासी मत को जानने वाला इस प्रकरण से सहज ही अनुमान लगा लेगा कि श्रीचन्द्र का श्लिष्ट प्रयोग कर कवि ने यहाँ श्रीचन्द्र का ही चित्रण किया है। वर्णन लीजिए-

कि सँभाल देखा, कि सुध चन्द्र पेखा।
कि पावित्र करमं, कि सनिआसधरमं।
कि रावल्ल धरमी, कि संन्यास करमी।
कि डाभार बाजै, कि सभ पाप भाजै।
कि विभूत सोहै, कि सरवत्र मोहै।
कि लंगोट बंदी, कि एकादि छंदी।
कि सर्वत्र गंता, कि पापान हंता।
कि सासद्ध जोगं, कितम त्याग रोगं।

अर्थात् वह रूद्ररूप योग में लीन थे। वह शुद्ध चन्द्रमा के समान थे अथवा 'शुद्धचन्द्र' के रूप में वह दिखाई पड़े। उनके कर्म पवित्र तथा संन्यास योगानुसार थे। वह राजधर्मी क्षत्रिय परिवार से थे। उस जटाजूट वाले ने *(कि जाटान जूटं, कि निधिआन छूटं)* सभी निधियों का त्याग किया था। वह भस्म धारण किए हुए तथा एक लंगोटी लगाए हुए थे। उन्हें सर्वत्र गमन करने की सिद्धि प्राप्त थी। वह बहुत कम बोलते थे। एकाध छंद सूत्र रूप में कह देते थे। उनके पास डमरू बज रहे थे जिसकी ध्वनि सुनकर पाप भाग रहे थे। उन्होंने शुद्ध योग साधा था, रोग और बुढ़ापा उनके पास फटकते भी नहीं थे।

अनुभव प्रकाश, निशि दिन उदास ।

वह ब्रह्मानुभूति की आभा से युक्त थे। रात दिन उदास व्रत धारण करते थे। भूख प्यास के सताने पर भी वह चित्त को चंचल नहीं होने देते थे तथा परम उदासी रूप में विचरण करते हुए मेखला आदि को धारण कर परमतत्व के प्रकाश की प्राप्ति के लिए योग साधना करते थे। वह ब्रह्मचारी, उदासीन मार्गी तथा वन में निवास करने वाले थे।

पिपासा क्षुधा आनकै जो सतावै,
रहै एक चित्तं न चित्तं चलावै ।
करै जोग न्यासं निरासं उदासी,
धरै मेखला परमतत्तं प्रकासी ।
करै न्यास एकं अनेकं प्रहारी,
महां ब्रह्मचरजं सु धरमाधिकारी ।
सुभं सास्त्र गंता कुकरमं प्रणासी,
बसै काननेसं सुपात्रं उदासी ॥

★ ★ ★ ★

उदासीनों के दाहिने कान का कुण्डल

श्रीचन्द्राचार्य जी के दाहिने कान में जन्म से ही कुण्डल विद्यमान था। कुण्डल धर्म का प्रतीक है। धर्म प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रधान होने से दो प्रकार का है। श्रीचन्द्र जी निवृत्तिप्रधान धर्म की रक्षा के लिए अवतरित हुए थे, अतः उनके पास इस अभिप्राय की सूचना के लिए एक ही कुण्डल विद्यमान था। या यों कहिए कि भोग तथा मोक्ष, श्रेय तथा प्रेय और गृहस्थ तथा संन्यास में से उन्होंने केवल मोक्ष, श्रेय तथा संन्यास का मार्ग ही चुना था। परमहंसों को मुनि मार्ग और नैष्कर्म्य आदर्श की शिक्षा देने के लिए ही मानों उन्होंने यह मार्ग अपनाया था। उन्होंने योग चर्या का आचरण किया। जब द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं तब योगी में उत्पन्न

होती है भगवान् अनन्त की तामसी कला संकर्षण। यह अहंकार रूपा होने से तामसी कही जाती है, यह भगवान की नित्यकला है। श्रीमद्भागवत पुराण के पंचम स्कंध के पच्चीसवें अध्याय में बताया गया है कि संकर्षण भगवान् नीलाम्बर धारण करते हैं उनका हाथ हल की मूठ पर रखा रहता है तथा कानों में केवल एक कुण्डल जगमगाता रहता है–

'नीलवासा एककुण्डलो हलककुदिकृत सुभग सुन्दरभुजो भगवान् माहेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो विभर्ति'।

श्रीचन्द्र जी संकर्षण स्वरूप हैं। शरीर की भस्म ही नीलाम्बर है, एक कुण्डल धारण किए हुए हैं। मात्रा कथित 'अमर पद दण्ड' ही हल की मूठ है।

साधक की अनादिकालीन वासनाओं से ग्रथित सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक अविद्यामयी हृदयग्रन्थि को तत्काल काट फेंकने के लिए ही यह मुद्रा संकेत रूप में धारण की जाती है। इसी बात को आचार्य प्रथम मात्रा में कहते हैं–

त्रैगुण चकमक अग्नि मथि पाई,
सुख दुःख धूनी देह जलाई ।

त्रैगुण चकमक से तात्पर्य यहाँ वेदत्रयी से है। गीता में भगवान् ने *'त्रैगुण्य विषयावेदाः'* अथवा *'कर्मज्ञान भक्तियोगैर्निर्वाणब्रह्म गम्यते'* कहकर जिस त्रियोग की चर्चा की है, उसे श्रीचन्द्र त्रैगुण चकमक कहते हैं। इनमें से अध्यात्मभाव की अग्नि पैदा कर सुख दुःख से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। कपिल देव जी ने माता देवहूति जी से कहा भी था– माता, यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्म योग ही मनुष्यों के आत्यन्तिक कल्याण का मार्ग है, जहाँ दुःख और सुख की पूर्णतया छुट्टी हो जाती है।

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निः श्रेयसाय मे,
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ।

बिना सुख दुःख की भावना से मुक्त हुए साधक सम अवस्था में नहीं आ

सकता। ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के समुच्चय को भी एक कुण्डल से उपमित किया जा सकता है। इसी अवस्था में आत्मा को प्रकृति से परे अद्वितीय, अखण्ड तथा उदासीन रूप में देखा जाता है।

> ज्ञान वैराग्य युक्तेन भक्ति युक्तेन चात्मना,
> परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ।

एककुण्डल इस बात का भी सूचक है कि योगियों के लिए भगवत्प्राप्ति के निमित्त सर्वात्मा श्री हरि के प्रति की हुई भक्ति के समान और कोई मंगलमय मार्ग नहीं है-

> न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि
> सदृशोदस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।
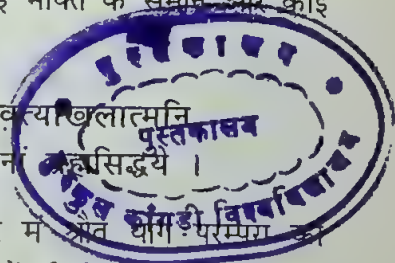
योग मार्ग के प्रवर्त्तक शिव हैं। मध्यकाल में श्रौत योग परम्परा को पुनरुद्धार आचार्य श्री चन्द्र जी ने किया। उन्हें भी शिवावतार कहा जाता है। जन्म से ही उनकी देह भस्मविभूषित थी। दाहिने कान में कुण्डल सुशोभित था, सिर पर जटा तथा भाल पर त्रिपुण्ड लगा हुआ था। उनका प्रादुर्भाव लाहौर की खड्गपुर तहसील के तलवंडी ग्राम में 1494 ई0 की भाद्रप्रद शुक्ला नवमी को श्री गुरुनानक देव जी की धर्मपत्नी माता सुलक्षणा देवी की गोद में हुआ था। बीबी लक्ष्मीकृत श्री चन्द्र महाराज की जन्म साखी में कहा गया है-

> मस्तक चंद सुभे सिर गंग सुन्दर मुकुट जटा को सुहाये,
> श्रीमन्महेश श्री गिरिजेश कैलासनिवेस विभूत रमाये।
> पार्वतीनाथ त्रिशूल सो हाथ अनाथ के नाथ सदा सुखदाये,
> विश्व के नाथ भिभूतरमात श्री चन्द सरूप धर्यो कलि आये।

बड़े होकर श्रीचन्द्र जी ने अविनाशी मुनि जी से उदासीन दीक्षा ली। वेद वेदांग निष्णात् परम तपस्वी श्री चन्द्र जी ने उदासीन परम्परा के विस्तार के लिए अलिमस्त, बाल हास, गोविंद साहब तथा फूल साहिब को दीक्षा दी। बाबा कमल नैन जी ने अपनी मात्रा में लिखा है -

भये चार शिष्य तिनै धर्मधारी,
तिन्हीं के कहो नाम चारों उचारी ।
श्री अलमस्त प्रथम सिद्ध जानों,
दूजे बालू हसने तिनें को बखानों ।
तृतीय भये गोइंद साहिब सुनाऊं,
चेला चौथा जानौ फूल साहिब नाऊं ।
यही सम्प्रदा चार गुरु के भणिजै,
कहै कमल नैनं सुसाहं सुनिजै ।।

बाबा गुरुदास जी की मात्रा में इन चारों को सनकादि का अवतार बताया गया है तथा इनके द्वारा जगत् में योग-भक्ति के प्रचार की बात कही गई है। बाबा काशीराम जी की मात्रा में भी श्रीचन्द्र जी को शिवावतार तथा अलिमस्त आदि चार शिष्यों को सनकादि का अवतार बताया गया है। काशीराम जी अलिमस्त परम्परा, बाबा गुरुदास जी अलिमस्त परम्परा, कमल नैन जी गोविंद साहब की परम्परा के मात्राकार हैं। ये सभी चार शिष्यों को सनकादि का अवतार मानते हैं। तात्पर्य यह कि सनकादि योग, ज्ञान तथा भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करने वाले आचार्य हैं अत: इनके साधना-मार्ग में इन तीनों का समन्वित होना स्वीकार किया जाना चाहिए।

★★★★

योग और भक्ति के समन्वयकर्ता आचार्य श्रीचन्द्र

भारतीय संत परम्परा में ज्ञान, योग और भक्ति के सामंजस्य पर बल दिया गया है। मध्य युग में नाथ सिद्धों ने ज्ञान-योग को, शैव भक्तिवादी आचार्यों ने ज्ञान-भक्ति को तथा स्वामी रामानन्दाचार्य ने योग-भक्ति को साधना का मुख्य आधार बताया। स्वामी राघवानन्द जी ने तपसी शाखा के साधकों के लिए योग और भक्ति के सामंजस्य पर बल दिया। रामावत सम्प्रदाय के साधकों ने इसी सिद्धान्त को अपनाया। सिख गुरुओं ने ज्ञान-भक्ति की तुलना में योग को महत्त्व नहीं दिया। योग की

रूढ़ियों, आडम्बरों, बाह्य भेष तथा सिद्धि प्रदर्शन को वह निस्सार समझते थे। गुरुनानक ने योग की निरर्थकता बताते हुए कहा-

चाड़सि पवनु सिंघासनु भीजै,
निउली करम खटु करम करीजै।
राम नाम बिनु विरथा सांसु लीजै,
अंतरि पंच अगनि किउ धीरजु धीजै।
अतरि चोरु किउ सादु लहीजै,
गुरुमुखि होइ काइआ गढ़ लीजै।
जोगु न खिंथा जोगु न डंड जोगु न भसम चड़ाईऐ,
अंजन माहि निरंजन रहीऐ जोग जुगति तउ पाईऐ ।।

आचार्य श्रीचन्द्र जी ने इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत की पद्धति को अपनाया। उन्होंने पात्र-भेद से ज्ञान, योग तथा भक्ति के कल्याणकारी साधनों का निरूपण किया। उद्धव जी को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है, जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से सर्वथा विरक्त हो गए हैं और उनका पूर्ण रूप से त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञान-योग के अधिकारी हैं।

निर्विण्णानां ज्ञान योगो न्यासिनामिह कर्मसु ।

किन्तु जो साधक न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं तथा सगुणभक्ति रस में लीन हैं उन्हें भक्ति-योग से ही सिद्धि मिल सकती है।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्ति योगस्य सिद्धिदः ।

भगवान् श्री चन्द्राचार्य जी ने मात्रा-शास्त्र में इसीलिए भक्ति और योग को जीव मात्र के कल्याण का साधन निरूपित किया। भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् ने योग और भक्ति साधनों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। चाहे योग हो, चाहे भक्ति हो और चाहे कोई अन्य साधन हो, उन सबका लक्ष्य परमेश्वर की प्राप्ति ही है, अतः उस एक निरावरण

अद्वितीय आत्मा को लक्ष्य मानकर इन साधनों का अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार उपयोग करना चाहिए। श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं- 'यम-नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग मार्गों से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करने वाली आत्म विद्या से तथा मेरी प्रतिमा की उपासना से परामात्मा का चिन्तन करते रहना ही मुक्ति का उपाय है।'

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया,
ममार्चोपासनभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ।

श्रीचन्द्र जी ने योग और भक्ति के साधनों का समन्वय करते हुए कहा-

संयम कपाली शोभा धारी,
चरण कमल में सुरति हमारी ।
इड़ा में आवे पिंगला में धावै,
सुषुमन के घर सहज सभावै ।।

यहाँ पहली चौपाई में सगुण ध्यान योग तथा दूसरी चौपाई में हठ योग की साधना का निरूपण किया गया है। सगुण विग्रह के ही चरण कमलों का ध्यान भक्ति है तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना से प्राण नियंत्रण का नाम योग है। ज्ञान संकलिनी तंत्र में ध्यान योग का नाना प्रकार से चित्रण किया गया है परन्तु योग दर्शन का कथन है कि *'यथाभिमतध्यानाद्वा'* साधक को अपनी रुचि के अनुसार ध्यान करना चाहिए। ध्यान से मन निर्विषय हो जाता है, ध्येय में लग जाने पर वह तन्मय हो जाता है और कोई अन्य पदार्थ विषय उस समय नहीं रह जाता। अतः यही ध्यान की प्रमुख स्थिति है -

ध्येये सक्तं मनोयस्य ध्येयमेवानुपश्यति,
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्तितम् ।

• • •

ध्यानेन लभते मोक्षं, मोक्षेन लभते सुखम्,
सुखेनानन्द वृद्धिस्यादानन्दो ब्रह्मणः विग्रह ।

अर्थात् ध्यान से मोक्ष मिलता है, मोक्ष से परम सुख का अनुभव होता है, सुख से आनन्द की वृद्धि होती है और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। श्रीचन्द्र कहते हैं कि संयम अर्थात् यम नियमादि से कपाली अर्थात् करुणा की वृद्धि होती है, करुणा से मुदिता या सुखानुभूति होती है, सुख से आनन्द रूपता की प्राप्ति होती है-

अमृतप्याला उदक मन दिया,
जो पीवै सो सीतल भया ।

मन की यह आनन्दरूपता ही साधक का परम लक्ष्य है, इसी में जीवात्मा और परमात्मा की एकता साधित होती है, सब प्रकार के संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं, परम शान्ति का अनुभव होता है। जैसे नमक जल में मिलाने से जल रूप हो जाता है, वैसे ही आत्म तत्त्व में मन संलग्न होने से आत्मरूप हो जाता है। जब प्राणों का प्रवाह अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया बन्द हो जाती है तब समझना चाहिए कि मन निरुद्ध हो गया। मन के निरुद्ध होने तथा प्राणों के सुषुम्ना स्थित ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाने का नाम योग में समाधि है। श्रीचन्द्र जी इस अवस्था को *'सुषुमन के घर सहज समावै'* कह कर स्पष्ट करते हैं। योग शास्त्र कहता है कि ऐसे योगी का किसी भी अस्त्र-शस्त्र से वध नहीं किया जा सकता। कोई भी देहधारी उसे अपने अधीन नहीं कर सकता, किसी भी प्रकार का मंत्र, तंत्र उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता । उसका देह भी दिव्य हो जाता है। उस पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

अवध्यसर्वशास्त्राणामशक्यः सर्व देहिनाम्,
अग्राह्यो मंत्र यंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ।

आचार्य श्रीचन्द्र जी स्वयं उच्च कोटि के सिद्ध योगी थे । सिद्ध योग मार्ग के वैदिक आधार को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए उनका अवतार हुआ था। उन्होंने शैव योग तथा कपिल योग का मार्ग अपने जीवन को आदर्श बना कर प्रस्तुत किया। सुषम्ना योग का ही दूसरा नाम शैव योग है तथा सगुण ध्यान का नाम कपिल योग है । योग का ही प्रभाव था कि श्रीचन्द्र

जी ने आकाश मार्ग से ऊर्ध्वगमन करते हुए श्री लक्ष्मीचन्द्र जी के पुत्र धर्मचन्द को अपनी भुजा का अनन्त विस्तार करते हुए धरती पर उतार लिया, यदि ऐसा न होता तो गुरुनानक के कुल की रक्षा न होती। अपने योग बल से इस शिशु के मुख में अँगूठा डालकर शिशु को दुग्ध-पान कराकर पाला पोसा । बाबर के पुत्र कामरान के द्वारा मारे गए मृग को जीवित कर दिया । ये सिद्धियाँ धारणा योग द्वारा प्राप्त होती हैं। भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है, जो संयमी है और मेरे स्वरूप की धारणा कर रहा है, उसके लिए ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो दुर्लभ हो।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुने:,
मद्धारणां धारयत: का सा सिद्धि: सुदुर्लभा ।

भगवान् के इस वाक्य को श्रीचन्द्र जी ने संयम कपाली शोभाधारी, कहकर व्यक्त किया है । यहाँ जितेन्द्रिय के लिए संयमी, दान्त के लिए कपाली तथा प्राण नियंत्रक के लिए शोभाधारी विशेषण रखे गए हैं। योग मार्ग की प्रक्रिया का मात्रा में सूत्र रूप में कथन हुआ है।

अब रही, कपिल ध्यान योग की चर्चा । कपिल जी ने देवहूति को उपदेश करते हुए कहा था कि जब शैव योग मार्ग से चित्त निर्मल तथा एकाग्र हो जाय तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि जमाकर भगवान् की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। अपनी रुचि के अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, लेटे हुए अथवा अन्तर्यामी रूप में स्थित हुए उन भगवान् के स्वरूप का विशुद्ध भाव युक्त चित्त से चिन्तन करना चाहिए। जब पूरे विग्रह का स्वरूप चित्त में बसने लगे तब एक-एक अंग के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इन सब अंगों में भगवान् के चरणकमलों का ध्यान सर्वोत्तम है । ये चरण वज्र, अंकुश, ध्वज और कमल के प्रतीकों से शोभित हैं। इनके नखचन्द्र मण्डल की ज्योति अज्ञान के घोर अंधकार को दूर कर देती है। जन-जन को पवित्र करने वाली श्री गंगा इन्हीं चरणों से उत्पन्न हुई हैं। इन्हीं का चरणोदक धारण कर शिव सनकादि धन्य हो

गए। अतः कपिल देव जी कहते हैं -

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं,
वज्रांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम ।
उत्तुंगरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ।।

श्रीचन्द्र जी ने भी कपिल देव जी के उपदेश का समर्थन करते हुए कहा-

चरणकमल में सुरति हमारी ।

यहाँ सुरति शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सुरति का अर्थ है भगवत्प्रेम की दृढ़ता। ध्यान के अभ्यास से साधक का श्री हरि में प्रेम दृढ़ हो जाता है, उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो जाता है । भक्त आनन्दातिरेक के कारण रोमांचित और पुलकित हो उठता है। प्रेमाश्रुओं से वह भीतर-बाहर भीग जाता है । जैसे तेल आदि के खत्म हो जाने पर दीपक की लौ अपने कारण तेज में विलीन हो जाती है, वैसे ही भक्त का मन भी आश्रय, विषय और राग से रहित होकर शान्त और ब्रह्माकार हो जाता है । भक्ति योग से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। इसे लय रूप निवृत्ति भी कहते हैं- श्रीचन्द्र जी ने इसे '*भाव-भोजन*' प्राप्त करना कहा है। वह मात्रा में लिखते हैं -

भाव भोजन अमृत कर पाया,
भला बुरा मन नहीं बसाया ।

श्री कपिल ने कहा था कि जिस प्रकार मदिरा के मद से मतवाले पुरुष को अपनी कमर पर लपेटे हुए वस्त्र बँधे रहने या खुलकर गिर जाने का कोई ध्यान नहीं रहता, उसी प्रकार चरमावस्था को प्राप्त हुए योगी भक्त को भी अपने उठने, गिरने, जाने-आने, खाने-पीने, मान-अपमान, सुख-दुःख, भले या बुरे का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वह तो अपने परमानन्दमय रूप में ही अवस्थित रहता है, उसमें अहंता-ममता नहीं रह जाती । उसका शरीर तो पूर्व जन्म के संस्कारों के अधीन होता है अतः

जब तक उसका आरंभक प्रारब्ध शेष है तभी तक इन्द्रियों के साथ वह जीवित रहता है । भगवत्कृपा से उसे माया नहीं सताती। श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर में इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में हुआ है–

सब सुख आनन्दधाम ।
नारायणपुर पाइयै गुण निधि निहचल धाम । ।। रहाऊ ।।
भ्रममय सगल निवारकै अविचल पदवी पाय,
आवण जाणा तँह नहीं दुविधा दूज न भाय ।
एका टेक गुपाल की भटकन हो गई दूर,
गोविन्द को यश गायकै थित भै सत्य ठरुर ।
प्रभु बिन नदरि न आवई, भव माया अंधयार,
गहिर गंभीर अथाइ प्रभु, श्री चन्द अगम अपार ।।

सिख गुरुओं ने भक्ति को परमात्मा की प्रसन्नता का प्रमुख साधन माना है। परमेश्वर की महिमा को पढ़ना, जानना, उनकी महिमा का गुणानुवाद करना, लिखना, जपना तथा वृत्तियों का निरन्तर उनमें लगाए रखना भक्ति है –

हरि पड़ु हरि लिखु हरि जपि हरि गाउ हरि भउजलि पारि उतारी,
मन वचन रिदै घिआइ, हरि होइ संतुसट इव भणु हरि नामु मुरारी ।

यहाँ ध्यान का उल्लेख तो है पर ध्यान की प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है। आचार्य श्रीचन्द्र ने गुरुवाणी प्रोक्त '*घिआई*' या ध्यान की प्रक्रिया को समझाया भी। यह ध्यान सबीज ध्यान कहलाता है । भगवान् श्रीचन्द्र जी ने संतमत में योग और भक्ति के समन्वय की उस भागवत समर्थित परम्परा का सूत्रपात किया जिसका पूर्ण परिपोषण गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में किया। रामभक्ति की तपसी शाखा के भक्त कवियों ने जिसका अनुगमन किया। जिसने सगुण-निर्गुण साधना को एकीकृत किया तथा जिसने हरि प्राप्ति पथ का सहज उद्घाटन किया । इस प्रकार श्रीचन्द्र जी ने भक्ति-ज्ञान समुच्चय ही नहीं, योग-भक्ति समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया।

श्रौत मुनियों की परम्परा में भी पिंड ब्रह्माण्ड की एकता, सुरतिशब्द योग, शरीर तीर्थ तथा कुण्डलिनी जागरण के सिद्धान्त स्वीकृत हैं। शिव संहिता में कहा गया है-

ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे,
इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तमसा जनाः,
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ता वरानने ।

शाक्तानन्द तरंगिणी का वचन है-

पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं शृण्विदानीम्प्रयत्नतः,
पातालभूधरा लोकास्तथाऽन्ये द्वीप सागराः ।

• • •

आदित्यादि ग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः,
पिण्ड मध्ये तु तान् ज्ञात्वा सर्वसिद्धीश्वरी भवेत् ।

इस शरीर में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना की त्रिवेणी प्रवाहित है। इड़ा चन्द्र नाड़ी या गंगा है, पिंगला सूर्य नाड़ी या यमुना है तथा सुषुम्ना अग्नि रूपा सरस्वती है। रुद्रयामल तंत्र में आया है-

इड़ा मूलस्थान निवासिनी या,
सूर्यात्मिका यमुना प्रवाहिका,
तथा सुषुम्ना मूलदेश गामिनी,
सरस्वती रक्षति मज्जनात्मकम् ।

योगशिखोपनिषद में आया है कि शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं। वे सभी तीर्थ रूप हैं परन्तु इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना प्रधान तीर्थ हैं। इनमें भी सुषुम्ना प्रमुख है और यही वास्तविक घर है।

इड़ा पिंगलयोर्मधये सुषुम्णा सूक्ष्मरूपिणी,
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्मिन्सर्वगं सर्वतोमुखम् ।

आचार्य श्रीचन्द्र कहते हैं–

इड़ा में आवै पिंगला में ध्यावै,
सुषमन के घर सहज सभावै ।

दूसरी मात्रा में भी इसी आशय के वचन आए हैं–

इड़ा पिंगला सुखमन नावै,
सुंन मंडल में ध्यान लगावै।

सिद्धान्तसागर का भी कथन है–

इड़ा पिंगला सुखमन बंधि, षष्ठ स्थानी मेली संधि ।
चक्र गए चक्रन कै मेल, अरविन्दन की उपजी खेलि ।
कुण्डलिनी कुण्डल परिहरै, मूलबंध मारग विस्तरै ।
फाड़ गगनि ध्वनि वारिद कीन, पारब्रह्म स्यों अनुभवलीन ।

पिंड–ब्रह्माण्ड की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन सिद्धान्तसागर में कई स्थानों पर हुआ है। एक उदाहरण लीजिए–

भीतर देह बसाए त्रैविध अधि भौतिक अधिदेवा,
अध्यात्मिक इक इकै चतुर्दश जानि लेहु हृद भेवा ।
संचन कीने अनिक खजाने इस तन भीतर भाई,
श्रीचन्द्र बिनु गोविन्द नामहिं वृथा सगल अजाई ।।

ईश्वर से मिलने की इच्छा रखने वाले साधकों को प्राण के सहारे शरीर रूपी पिण्ड में स्थित समस्त दृश्यादृश्य को देखना चाहिए। समस्त दृश्यादृश्य प्राण में स्थित है और निरंजन, अलख पुरुष, परमात्मा प्राण से भी परे है। शिव संहिता के द्वितीय पटल में कहा गया है–

ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे,
ते सर्वे प्राण संलग्नाः प्राणातीतो निरंजनः ।

प्राणायाम द्वारा प्राण पहले इड़ा में और फिर पिंगला में दौड़ता है और फिर

सुषुम्ना में स्थिर हो जाता है। श्वास को बाहर रोकना फिर ऊपर खींचना तथा स्वशक्ति के अनुसार कुंभक करके रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। पूरक प्राणायाम से प्राण का हवन होता है, रेचक से अपान का हवन होता है तथा कुंभक से प्राण-अपान मिल जाते हैं। अब मन को मूलाधार में केन्द्रित कर आत्मशक्ति रूप कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है। उसके जागरण तक ही इस क्रिया की आवश्यकता है। यों सभी नाड़ियों में प्राण का सूक्ष्म रूप से प्रवाह होता है पर प्राण का संचरण इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना में ही अनुभव किया जाता है। योगयज्ञ का प्राणायाम मुख्य साधन है।

योग इसीलिए वेशधारण करने या उपदेश करने का नाम नहीं, अपितु वह क्रिया प्रधान है। हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है-

न वेश धारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा,
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ।

यह योग क्रिया योग सिद्ध गुरु द्वारा ही सिद्ध होती है। श्रीचन्द्र जी अपने गुरु अविनाशी मुनि को इस क्रिया में सिद्ध मानते हैं। योग साधना की दीक्षा उन्हें अपने पिता से नहीं, अपितु उदासी गुरु श्री अविनाशी मुनि जी से मिली। सिद्धान्तसागर के तीन पदों में वह सपष्ट कहते हैं-

योग युक्ति सद्गुरु सिखलाई ।
ऊर्ध पवन प्रकाश भई है सहिज समाधि अगाध लगाई । ।रहाऊ।।
असुर नदी का मूल बंधाना भूचर ते खेचर बिगसाई,
ओंकार धुनि अनहद बानी श्रवननि दुंदभि घोख समाई ।
भेदत षट चक्रन की धरनी अरविन्दन ते गन्धी आई,
कुंडलि छाट भुजंगम ठाढ़ी मेरुदण्ड खिड़की खुलवाई ।
ज्योती आले भीतर-चमकत गंगा उतर अकासहु धाई,
तन मन सुधि बुधि गई हिरानी श्रीचन्द्र सुन्न ताड़ी लाई ।।

• • •

सहिज योग सतिगुरु प्रकासा ।
नेती धोती तन मन सुधि कीना उलटा कमल खोल मुख खासा। ।रहाऊ।।
तीर्थ अठसठ संगम वेणी त्रिकुटी छूटी जोति विगासा,
गंग अकासी अमल कसमल महि डुबक डुबक रव उद्भव भासा ।
तंती ताँत बजी बिनु सुंदरी मुद्रित मुद्रा अविचल रासा,
आवागमन सास बिन बोलयो षोड़श प्रणवध्वनि अवकाशा ।
पदमासन स्थित अचल सिंहासन सहज समानो खुले अकासा,
परम पदारथ पाय कृतारथ श्रीचन्द्र दृढ़ निर्मल रासा ।।

• • •

ताला दीनो सतिगुरु खोल ।
वज्र कपाट जड़े अनमोती दृढ़ साँकल कुंजी नहिं कोल । ।रहाऊ।।
भ्रम की छाति भीति संसयगण अनथिति मन्दिर अंदरि पोल,
दहदिसि अंधकार बिन जोती डर डर मरत भूत के ढ़ोल ।
ओम शब्द डारि श्रवनन महिं श्रीमुख वाक्य बखानयो बोल,
अनहद सहजध्वनी पंचम मिल राग नाद नृत कीन निरोल ।
हउमै दुविधा दूर बिनासी दीपक बाल्यौ तेल बिनौल,
नखते छूटे लह्यो प्रकाशा श्रीचन्द्र मणिरत्न अमोल ।।

इन तीनों पदों में हठयोग की क्रियाओं तथा उनके बाद मिलने वाले फल और साधक की स्थिति का चित्रण हुआ है। कुण्डलिनी जागरण के लिए दीक्षा की आवश्यकता है। दीक्षा पहुँचे हुए गुरु से ही लेनी चाहिए। कुलार्णव तंत्र में आया है–

देवि दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः,
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।

श्रीचन्द्र जी ने उक्त तीनों पदों में गुरु द्वारा योग प्राप्ति का उल्लेख इसीलिए किया है। प्रत्येक साधक को अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार अपने आश्रम के अनुरूप गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए। संन्यासी को संन्यासी गुरु,

उदासी को उदासी गुरु, वानप्रस्थी को वानप्रस्थी गुरु तथा गृहस्थी को गृहस्थ गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए। कुल चूड़ामणि तंत्र का वचन है-

उदासीनो ह्युदासीनां, वनस्थो वनवासिनाम्,
यतिनाञ्चयतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृही ।

यह दीक्षा मर्यादा केवल योग मार्ग के लिए है। मंत्र मार्ग में कोई भी किसी गुरु से दीक्षा ले सकता है। योगमार्ग कठिन है, दैवयोग से इसमें विपरीत परिणाम की आशंका भी बनी रहती है। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से व्यक्ति संकट में पड़ जाता है। अतः शिष्य का गुरु से निरन्तर सम्पर्क बने रहना चाहिए। गृहस्थियों को नेति, धौती आदि क्रियाओं से प्रायः बचना चाहिए।

निराकार मीमांसा ग्रन्थ में श्री स्वामी केशवाचार्य महाराज गुरुनानकदेव को उद्धृत कर लिखते हैं-

'सचोदासीन आचार्य वर्यः। उदासीनोगतव्यथः इति प्रभृति स्मृतिसंसिद्धो विषयविषोद्विग्न मानस एव भक्तवर्योगुरुर्भवितुमर्हति न तद्विलक्षणो विषयनिमग्नमानसो गृहस्थादिः तस्य स्वयममुक्तबन्धनस्य शिष्यबन्ध विध्वंसकत्वानुपपत्तेः तथा च पर ब्रह्मनिष्ठो विषयोदासीनो हरि भक्तो भवतिगुरुर्भक्तस्येति सिद्धम्। स चाचार्यवर्योऽपि विज्ञेयः।' [1]

अर्थात्-विषयों से उदासीन परब्रह्मभक्त ब्रह्मनिष्ठ ही गुरु होता है, विषयों में आसक्त गृहस्थ गुरु नहीं हो सकते। वह क्योंकि स्वयं अमुक्त है, फिर अन्य को मुक्त करना उसके लिए संभव नहीं। इसलिए विषयोदासीन ब्रह्मनिष्ठता गुरु की विशेषता समझनी चाहिए। गीता इसका समर्थन करती है। उदासीन सब कुछ छोड़कर वन में तप करता है तथा तत्त्व चिन्तन करता हुआ एकाकी विचरण करता है, अतः गुरु होने योग्य है। कूर्मपुराण का वचन है-

---

1. *निराकार मीमांसा - पृष्ठ 369*

निधाय वा सर्वं गत्वारण्यं तु तत्त्ववित्,
एकाकी विचरेन्नित्यं उदासीनः समाहितः ।

श्रीचन्द्र शब्दसुधा में भी लिखते हैं–

गुरु अविनासी ब्रह्मसरूपा ।
जिन मोहि महावाक्य उपदेसा पायो तत्त अनूपा ।
विरती धार अनूठी कीन्हीं सुखमनि राहु वेखाई,
बिनु बेदी बिनु श्रीफल कीन्हीं सूरज ससि सगिआई ।
जटाकेसु अँचरा कौपीना तेजरासि तनु खिनिआ,
सांभवि द्रिष्टी अजपु जपु जपिआ नाँउ वारि जिउ मिनिया ।
हंसा मंत्र मोहि जिन दीनां तुरिआ आस्रमु पावा,
श्रीचंद मनुआ मारि निरंजन महिआ सोधी काया ।।

श्रीचन्द्र जी महाराज कहते हैं कि मेरे गुरु अविनाशी मुनि ब्रह्मस्वरूप हैं। *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* श्रुति इसका समर्थन करती है। उन्होंने मुझे सर्वप्रथम *अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्माब्रह्म, सोऽहम्* तथा *तत्त्वमसि* और *प्रज्ञानं ब्रह्म* का उपदेश किया और फिर योगदीक्षा देकर वृत्ति की बहिर्मुखी धारा को उलट दिया और प्राणों का संचार सुषुम्ना मार्ग द्वारा करा दिया। यों तो विवाह के लिए यज्ञवेदी तथा श्रीफल की आवश्यकता होती है पर उन्होंने इनके बिना ही सूर्य-चन्द्र का मेल करा दिया। पिंगला और इड़ा का सम्बन्ध हो गया। मूलाधार से अनाहत चक्र तक सूर्यमण्डल और विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र चन्द्रमण्डल के अन्तर्गत आते हैं। कुण्डलिनी के आरोहण के साथ जो सूर्य अधोमुख होकर विष की वर्षा कर रहा था, ऊर्ध्वमुखी हो गया, उसने अधोमुख चन्द्र मंडल को द्रवित कर दिया, अमृत की वर्षा होने लगी।

विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः,
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः वर्षत्यधोमुखः ।[1]

1. *योगशिखोपनिषद्*

गुरु जी के सिर पर जटामुकुट है, अँचरा डाले हुए, कौपीन लगाए हुए हैं। तप के कारण कृशकाय हैं पर मुख पर अमित आभा बिखर रही है। शाभंवी मुद्रा के कारण उनकी पुतलियाँ ऊपर चढ़ी रहती हैं, उन्हें आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है। घेरण्ड संहिता का वचन है–

नेत्रांजनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्,
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।

वह अजपा जाप करते रहते हैं। नाम–जल में उनका मन मछली की तरह लीन रहता है। उन्होंने मुझे हंस मन्त्र (सोऽहम्) देकर तुरीय (चतुर्थ आश्रम) आश्रम में दीक्षित किया। उनकी कृपा से ही मैं चंचल मन को मारकर ब्रह्म को प्राप्त कर सका। काया शोधन कर योग की परिपक्वावस्था प्राप्त कर सका।

सुखमन भई सुमेरू निसेणी ।
सांपिन खोलि किवार उचकि चढ़ि रहिओ सभु निरबेणी,
बेधि जलज षट एकमेक भई इंगला पिंगला बेणी ।
नाका घाट उतरि गई मंछी अनुदिन सिंगी भैणी,
आदि पुरुष पद दिपत उज्यारा ऊगी सूरज सेणी ।
सबद अनाहद सों चितुराता का देणी का लेणी,
गुरु अविनासी सबद खुलीजै श्रीचंद की अस रहणी ।।

श्रीचंद्र जी अपनी रहनी या योग चर्चा का अनुभव बताते हुए कहते हैं कि सुषुम्ना सुमेरू रूप ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने के लिए सीढ़ी की तरह प्रतीत हुई। सर्पिणी कुण्डलिनी किवाड़ खोल कर अर्थात् मूलाधार से निकल कर तेजी के साथ ऊपर बढ़ी। सब देवगण मौन होकर यह कौतुक देखने लगे। उसने छह कमलों को एक साथ बेंध दिया। इड़ा और पिंगला मिल कर एक हो गईं। मछली कुण्डलिनी नाका घाट (सूक्ष्म बिन्दु) पारकर आज्ञाचक्र से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच गई। वहाँ शृंग का नाद होता रहता है। यह सहस्रार चक्र आदि पुरुष परमात्मा का दिव्यपद है। इस ज्योतिर्मय पद को योगी देखते हैं। श्रुति भी है–

यद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

यहाँ अखण्ड प्रकाश है, मानों असंख्य सूर्यों की लड़ी जगमगा रही हो। अनहदनाद में चित्त रंग गया है। अब लोक व्यवहार लेना-देना समाप्त हो गया है। शब्द खुल गया है। नादानुसन्धान का कार्य पूर्ण हो गया है। स्वाधिष्ठान तक कुण्डलिनी शक्ति जीवात्मिका तथा विशुद्ध चक्र में पहुँच कर शिवात्मिका हो जाती है।

छह कमलों के बेध का तात्पर्य चक्र भेदन से है। मूलाधार को गुदा चक्र कहते हैं, इसमें चार दल होते हैं। स्वाधिष्ठान को लिंग-चक्र कहते हैं, इसमें छह दल होते हैं। मणिपूर को नाभि चक्र कहते हैं, इसमें दस दल होते हैं। अनाहत को हृदय चक्र कहते हैं, इसमें बारह दल होते हैं। विशुद्ध को कंठ-चक्र कहते हैं, इसमें सोलह दल होते हैं। आज्ञा को भ्रू चक्र कहते हैं, इसमें दो दल होते हैं। सहस्रार को मूर्धा चक्र कहते हैं, इसमें हजार दल होते हैं। मूलाधार से विशुद्ध तक क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व का शोधन होता है।

श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर में मात्रा शास्त्र के सूत्र का अनेक विधा पल्लवन हुआ है। एक उदाहरण लीजिए-

लिवलागी हरि नांव सिंउ दसम मंडल माहि थांओ,
अचरज रूप सुहावना अचरज शब्द अलाओ ।

• • •

बिसम बिसम बिसमदि । ।।रहाउ।।
ताल मृदंग उपंग ध्वनि वीणा वेणू नाद ।
संख घंट बेगिणत हैं स्वर सपती स्वर एक,
तार मध्य मन्द्र ग्राम की दूजी नाहीं टेक ।
बाद विवाद न जाणिये आकल विकल सरूप,
झालर घुंघरू पांउ दै सुर मंजीरी भूप ।
छुधा पिपासा बिसरै स्वांसन गती निरोध,
जीवन मरना परिहरै श्रीचन्द्र हरि बोध ।।

योग शिखोपनिषद् में भी *'स्वर सपती स्वर एक'* की धारणा मिल जाती है-

सप्त स्वराश्च गाथाश्च सर्वेनाद समुद्भवा:,
एषा सरस्वती देवी सर्वभूत गुहाश्रया: ।

नाद के चिन, चिंचिण, घंटा, शंख, वीणा, करताल, वंशी, मृदंग, भेरी और मेघ नामक दस भेद हैं। उक्त पद में इनका संकेत हुआ है। बृहदारण्यक में भी नाद साधना का वर्णन मिलता है। मात्रा शास्त्र में *'नौबत शंख नगारा बाया'* कहकर इसका उल्लेख किया गया है। योग चूड़ामणि के अनुसार जब ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जाता है तब मेघ और शंखध्वनि सुनाई पड़ती है-

ब्रह्मरन्ध्रगते वाचौ नादश्तोत्पद्यतेऽनघ,
शंख ध्वनि निभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ।

भूख प्यास की निवृत्ति तथा अमृतपान से देह विजय का समर्थन भी योग ग्रन्थ करते हैं-

ततः प्रस्रवते सा तु संस्पुष्टा शीतलां सुधाम्,
पिवन्नेव सदा योगी सोऽमरत्वं हि गच्छति ।

शब्द सुधा में भी श्रीचन्द्र जी ने कहा है-

गुरु प्रसादि पाव यहु कोई दीसै झूठ पसारा,
श्रीचंद खाई भयो नवजोवन हंसा पकरि उतारा ।

केवल पुस्तकीय ज्ञान या हठ आग्रह से योग सिद्ध नहीं होता। योग सिद्धि के बिना रस साधना या ब्रह्मभाव की परिपक्वता संभव नहीं और बिना परिपक्वता के परमात्मदर्शन नहीं हो सकता। यह पूरी प्रक्रिया गुरुकृपा से ही संभव है। सिद्धान्तसागर में कहा गया है-

बिन गुरु नहिं हरि सिमरण पाइये,
हरि सिमरण बिन हठ भरमाइये ।

हठ करि योग न आवत हाथ,
योग बिना रस सुधा न पात ।
सुधा पिये बिन आनंद नाहिं,
बिन आनंद उर अग्नि दाहि ।
अनल बिनासै साधू संग,
मन तृप्ता सै भगती रंग ।
भगति पाय मत बुधि भरपूर,
श्रीचन्द्र साधू पद मूर ।।

इस पद में भक्ति और योग की एकता तथा योग द्वारा रसरूप ब्रह्म की प्राप्ति का संकेत मिलता है। आत्मदर्शन में योग साधन रूप है, घेरण्ड संहिता इसका समर्थन करती है।

द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम्,
मनोलयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम्,
जिह्वामूले ऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम् ।

मात्रा शास्त्र में इसे आचार्य ने इन शब्दों में व्यक्त किया है–

अमृतप्याला उदक मन दिया,
जो पीवै सो सीतल भया ।

उपनिषदों में कठोपनिषद हृदयकमल में आत्मदेव का निवास मानता है तथा योग चूड़ामणि और योग स्वरोदय भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। सिद्धान्त सागर में भी कहा गया है–

माया केरे रूप अपार ।
हृदय भीतर हरि प्रभु बैठा दहि दिसि करि अंधियार ।

• • •

मन महिं अनिक प्रकार तरंग ।
मूर्ति उर महिं पेखियत सुन्दर रूप सुरंग ।

• • •

पार ब्रह्म परमेश्वर घट घट रमि रह्या,
नाम रूप द्रष्टाय न किनहूं हरि लह्या ।

अन्त में सिद्धान्तसागर का यह पद उद्धृत कर हम कहेंगे कि श्रीचन्द्र ने ज्ञान भक्ति के साथ भक्ति-योग के समन्वय पर भी बल दिया जिसे बाद के संत कवियों ने भी मुक्त कंठ से स्वीकार किया।

नेम आधार विचारा ।
सर्पिणी कुण्डल परिहरै टपके अमृतधारा । ।।रहाऊ।।
खिड़की खोले परसीये आलैबथु पाई,
प्राण गुरु प्रकासिआ गति अगम लखाई ।
त्रिकुटी छूटै परसीयै निर्मल उजियारा,
लख बिजलीयां चमकई झिलमिली नजारा ।
अनहद ध्वनि आनन्द रस मन मगन समाना,
श्रीचन्द्र गुरुकृपा ते दर दसम खुलाना ।।

दसवें द्वार का खुलना संत कबीर और सूफी संत जायसी के यहाँ भी इसी रूप में है।

★ ★ ★ ★

उदासीन दीक्षा का स्वरूप

दीक्षा के लिए शक्ति सम्पन्न गुरु की आवश्यकता होती है। मुक्ति के लिए निजी पुरुषार्थ पर्याप्त नहीं है। गुरु साक्षात् परमतत्त्व स्वरूप होते हैं। उन्हें देख कर भी उनकी कृपा प्राप्त करने का यत्न न करना मन्द भाग्यता है।

श्री गुरुं परमंतत्त्वं तिष्ठन्तं चक्षुरग्रतः,
मन्दभाग्या न पश्यन्ति ह्यन्धाः सूर्यमिवोदितम् ।

• • •

मंत्र तंत्रार्थ चैतन्यः कुण्डलिर्गति वेदकः,
मंत्र सिद्धान्त विधिवत् गुरुर्भवति नापरः ।

यह वाक्य गौतमीय तंत्र का है। तात्पर्य यह है कि जो मंत्र-तंत्र के रहस्य को, उनके चैतन्य भाव को, जागृत कुण्डलिनी शक्ति को, उसकी अप्रतिहत गति को तथा मंत्र सिद्धि के विधान को क्रिया एवं सिद्धान्तानुसार जानते हैं, वही गुरु हो सकते हैं। श्रीचन्द्र मात्रा में कहते हैं-

गुरु अविनाशी खेल रचाया,
अगम-निगम का पंथ बताया ।

यहाँ अगम से तात्पर्य आगम या तंत्र ग्रन्थों से है तथा निगम से तात्पर्य वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों से है। योगविद्या या निर्वाण विद्या के अनेक भेद हैं। आगम भी शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक प्रकार के हैं। स्वसंवेद्य ज्ञान की दृष्टि से भी योगी अनेक विध हो सकते हैं। मात्रा में कहा गया है-

निर्वाण विद्या अपार भेद ।

सिद्धान्तसागर में गुरु के सम्बन्ध में बताया गया है-

आदि सतगुरु पाद मनाय ।
अविनाशी गुरु पुरुष विधाता सदा रहहुँ ताकी शरणाय । ।रहाऊ।।
वेद पुरान सिमरति सब शास्त्र गुरुकृपा ते लहिए,
नारायण गोविन्द स्वामी राम हरी तिंह कहिए ।
आदि जुगादि अनादि सदा प्रभु सद्गुरु दियो दिखाई,
अगम अगोचर अकल कलाधर घट घट रहिया समाई ।
जगदाधार आनन्द सरूपा छिन महिं थाप उथापै,
सुत बनिता जिंह तात न माता सद्गुरु ते उर जापै ।
श्रीचन्द्र गुरु परम पुनीता नित नूतन हरि देवा,
होत दयाल जाहि नर ऊपर ताहि जनावत भेवा ।।

• • •

अविनाशी गुरु पूरा ।
आगम निगम सुझावत गुरु मुख पार ब्रह्म भरपूरा । ।रहाऊ।।

घट घट मांहि राम रमिरहिया आदि न अंत गुसाई,
अन्तरयामी सभु कछु पेरवे जहं जहं जंतु कमाई ।
सगल घरा महिं एको जोती करत अंधेरा नासा,
रामगुप्त घट घट महि रहता सद्गुरु ते परकासा ।
गुह्यकला ससिधर की प्रगटत चरण कमल परितापै,
नीच ऊंच महि तेज समायो गुरु दिखलावै आपै ।
तीन ताप अरू पंच कलेसा पंच विकार नसावै,
पाद कंज श्रीचन्द्र गुरु के पुर बैकुंठ पहुँचावै ॥

मंत्र योग संहिता तथा तत्त्वसागर आदि ग्रन्थों में यहाँ तक कह दिया है कि शास्त्रानुसार प्रायः दीक्षा के पूर्व तीर्थ यात्रा, स्नान, जप, पूजा, हवन आदि बहुत सी बाह्य क्रियाएँ करते हैं पर इन सबको दीक्षा का मुख्य कारण नहीं माना जा सकता। सद्गुरु की कृपा तथा शिष्य के प्रति इच्छा भाव ही दीक्षा का कारण कहा जाता है–

न तीर्थं न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया,
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छा प्राप्ते तु सद्गुरौ ।

अपात्र को दी गई दीक्षा व्यर्थ हो जाती है। मोह और लोभ से प्रायः ऐसी दीक्षा दे दी जाती है। यह चेष्टा गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए हितकर नहीं है। योगिनीतंत्र का वचन भी है–

अपात्रेभ्यः प्रदत्ता च दीक्षा साऽपि महेश्वरि,
मनोव्यापार मात्रेण निर्वीर्या भवति ध्रुवम् ।

• • •

मोहेन वाऽथलोभेन दीक्षामनधिकारिणे,
यो दद्यात्स दरिद्रः स्यात् शिष्यः स्याद्दुःखभाजनम् ।

देवार्चन आदि के लिए मंत्रदान बाह्य दीक्षा कहलाता है तथा अन्तर्याग और शक्ति जागरण के लिए मंत्रदान आन्तरिक दीक्षा कहा जाता है। यज्ञादि कार्यों के लिए दीक्षा साधारा कही जाती है तथा तत्त्वचिन्तन के

लिए दीक्षा निराधारा कही जाती है। गुरु देखकर, छूकर, मंत्रोच्चारण कर तथा संभाषण द्वारा दीक्षा प्रदान करते हैं। मानसिक इच्छा द्वारा भी शक्तिपात करते हैं। शिष्य को इस अवस्था में कुछ भी करणीय नहीं रह जाता। वायवीय संहिता का वचन है–

> गुरोरालोकनादेव स्पर्शात् संभाषणादपि,
> यस्य संजायते ह्याज्ञा तस्य नास्ति पराक्रिया ।

• • •

> मनसा यस्तु संस्कारः क्रियते योगवर्त्मना,
> स नेह कथ्यते गुह्यो गुरुवक्त्रैक गोचरः ।

इस प्रकार दृष्टि द्वारा, स्पर्श द्वारा, संभाषण द्वारा तथा मानसिक चिन्तन द्वारा दीक्षा दी जाती है। निर्वाण श्री प्रियतमदेव जी उदासीन ने दीक्षा विधि इस प्रकार बताई है। 'गुरु का धर्म बनता है कि अधिकारी पात्र को ही शिष्य बनाए। वेश उसको देवे। कान में तारकमंत्र का उपदेश करे और वेश लेने पर कौन वस्तु त्याग करने योग्य है, कौन ग्रहण करने योग्य है तथा और भी जो उदासीन सम्प्रदाय की मर्यादा है, वह उस शिष्य को भली प्रकार समझाये। आदि मंत्र–गुरु मंत्र बतावे, चेला और शिष्य में अन्तर बतावे। यदि उसे त्याग मार्ग अनुकूल पड़ता हो तो चेला बनावे। यदि वह उस प्रकार के त्याग नहीं कर सकता तो उसे शिष्य बना ले। उसे चरणामृत–दाएँ चरण का अंगूठा धोकर पिला दे। कान में मंत्र सुना दे। ऊँ सत्यनाम आदि जो मंत्र हैं वह देवे और सगुण साकार की या निर्गुण निराकार की उपासना कैसे करनी है, ये सब उपदेश उस शिष्य को देना चाहिए।'[1]

सद्गृहस्थ जो कि चरणामृत लेकर शिष्य बन गया हो उसे चाहिए कि अपने घर में धर्मग्रन्थ वेद, भागवत, रामायण, गीता आदि की स्थापना करे। प्रातः काल उठकर शौच स्नान आदि क्रियाओं से निवृत्त हो जाए फिर धर्मग्रन्थ का प्रकाशन करे। धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य–पंचोपचार से पूजा करे, आरती उतारे। फिर पाठ करे। सन्ध्या के समय धर्मग्रन्थ का

1. *उदासीन सम्प्रदाय का संविधान – पृष्ठ 56*

पाठ करे और आरती उतारे। मध्याह्नोत्तर भोग लगाए। सन्तों की सेवा भोजन-वस्त्र आदि से करे। संतों के मुख से कथा सुने। राम नाम का कीर्तन करे। नित्य प्रति सत्संग करे। इस रीति से उपासना करने से ही मनुष्य को आत्मज्ञान हो पाता है और आत्मज्ञान होने से ही वह मुक्त हो जाता है। यह रीति गृहस्थ को शिष्य बनाने की है और यही उसके लिए उपयुक्त उपासना है।

जिसको चेला करना हो और वेश अपना देंना हो, उसको सत् का उपदेश किस प्रकार देना चाहिए, इसे भी तुम सुनो। सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, सदा मुक्त शुद्ध ब्रह्म, स्वयं प्रकाश, अज-अविनाशी, कूटस्थ, विभु, परिपूर्ण परमेश्वर ऐसा जिसके विषय में श्रुतियाँ, स्मृतियाँ व्याख्यान करती हैं- वही यह सत् है। उस सत् के जो नाम हैं उनका ध्यान करना-संकल्प-- विकल्प से विरहित होकर और नित्यप्रति संतों की संगति करनी चाहिए। '*सोऽहम्*' वह परम सत् मैं हूँ इस अजपाजाप को जपते रहना चाहिए। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों को सुनना चाहिए। सगुण हो चाहे निर्गुण तत्त्व तो एक ही है। निर्गुण ही सगुण हो जाता है। निराकार साकार बन जाता है।

और जो विधि विधान से चेला बन चुका है, जिसने उदासीन वेश भी ले लिया है, उसे इन वस्तुओं को सर्वथा त्याग देना चाहिए। 1. मदिरा, 2. मांस, 3. चोरी, 4. जूआ, 5. स्त्री संसर्ग तथा किसी भी प्रकार का कामाचार, 6. परनिन्दा, 7. झूठ बोलना, 8. काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, 9. आवश्यकता से अधिक बोलना, 10. चुगली, 11. दंभ, पाखण्ड । साधु बनने के उपरान्त इन सबका त्याग कर देना चाहिए।[1]

अब चेला कैसे बनाना है, इसका विवरण सुनो। पहली बात उस व्यक्ति का मुंडन संस्कार करे। यानी दाढ़ी मूँछ मुँडा दे। एक शिखामात्र रख ले। फिर स्नान करावे। तत्पश्चात् जिस स्थान में धर्मग्रन्थ रखे हों, इष्ट देवता हों, वहाँ गुरुदेव आसन बिछा लें। पूर्व दिशा की ओर मुख करें और उस व्यक्ति को साथ में बिठावें। कड़ाह प्रसाद, हलुवे का प्रसाद बनवाकर इष्ट

---

1. उदासीन सम्प्रदाय का संविधान - पृष्ठ 59 से 61 तक

देवता के सामने रखावें। तीन तीन गज के दो लंगोट, दो चादरें, दो टोपियां, एक सेली, दो अँचरे (दुपट्टे) मंजीठ (गुलाबी) रंग में रग कर अपने पास रखले। लंगोट गेरु से रंगना चाहिए। जल से पूर्ण कर एक लोटा तथा एक कटोरा पास में रखे। फिर कटोरे में जल डालकर गुरुदेव अपने दाहिने चरण के अंगूठे को धोवें। पाँच बार सत्तनाम का मंत्र पढ़ें, तत्पश्चात् पाँच सन्तों के दाहिने चरण के अँगूठे को धोवें। साथ ही सत्तनाम का मंत्र पढ़ते जाएँ फिर सद्गुरुदेव अपने हाथ से मिष्ठान्न उसके मुख में डालें। फिर मंत्र पढ़ते हुए श्री गुरुदेव जी कटोरे में जो स्वयं का तथा पाँच सन्तों के चरणों के अँगूठे को धोकर पंच चरणामृत बनाया गया है, उसकी पाँच घूट्टी पाँच बार पिला दें। साथ ही मंत्र पढ़कर शिष्य के नेत्रों पर उस जल के छींटे दें। शेष बचा हुआ चरणामृत भी शिष्य को पिला दें। फिर उस व्यक्ति की जो शिखा है, उसको गुरुदेव कैंची से काट लें। शिष्य को लंगोट पहना दें। सिर पर टोपी रख दें। सेली (काले रंग का मंत्र से पवित्र किया गया धागा) गले में डाल दें। चादर उसके ऊपर ओढ़ा दें। कफनी (कफन जितना वस्त्र लेकर सिर डालने के लिए बीचोबीच से उसे फाड़ दिया जाता है, उसी को कफनी बोलते हैं। इसका तात्पर्य तू घरवालों की ओर से मर चुका है। यह कफनी तीव्र वैराग्य का प्रतीक है।) शिष्य के गले में पहना दें। अँचला-दुपट्टा कमर में कस दे। फिर वेद, रामायण, भागवत की आवाज लेकर नाम रखें। वेद भगवान् या रामायण आदि के पृष्ठों को प्रकाशित करे। पृष्ठ के शुरू में जो वाक्य दिखाई दे, उसके आदि तथा अन्त के अक्षर लेकर शिष्य का नामकरण करे, फिर सभी संतों को शिष्य से प्रणाम कराए और जो हलुआ बनाकर रखा था, उसका प्रसाद सबको बाँट दें। प्रसाद बाँटने के बाद गुरुदेव अपने हाथ से प्रसाद उस शिष्य को खिलावे और तत्पश्चात् यह मंत्र- सोऽहम् मैं वही ब्रह्म हूँ, कान में फूँक दें। श्रेष्ठ आचरण की शिक्षा देवें।[1]

चोटी काटने का परम्परागत मंत्र इस प्रकार है-

ऊँ कुजादर आदमी कुजादर मुकाम ।

1. *उदासीन सम्प्रदाय का संविधान - पृष्ठ 64 से 65 तक*

कुजादर बन्दगी कुजादर सलाम ।
मादर दर आदमी खाक दर मुकाम ।
साहिब दर बंदगी फकर दर सलाम ।।

कौन उस्तरा कौन पानी, मूंड मुंडाया किसकी बानी ।
अलख उस्तरा निरंजन पानी, मूंड मुंडाया सतगुरु की बानी ।।
किसने मूंडा किसने मुंडाया, किसका भेजा नगरी आया ।
किसने हाल दलक दिलवाया, शब्द ने मूंडा सिदक ने मुंडाया ।
गुरु का भेजा नगरी आया, तब सद्गुरु ने दलक दिलवाया ।।
चोटी काटी कवन साक्षी, ब्रह्मा विष्णु महादेव साक्षी ।
साक्षी धरती धवल आकास, साक्षी चन्द्र सूरज प्रकाश ।
साचा शब्द साची टकसाल, चोटी काटी शीश के ढाई बाल ।।
चोटी काटी प्रेम सों, लोक भये विश्वास,
नानक पूता श्रीचंद बोलो सत्य नाम का किया प्रकाश ।[1]

इस प्रकार परिपूर्ण गुरु से निरंजन नाम लेकर अधोमुखी कमल (सहस्त्रार) का योगाभ्यास द्वारा विकास करना ही साधक का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। सिद्धान्तसागर में आचार्य श्री कहते भी हैं-

गुरु तें लहहिं निरंजन नाम, दीन दयाल कृपाल अकाम ।
गुण गोविन्द मनहिं प्रगास, ऊंधो कमल सुख सहिज विकास ।

• • •

राम राम रमते हरि वाणी ।
तुरीयावस्था चिदानन्द पद लीन भए अमृत रस वाणी । ।।रहाऊ।।
नारायण गुप्ता प्रगटाया, सुख निधान उर अन्तर पाया,
सुर नर असुर खेड़ पिखि नैनी, अलख अपार समाज ससैनी ।
चन्दन वास वनस्पति मौली, हरि हरि कीरति प्रगटी सौली,
शशि कल पूर्ण अमिअ चुआया, जनम मरण को भरम मिटाया ।
हरी हरी लहराई खेती, गुप्तोधन घर जान्यो भेती,
भव सागर बोहिथ को पायो, श्रीचन्द्र गुरु अलख लखायो ।।

1. *निर्वाण प्रियतम चरित – पृष्ठ 48*

उदासीन संतों में निर्वाण संत की रहनी परम आदर्श है। आचार्य जी ने अपनी दूसरी मात्रा में कहा है-

दृढ़ आसन नित बसै एकंता,
सद्गुरु सत्य बतायो मंता ।
धूनी भगत योग वैरागं,
अमर सिद्ध जो अहनिसि जागं ।
फरुआ कर मत थाके कीजै,
बिना याचना भिक्षा लीजै ।
सत विचार गोदड़ी भई,
गुरुकृपाय होई शिष्य को दई ।।

'निर्वाण वरण निराकार ने धारण कर तप किया। सिर पर जटाओं का मुकुट, अंगों में विभूति, कमर में जंजीर लंगोट लाँग समेत, उसके नीचे बाघम्बर, पैरों में खूंटीदार चाकड़ी। इस वर्ण के धारण के लिए परमात्मा ने तप का पुंज ही गुरु रूप में प्रकट किया।'[1] निर्वाण संत को तन पर विभूति धारण कर सिर की जटाओं को मुकुट रूप में धारण कर, केशों में सूत के चँवर लगा कर, दृढ़ आसन जमाकर धूने पर रात-दिन जागते हुए गुरुद्वारा उपदिष्ट मंत्र का जाप करना चाहिए। सेली, बिना सिला वस्त्र, तोड़ा, चूड़ा, जंजीर, मेखला, धारण कर वह निर्वाण साक्षात् शिवरूप हो जाता है। सोऽहं, ओंकार जप तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना में संचरण करते प्राणों पर सावधानी के साथ दृष्टि जमाए रखना ही उसकी मुख्य क्रियाएँ हैं। श्रीचन्द्र जी की वाणी का पाठ करते रहने से उसे सिद्धि प्राप्त होती है। आखिर उसका लक्ष्य तो द्वैत बुद्धि को नष्ट करना है-

द्वैतभेद उड़ाइए, एहो सिद्ध धूनी लाइए ।
तपै तेज पावक जगे जोत जोतम, तबै इह धूंआ अचल सिद्ध होतम।[2]

1. *उदासीन सम्प्रदाय का संविधान - पृष्ठ 69*
2. *निर्वाण प्रियतम चरित - पृष्ठ 40*

द्वितीय अध्याय

मात्रा शास्त्र की परम्परा

मात्राशास्त्र श्रीचन्द्र जी की समाधि के क्षणों में व्यक्त हुई वाणी है। यह पूर्णतया आध्यात्मिक या रूहानी रचना है। अवतारी पुरुषों की वाणी स्वतः प्रमाण होती है, उसे स्वसंवेद्य ज्ञान की कोटि में रखा जाता है। इसीलिए मात्रा की फलश्रुति इन शब्दों में व्यक्त की गई है-

ऐसी मात्रा लै पहिरै कोई,
आवागमन मिटावै सोई ।

• • •

मात्रा विध निश्चय कीनी,
तिस उदासी मोक्ष पदवी लीनी ।
पढ़े सुने अर और सुनावे,
मोक्ष मुक्त की पदवी पावै ॥

मात्रा 39 दुपदों अर्थात् 78 पंक्तियों की रचना है पर इसमें उदासी संत की रहनी, सिद्धान्त और साधना का निरूपण है। मात्रा शब्द का प्रयोग वेद में हुआ है। *'यज्ञस्य मात्रा विमितीत उत्वः'* श्रुति में मात्राशब्द यज्ञों के विविध प्रकारों से सम्बन्धित समझा गया है। क्योंकि इसमें अन्तर्याग का वर्णन है, अतः इस रचना को मात्रा नाम से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद की एक श्रुति में आया है-

ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमंसरः,
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यतें ।

अर्थात् ब्रह्म प्रत्यक्ष सूर्य के समान ज्योतिरूप है, द्यौः अर्थात् मस्तिष्क समुद्र के समान जल या ज्ञान पूर्ण है। इन्द्र अर्थात् आत्मा पृथ्वी से भी वृद्ध या बड़ा है। गो अर्थात् आत्मशक्ति का परिमाण नहीं हो सकता। आत्मारूपी आदित्य की शक्तियों को नहीं गिना जा सकता। इस प्रकार मात्रा का अर्थ हुआ ज्ञान की अनन्तता। ब्रह्म का अर्थ वेद या ज्ञान है। परमात्मा सत्य, ज्ञान स्वरूप तथा अनन्त है। *'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* ऐसी श्रुति भी है। अतः मात्रा का प्रतीकात्मक अर्थ हुआ ब्रह्मज्ञान। श्रीचन्द्र जी ने मात्रा का इसी संदर्भ में प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य में मात्रा शब्द का अर्थ महिमा भी है। ताण्ड्य ब्राह्मण में *'परोमात्रया, आदित्यस्यैवेनं मात्रांगमयति महिमानम्'* आया ही है। तैत्तिरीय संहिता में *यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उत्वः 'यज्ञशरीरम्'* ऐसा उल्लेख है। अतः मात्रा का अर्थ हुआ यज्ञशरीर। इस मात्रा में ब्रह्मरूप अलखपुरुष के शरीर का सांगोपांग रूपक प्रस्तुत किया गया है, अतः यज्ञरूप परमेश्वर का वर्णन करने वाले शास्त्र को भी मात्रा कहते हैं।

मात्रा का अर्थ माया के बन्धन से बचाने वाला शास्त्र भी होता है। *'मा-माया, तस्यास्त्रायते सा मात्रा'*। इस व्युत्पत्ति से मात्रा वह आचरण है जिसे जीवन में उतार लेने पर माया के प्रकोप से बचा जा सकता है। *'मीयते अनुमीयते अनया'* के आधार पर परम तत्त्व का बोध कराने वाली रचना को भी मात्रा कहते हैं। मात्रा का अन्य अर्थ कर्णाभूषण भी है। जैसे कानों की बाहरी शोभा कुण्डल धारण करने से होती है, उसी प्रकार साधक की शोभा मात्रा धारण करने से होती है।

मात्रा का एक अर्थ साधक की मानसिक भूमि का त्राण करने वाला शास्त्र भी है। मा का अर्थ है अन्दर घटित होना। इसका शाब्दिक अर्थ है आभ्यन्तर रहस्य। बाह्याडम्बर रहित जीवन यापन करने वाला विरक्त ही जीवन्मुक्त हो सकता है। जो वेश के आभ्यन्तर रहस्य को नहीं जानता

वह भ्रम में है। इसीलिए आचार्य कहते हैं- *'जुगत पिछाणे तत्त्व विरोले'*। मात्रा का अर्थ महिमागान या गीति भी है- *'गीयते अग्निर्यया गीत्या सागीतिः यज्ञायज्ञियस्य गानम्'*। तैत्तिरीय संहिता इसका समर्थन करती है। श्रीचन्द्र जी ने मात्रा कही नहीं थी, गाई थी-

जब सिद्धा चर्चा कीनी भाई,
सर्व सिद्धन को कथा सुनाई ।
लागे सिद्ध सभी चरणाई,
तब श्रीचन्द्र यह मात्रा गाई ।।

कीर्तन तथा स्मरण परमेश्वर की महिमा गाने के दो वेदोक्त मार्ग हैं। ऋग्वेद की श्रुति *'बृहदिन्द्राय गायत'* यदि महिमागान का समर्थन करती है तो यजुर्वेद की श्रुति *'ऊँ क्रतो स्मर'* नाम-स्मरण का निर्देश करती है। मात्रा में गायन तथा स्मरण दोनों मार्गों का समावेश है।

मात्रा ब्रह्मकवच है, जिसे धारण करने वाले को माया और भौतिक विघ्न नहीं घेर पाते। वेद रूपी कवच से निर्भयता की प्राप्ति की बात अथर्ववेद में भी कही गई है-

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्चद्विषन् शपाति नः,
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्मवर्म ममान्तरम् । (1/19/4)

अर्थात् जो मेरा समान क्षेत्री प्रतियोगी है या जो असमान श्रेणी प्रतिद्वन्द्वी है और जो मेरे प्रति द्वेष रखता हुआ मुझे शाप देता है या कष्ट पहुँचाता है, जो मेरी उन्नत जीवन साधना में रुकावटें डालता है, मेरा अनिष्ट चिन्तन करता है, समस्त देवगण उसकी ताड़ना करें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मद मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। मेरा भीतरी कवच मेरा रक्षा-साधन तो ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मकवच धारण करने वाले का कभी अनिष्ट नहीं होता। मन को पापवृत्तियों से बचाने का काम *'ममान्तर ब्रह्मवर्म'* ही करता है। *'ममान्तर ब्रह्मवर्म'* को ही *'मात्रा'* कहकर आचार्य श्री ने मात्रा को वेदमूलक माना है। मुण्डकोपनिषद् का मंत्र है-

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्मपश्चाद् ब्रह्मदक्षिणश्चोत्तरेण,
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।

साधक को ब्रह्म पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण चारों ओर से ढके हुए है। वह ब्रह्म भाव की चादर में लिपट कर ब्रह्म ही हो गया है, ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। सिद्धान्तसागर में श्रीचन्द्र कहते भी हैं-

सहजा जीवन पाई ।
जहं जहं पेखउ पार ब्रह्म अन दृष्टि न आई । ।रहाऊ।।
लै आयो लै जाय क्या, कंह को अब जाई ,
पारब्रह्म पूरणधनी सब लोक समाई ।
बन, तृण, पर्वत, नदी, नद जीअ जन्तु लखाई,
एकोएक बरतदा नहिं आवै जाई ।
गुरु अविनाशी पाया, दिव्य दृष्टि दिखाई,
श्रीचन्द्र सब सुख निधां हरि संग मिलाई ।।

मात्रा में ब्रह्मकवच के साथ वेदोक्त '*ब्रह्मपुर*' की धारणा भी संनिहित है। ब्रह्म को क्योंकि गुरुनानक ने '*निर्भव*' भी कहा है, अतः मात्रा में '*निर्भवघर*' का प्रयोग ब्रह्मपुर के संदर्भ में ही किया गया है-

विषम गढ़ तोड़ निर्भव घर आया ।

अथर्ववेद (11/8/9) में ब्रह्मपुर तथा मानवपुर की चर्चा है। विषमगढ़ मानवपुर है, जहाँ संसिच नामक देवता मनुष्य देह में केश, अस्थि, स्नायु, मांस, मज्जा अंग व पर्व आदि को उत्पन्न करते हैं। त्वचा तथां त्वचा में रंग पैदा करते हैं। इन्हें संसिच इसलिए कहा गया है कि ये शरीर में इन तत्त्वों का पोषण करते हैं-

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्संभरन्,
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ।

जब मानवपुर तैयार हो जाता है तब विभिन्न देवशक्तियाँ मनुष्य देह को

अपना देह समझकर प्रविष्ट हो जाती हैं-

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ।

यह मानव देह विषम गढ़ के समान है, इसमें मित्र देवता तथा शत्रु देवता रहते हैं, जैसे श्रद्धा, विद्या, मोद, प्राणरूप वायु, सूर्यरूप चक्षु, चन्द्ररूप मन, दिशारूप श्रोतृ तथा अग्नि रूप तेल यदि मित्र देवता हैं तो स्वप्न, निर्ऋति, जरा, क्षुधा, तृष्णा, हन्ता आदि शत्रु देवता हैं। साधक योगाभ्यास से जब मानवपुर के विषमगढ़ को तोड़ लेता है तो इसी से ब्रह्मपुर या '*निर्भव घर*' में प्रवेश करता है। ब्रह्म मित्र-अमित्र देवगणों का स्वामी है। ब्रह्म के साथ आपस्तत्त्व, सूर्यरूप में चक्षु, वायु रूप में प्राण तथा सुषुम्ना स्थित शक्ति के रूप में अग्नि प्रवेश करते हैं।

या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह,
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ।
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे,
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥

जैसे गोशाला में गायों के बीच गोपाल बैठा रहता है, वैसे ही इन देवताओं के बीच आत्मपुरुष रूपी गोपाल बैठा हुआ है। यदि जीवात्मा इस शरीर में रहता हुआ स्वयं को मानवपुर वासी न मानकर ब्रह्मपुर वासी बना ले, वह मित्र-अमित्र देवताओं से उदासीन हो जाए तो वह '*निर्भव घर*' वासी हो जाएगा। जगत् के विषमगढ़ होने का रूपक सिद्धान्तसागर में भी आया है-

गढ़ मन विषम रचाय कर दुहरी खाई,
तीनहुं परै बँधाय कै निज सैन टिकाई ।
चारे बहीयां घेरीयां को आय न जाई,
द्वारे काम खिलारिया त्रियतोप दिवाई ।
क्रोध संग साथी लिए बड़ी धूनी मचाई,
मोह पसारा पसरिआ सुत साक सहाई ।

गोला लोभ चलाया हरि धुंद लखाई,
श्रीचन्द्र हरि नाम सों संतन जितपाई ।।

ब्रह्मकवच मनुष्य को सुन्दर बनाने के लिए है। दैवीगुण ही उसे सुन्दर बनाते हैं। देवताओं ने भी कहा था- यह शरीर सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है। इसीलिए परमेश्वर की आज्ञा से उन देवताओं ने उस सुन्दर शरीर में प्रवेश किया। ऐतरेयोपनिषद् में आया है-

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषावाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ।

श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर में भी आया है-

श्रीचन्द्र अन्तर सगला ब्रह्मण्ड, सातपाताल आकाश नवखण्ड ।
सात द्वीप अरू चौदह लोक, तीन भवन सब देवन ओक ।

पार ब्रह्म का मनमहिं वास ।
राम सिमर तें होवहि भास । ।।रहाऊ।।
पुरियाँ नदियाँ पावन धाम, सागर मेदिनी पर्वत ठाम ।
चिरंजीवी ऋषि सूरज चंद, उडुगन अनिक तार तम मन्द ।
रिद्धि सिद्धि नव निधी सुहाई, लख चौरासीह योनि सबाई ।
इन्द्र कुबेर यक्ष राक्षस, किन्नर गंधर्व भोगन भक्षस ।
ब्रह्म विष्णु शिव सनत्कुमार, अज पृथु दशरथ अंशावतार ।
गोपी कृष्ण राम सिय राजे, श्रीचन्द्र के मनहिं बिराजे ।।

अग्नि देवता ही मनुष्य के स्थूल शरीर को सँभाल कर बैठा हुआ है। उसी के निर्देशन में समूचा ब्रह्माण्ड इस पिण्ड में समा गया है। जब परमदेव ब्रह्म इसके अन्दर राजारूप में विराजमान हैं तो उसकी सम्पूर्ण विभूति, उसका सम्पूर्ण रचनासंसार क्यों न उसमें समाया हुआ होगा? इस प्रकार सब कुछ मनुष्य के अन्दर है और जब भी कभी मनुष्य पाना चाहेगा तो उसे अपने आप से, अन्दर से ही मिलेगा। बाहर तो अन्दर की चंचल छाया है, बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। बाहर तो दर्पण की तरह है, उसमें अन्दर की झांकी ही झलक रही है। यह झाँकी जब पकड़ में आ

जाती है तब जीव बोल उठता है-यह ब्रह्म है, इदं ब्रह्म। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं- अथर्व वेद की श्रुति है-

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते,
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ।

अर्थात् इसी कारण से ज्ञानी जन इस देहस्थ पुरुष को यह ब्रह्म है, ऐसा करके मानते हैं क्योंकि इस पुरुष देह में सबके सब देवता उसी प्रकार आश्रय लेकर बैठे हुए हैं, जिस प्रकार गोशाला में गौएँ बैठी रहती हैं। अग्नि तत्व को समझे बिना पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता का सूत्र पकड़ में नहीं आता। इसीलिए मात्रा में कहा गया-

त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई,
सुख दुःख धूनी देहु जलाई ।

ऋग्वेद की श्रुति है-

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः अग्निमीधे विवस्वभिः ।

अर्थात् हे अग्नि मैं विविध स्थानों पर पहुँचने वाली, अज्ञानांधकार को दूर करने वाली तेरी ज्ञानरूपा किरणों को खोज रहा हूँ, तुझसे संवेद्य ज्योतिरूप परमात्मा को हृदय कुण्ड में प्रदीप्त करना चाहता हूँ। तुम अरणि में छिपकर रहते हो पर मंथन करने पर प्रकट हो जाते हो, अतः अपने हृदय की अरणि में छिपे हुए आपको मैं मूर्धा स्थान में प्रकट करना चाहता हूँ। इसी ज्ञानाग्नि में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ तथा विधि-निषेध को जलाकर उदासीन हो जाना चाहता हूँ। यहाँ त्रैगुण चकमक का अर्थ वेदत्रयी से प्राप्त ज्ञानरूप प्रभु की ज्योति का दर्शन है। गुरुवाणी में त्रैगुण सत, रज, तम मयी माया का सूचक है जैसे-

त्रिहु गुण महिं बरते संसारा,
नरक स्वरग फिरि फिरि अवतारा ।
त्रैगुण बरवाणै भरम न जाई ।।

• • •

त्रैगुण माइया मूल है बिचि हउमै नामु बिसारी ।

गुरुवाणी में प्रायः ऐसे संकेत दिए गए हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी त्रिगुणरूप होने के कारण मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते। महला 1 में आया है-

ब्रह्मा बिसनु महेस वीचारी,
त्रैगुण बंधक मुकति निरारी ।

महला 3 में कहा गया है-

ब्रह्मे वेद वाणी परगासी माइया मोह पसारा ।
महादेव गिआनी बरते धरि तामसु बहुत अहंकारा ।
किसनु सदा अवतारी रूधा कितु लगि तरै संसारा ।।

ब्रह्मा ने रजोगुणी होकर वेद विस्तार किया। ज्ञानी होते हुए भी महादेव तमोगुणप्रधान संहार कार्य कर रहे हैं तथा विष्णु सत्त्व स्वरूप हैं पर अवतार धारण करते रहने के कारण प्रपंच से अलग नहीं हो पाते फिर इनके सहारे कैसे कोई पार उतर सकता है। श्रीचन्द्र जी ने इन कारणों की अपेक्षा माया के प्रभाव का चित्रण करना ही उपयुक्त समझा है। वेद निंदा उन जैसे परम्परानुयायी श्रौतमुनि के लिए असह्य थी। उन्होंने लिखा-

तीन लोक इन माया ठागे ।
ब्रह्मा विष्णु रुद्र शशि सूर्य मोहमाया के रसमहिं पागै ।।
गणपति खगपति फणिपति मोहे देव सेनपति सों अनुरागै,
वरुण कुबेर देवपति देवन दैत्य दैत्यपति अन्तर दागै ।
व्यास परासर जय मुनि दालब भस्म भये ज्वलती चिख आगै,
बनवासी जलवासी पवनी घोरं नींद पड़ सोय न जागै ।
जो जन्मयो तिस ही उदरे महि लाय सिंहासन बैठि सभागै,
जिंह जन ऊपर हरि की कृपा श्रीचन्द्र तिहिं नेड़ न लागै ।।

त्रैगुण चकमक द्युलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी की सूचक है, इन तीनों में

एक सूत्र की तरह विद्यमान अग्नि ब्रह्म है, उसी को जानने का उपदेश मुण्डक की श्रुति में है, अन्य बातों को छोड़कर इसी मोक्ष प्राप्ति के एक मात्र साधन को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सहप्राणैश्च सर्वैः,
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथा मृतस्यैष सेतुः ।

इस ब्रह्म में मनोनिवेश कैसे हो? जब तक मन को मारकर इसे वश में नहीं किया जाता तब तक लक्ष्यबेध नहीं हो सकता। मात्रा में आया है-

नाम की पाखर पवन का घोड़ा,
निःकर्म जीन तत्त्व का जोड़ा ।
निर्गुण ढाल गुरु शब्द कमान,
अकल संजोह प्रीत के बान ।
अक्ल की बरछी गुणों की कटारी,
मन को मार करो असवारी ।।

अर्थात् पवन रूप प्राण अश्व है, नाम संकीर्तन उस घोड़े का कवच है, नैष्कर्म्य की अनुभूति घोड़े की पीठ पर डाली गई जीन है, काठी है। तत्त्व चिन्तन घोड़े का शृंगार-परिधान है। निर्गुण निष्कल ब्रह्म का ध्यान ढाल है, गुरु मंत्र कमान है। अकल या अकाल पुरुष में स्थिर बुद्धि संजोह या योद्धा का कवच है, परमात्मविषयक रति बाण है। पवित्र बुद्धि बरछी है, दैवी सम्पदा कटारु है। करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा चार दिशाओं के चार द्वार हैं, इस प्रकार संयम के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित साधक ही माया के सैनिकों काम क्रोधादि से लड़कर विजय प्राप्त कर सकता है। मन उस माया का सेनापति है, उसे परास्त कर ब्रह्म का शरणागत बनाना है, अतः साधक को युद्ध रत रहना चाहिए। मात्रा का यह कथन भी श्रुति सम्मत है। मुण्डकोपनिषद् में आया है-

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासानिशितं सन्दधीत,
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।

• • •

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।

अर्थात् हे सौम्य, उपनिषद्वेद्य, महान् अस्त्ररूप शरासन को लेकर उस पर उपासना से तीक्ष्ण किए हुए मनरूपी बाण को चढ़ाओ और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों की ओर से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का बेधन करो। लक्ष्य बेधन के साधन बताते हुए आगे कहा गया है कि ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है। बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का बेधन करना चाहिए और बेधन के बाद बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिए। ब्रह्म में मनोनिवेश करने का यही उपाय है। इसी श्रुति को ध्यान में रखकर '*गुरुशब्दकमान*' अर्थात् '*प्रणवोधनुः*' को मुख्यता प्रदान की गई है। मात्रा का रूपक अधिक विशद और पूर्ण है।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के दसवें अध्याय में शिव के युद्धरथ का भी दैवीसम्पदा से युक्त प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है। वहाँ लिखा गया है कि भगवान् विष्णु ने अपनी दैवी शक्तियों अथवा सत्वपूर्ण गुणों से शंकर जी के लिए युद्ध की सामग्री तैयार की। उन्होंने धर्म से रथ, ज्ञान से सारथि, वैराग्य से ध्वजा, ऐश्वर्य से घोड़े, तप से धनुष, विद्या से कवच, क्रिया से वाण और अन्यान्य गुणों से अन्य वस्तुएँ तैयार कीं। इस धर्मरथ पर बैठकर ही शिव ने त्रिपुर का संहार किया–

धर्मज्ञान विरक्तयृद्धि तपो विद्या क्रियादिभिः,
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्म शरादियत् ।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे,
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ।।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम के युद्ध का रूपक भागवत से प्रेरणा लेकर ही तैयार किया है–

सुनहु सखा कह कृपा निधाना, जेहि जय होई सो स्यंदन आना ।
सौरजधीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।
बल विवेक दम परहित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे ।
ईस भजन सारथी सुजाना, विरति चर्म संतोष कृपाना ।
दान परसु बुधि सक्ति पंचडा, बर बिग्यान कठिन कोदंडा ।
अमल अचल मन त्रोन समाना, सम जम नियम सिलीमुख नाना ।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा ।
सखा धर्ममय अस रथ जाके, जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ।।

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर,
जाकें अस रथ होई दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ।

श्रीकृष्ण ने उद्धव जी से कहा था कि गुरुदेव की उपासना रूपी भक्ति से ज्ञान की कुल्हाड़ी पर धार लगाओ, फिर धैर्य से जीवभाव काट डालो, फिर परमात्म स्वरूप होकर उस वृत्ति रूप अस्त्र को भी छोड़ दो और अपने अखण्डभाव में स्थित हो जाओ। भागवत के एकादश स्कंध में आया है-

एवं गुरुपासनयैक भक्त्या,
विद्या कुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः,
सम्पन्न चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ।।

यहाँ ज्ञान और उपासना के समन्वित प्रयत्न की बात कही गई है, कबीर साहब ने भी युद्ध के रूपक द्वारा साधक की विजयगाथा का उल्लेख किया है-

सहज पलान चित्त कै चाबुक लौ की लगाम लगाऊँ जी,
मन की मुहर धरौं गुरु आगे ग्यान के घोड़ा लाऊँ जी,
विवेक विचार भरौं तन तरगस सुरति कमान चढ़ाऊँ जी,
धीर गँभीर खड्ग लिए मुदगर माया के कोट ढ़हाऊँ जी,

मोहमस्त मैवासी राजा ताको पकरि मँगाऊ जी,
रिपु कै दल मैं सहजहि रौंदौं अनहद तबल घुराऊँ जी ।।

घोड़े के रूपक की कल्पना कबीर तथा श्रीचन्द्र जी ने अपने-अपने ढंग से की है। श्रीचन्द्र जी की कल्पना के मूल में सिख गुरुओं का धर्मरक्षार्थ धारण किया हुआ वीरवेश निहित है। श्रीचन्द्र जी तो निवृत्ति प्रधान उदासी धर्म के उद्धारक थे। उनका गुरुओं की प्रवृत्ति मूलक व्यवस्था से कोई सरोकार न था। छटे गुरु श्री हरगोविन्द जी ने पुत्र पाने की इच्छा से बाबा श्रीचन्द्र जी के चरणों में एक घोड़ा तथा एक हजार रुपये भेंट किए। बाबा जी के आशीर्वाद से उनके गुरुदित्ता नामक पुत्र हुआ जिसने उदासी मत के प्रचार-प्रसार में बड़ा योगदान किया। *'नाम की पाखर पवन का घोड़ा'* पंक्तियों का उच्चारण बाबा जी ने गुरु हरगोविन्द जी के सामने भी किया होगा। गुरुहरगोविन्द के पिता गुरु अर्जुनदेव ने भी डेरा बाबा नानक में श्रीचन्द्र जी के दर्शन कर अपनी कामनापूर्ण की थी। श्रीचन्द्र जी की प्रेरणा पर ही श्रीहरगोविन्द जी एक तलवार अध्यात्म की तथा दूसरी तलवार शासन रक्षा के लिए रखते थे। इन्हीं को पीरी तथा मीरी भी कहा जाता है। सन् 1645 ई0 में बाबा जी के अन्तर्धान होने के दो वर्ष बाद गुरु हरगोविन्द ने अपनी भौतिक देह् का परित्याग किया।

श्रीचन्द्र जी को अथर्ववेद का यह मंत्र अत्यन्त प्रिय था।

उत् तिष्ठत् सं नह्यध्वम् उदाराः केतुभिः सह,
सर्पा इतर जना रक्षांसि अमित्राननु धावत ।

अर्थात् हे महान् सेनानायको ! तुम अपनी ध्वजाओं के साथ उठो और तैयार हो जाओ। हे सर्प अथवा नाग जाति के लोगो, हे अन्य ग्राम-नगर वासियों, हे कठोरकर्मा वीरों तुम शत्रुओं पर धावा बोल दो। इसी उपदेश से प्रभावित होकर गुरु हरगोविन्द जी को नाग जाति अर्थात् पर्वत तथा वनों में रहने वाली जनजातियों को संगठित कर पर्वतों से घिरे स्थान पर कीरतपुर बसाना पड़ा। उनका मुगल शासकों से पहला टकराव सन् 1628 में अमृतसर के निकट संग्राना में हुआ था। 1638 में शाहजहाँ

द्वारा कंधार पर किए गए आक्रमण ने उन्हें धर्मयुद्ध की आवश्यकता समझाई। शस्त्र धारण करना अनिवार्य हो गया। श्रीचन्द्र जी ने अपने समय की धार्मिक तथा राजनीतिक अस्थिरता का शोचनीय रूप सिद्धान्त सागर में प्रस्तुत किया है, वह कहते हैं-

खलजो तुगलक लोधिया सैयद सूरी जै,
मुगल स्थापै बादशाह धरि तेज नवीजै ।
रुंड मुंड कटि तुण्ड सों भुजदंड बतीनै,
बहुत वार नारी धरणि पट लाल ओढ़ीनै ।
कृष्ण राम निज जन्मस्थल मस्जिद संगीनै,
विश्वनाथ कूपै गिरा भयधार मलीनै ।
जहाँ देवालय नहिं रह्यो किमिकल की चीनै,
परमेश्वर श्रीचन्द्र किमि कहियत बलहीनै ।।

★ ★ ★ ★

मात्राशास्त्र वेश की निःसारता का द्योतक

सन्त साहित्य में बाह्य वेश तथा पाखण्ड की सर्वत्र निन्दा की गई है। भागवत में अवधूत शुकदेव के लिए अलक्ष्य लिंग तथा निजलाभतुष्ट दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है। अलक्ष्यलिंग का तात्पर्य है, वह संन्यास के कौपीन, कमण्डलु आदि चिन्हों से भी मुक्त थे। निजलाभतुष्ट का अर्थ है, वह आत्मवेत्ता होने के कारण संसार से उदासीन तथा विरक्त थे। श्रीकृष्ण ने एकादश स्कंध में भी कहा है वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति तथा मन के लिए प्राणायाम दण्ड हैं, जिनके पास यह तीनों दण्ड नहीं हैं वे केवल शरीर पर बाँस के दण्ड धारण करने से ही संन्यासी नहीं हो जाते।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देह चेतसाम्,
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ।

यह बात बुद्ध, महावीर, सरहपा तथा गोरखनाथ ने भी कही है। कबीर ने भेष का खण्डन किया है। जपुजी साहब में भी कहा गया है कि भेष के योगी न बनो, आत्मयोगी बनो। आध्यात्मिक कर्म करो। संतोष की मुद्रा धारण करो, शर्म और मर्यादा की झोली पहनो। ध्यान की भस्म शरीर पर रमाओ। काया ही कंथा है, किसी और कंथा की आवश्यकता नहीं। परमात्मा के प्रतिपूर्ण विश्वास और लगाव ही डंडा है। काया को कुमारी की तरह विषय भोगों से निर्लिप्त रखो–

मुद्रां संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहिं विभूती,
खिंथा काल कुआरी काइआ जुगति डंडा परतीती ।

वही जीवात्मा रूपी नारी परमेश्वर रूपी परमेश्वर के साथ विहार करने की अधिकारिणी है जो निर्मल मन रूपी मोती की माला पहनती है, श्वास-प्रश्वास द्वारा हरिनाम जप के तागे में उस मनरूपी मोती को गूंथ लेती हैं तथा क्षमाभाव का शृंगारी परिधान धारण करती है–

मनु मोती जे गहणा होवै, पउणु सूत धारी,
खिमा सींगारू कामणि तन पहिरै रावै लाल पिआरी ।

श्रीचन्द्र जी ने सर्वत्र केवल बाह्य भेष का खण्डन किया है। भेष के साथ यदि चारित्रिक गुण नहीं है तो उसे न गृहस्थ कह सकते हैं और न संत। सिद्धान्तसागर में कहा गया है–

भेख दिखाये भगति न होय ।
हउमै अन्तर महिल गवाये अनिक योनि दुख भुगवै सोय। ।रहाऊ।।
लोभ लाग थित मन्दिर पाहि, कौड़ी कौड़ी हेतु उमाहि ।
मूंड मुंडायो भगवारंगी, डहकाये सिख साथी संगी ।
सिख बाँधी कटि धोती टिक्का, लब बिगुता फिक्को फिक्का ।
दंडधार नगनी अंग होया, टूक टूक को दरदर जोया ।
देव नदी तट छपरी छाई, महामहात्तम कूक सुनाई ।
लोभ गवायो सब विधि काम, श्रीचन्द्र सिमर्यो इक नाम ।।

बाबाजी आगे कहते हैं-

मुद्रां कनीं फटक की सिद्ध साध न सोऊ ।
माला कंठे डारीये मन नाम रटोऊ । ।रहाऊ।।
जटा बंधाई राख सिर संन्यास न लोऊ,
मूछां लिंग कटाइए पर नारि रमोऊ ।
वेद विचारहि माय रति ज्ञानी बिरलोऊ ,
बड़ ध्यानी श्रीचन्द्र लख साधु सत्य कोऊ ।।

• • •

योग न पाइये भेख ते बहु दंभ कमाये ,
नख बढ़ाय जट जूट धरि कन मुद्रा पाये ।
माला तुलसी कंठ महिं छापा तिलकाये ।
गोपी चंदन लाइए द्वादश अंगाये । ।रहाऊ।।
बैठ सिंहासन चवर ढुरै रागन छवि छाये,
पोथी बाच सुणाइयै धुनि उच्च अलाये ।
मसले काढ़ कुराण तों लोगन बिरमाये,
बिनु गुरु पूरे श्रीचन्द्र कछु थाय न पाये ।।

• • •

सेली नादी मेलागर महि बटुआ मेखलधारी ।
जटा मुकुट महि डार विभूति नाखुन अग्र उभारी । ।रहाऊ।।
पायन पाय न पनही बन महि विचरत इत उत धाई,
बटु तरू तर थिर घूणे पंचन पावक दार जराई।
मौन साध मूंदे दोउ नैना वैरागण धरि बाहां,
काम माया श्रीचन्द्र लुभाया गुरु बिनु पड़े कुराहां ।।

इनमें मुद्रा, माला, कंठी, जटाजूट, भगवावस्त्र, नग्नता, नाखूनों का बढ़ाना, सेली, बटुआ, धोती, टिक्का चंदन, ध्यान, धूनी, ग्रन्थ पाठ आदि का वर्णन कर कहा गया है कि इनसे संत या योगी की सच्ची पहचान नहीं होती। श्रुति कहती भी है- जिसमें चारित्रिक पवित्रता, आन्तरिक निर्मलता,

सत्य, क्षमा, दया, तय, संयम, त्याग, ज्ञान, शील, नैराश्य, उदासीनता, तार्किक युक्ति, शास्त्र प्रबोध, मर्यादा ब्रह्मभाव, निर्लेप दृष्टि,गुरुवाक्य श्रद्धा, हरिभक्ति, संतोष, विवेक, वैराग्य, तुल्य स्तुति और निंदा, समदृष्टि, मंत्रजाप, निर्वैरता, प्रेम, चित्त की एकाग्रता, विनम्रता, सत-असत् के निर्णय की क्षमता, निष्काम भाव, अनन्यता, प्राणियों के प्रति मैत्री, मुदिता तथा ईश्वर विश्वास की दृढ़ता नहीं, वह वेश धारण करके भी सच्चा संत नहीं हो सकता। मात्रा में इन्हीं गुणों को धारण करने की बात कही गई है।

गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् ने दैवी संपदा का वर्णन इस प्रकार किया है-

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितः,
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्,
दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता,
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

अब इस संदर्भ में मात्रा शास्त्र का वर्णन लीजिए- पहले उदासी संत का वेश देखिए-

ज्ञान की गोदड़ी खिमा की टोपी,
यत का आड़ बंद शील लंगोटी ।
अकाल खिंथा निरास झोली,
युक्त का टोप गुरुमुखी बोली ।
धर्म का चोला सत्य की सेली,
मर्यादा मेखली लै गले में मेली ।
ध्यान का बटुआ निरति का सूईदान,
ब्रह्म अँचला लै पहिरै सुजान ।
बहुरंगी मोरछड़ निर्लेप विष्टी,
निर्भव जंग डोरा नाको द्विष्टी ।

जाप जंगोटा सिफत उड़ानी,
सिंगी सबद अनाहत गुरु वाणी ।

शर्म की मुद्रा शिव विभूता,
हरि भक्ति मृगानी लै पहिरै गुरु पूता ।

संतोष सूत विवेक धागे,
अनेक टल्ली तहाँ लागे ।

सुरत की सुई लै सद्गुरु सीवैं,
जो राखे सो निर्भव थीवै ।

त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई,
दु:ख सुख धूनी देहु जलाई ।

पात्र विचार फरुआ बहुगुणा,
करमण्डल तूम्बा किस्ती घणा ।

अमृत प्याला उदक मन दिया,
जो पीवै सो सीतल भया ।

इड़ा में आवै पिंगला में धावै,
सुखमन के घर सहज सभावै ।

निराश मठ निरन्तर ध्यान,
निर्भव नगरी दीपक गुरु ज्ञान ।

स्थिर रिद्धी अमर पद दण्डा,
धीरज फहुड़ी तपकर खण्डा ।।

अर्थात्-ज्ञान की गोदड़ी, क्षमा की टोपी, यमनियमादि (यत) की आड़ कटिबन्ध, शीलवृत्ति की लंगोटी, अकाल आत्मभाव कंधा, ऐषणाओं से मुक्ति अर्थात् नैराश्य की झोली, ऊँकार रूपी गुरुवाणी, धर्म का चोला, सत्य की सेली, भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्या, परनारी गमन, असत्य भाषण, मदिरापान, चोरी तथा पाप कर्मों की प्रवृत्ति से बचने की मर्यादा की मेखला, ध्यान का बटुआ, निरति का सूईं दान, सुरति का अँचरा, निर्लेप वृत्ति की मोरछल, अशुत्रता का जंगडोरा, अजपाजाप का जांघिआ, विशिष्ट गुणों की उड्डयिनी, अनहद सिंगीनाद, ज्ञान की कर्ण मुद्रा,

शिव की विभूति, हरिभक्ति की मृगछाला, संतोष का सूत, विवेक के तागे तथा अनेक शुभ वृत्तियों की थेगली धारण करने वाला ही निर्भय होकर जगत् में विचरण करता है। इच्छा, कामना मुक्त जीवन का मठ, निर्भवनगर की काया, गुरुतत्त्व का दीपक, काया की निश्चलता ऋद्धि, अमरपद का अनुसन्धान रूपी दण्ड, धैर्य की फाहुड़ी, तप का खड्ग पात्रता-अपात्रता, कर्म, अकर्म तथा विकर्म का विचार ही कमण्डल, तूम्बा तथा किश्ती लेकर चलने वाला ही सच्चा संत है। समत्वपूर्ण दृष्टि ही उसकी चौगान या टेक है जिसे बैरागिन भी कहते हैं। हर्ष-शोक से मुक्ति ही उसकी पहचान है।

गृहस्थ साधक की विशेषता बताते हुए श्रीचन्द्राचार्य कहते हैं। मन की निर्मलता ही उसकी धोती है, अखण्डानन्द का प्रवाह ही यज्ञोपवीत है, सोऽहं का जप श्वासमाला है, गुरुमंत्र ही शिखा या चोटी है, भगवन्नाम संकीर्तन गायत्री का जाप है। निश्चल आसन ही विश्राम हैं पूर्ण ब्रह्मानन्द का सर्वत्र अनुभव ही तिलक है, उनका सर्वत्र वास ही सुगंध है। अतिथि, माता, पिता, गुरु तथा हरिभक्त की सेवारूप यश ही देव तथा पितर तर्पण है, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम भाव पूजा है, ब्रह्मानन्द ही भोग है। निर्वैरता के भाव की सिद्धि ही सन्ध्या कर्म है, सर्वत्र आत्मभाव का दर्शन ही छाप है जो गुरु अंगों पर दीक्षा के समय तप्त या शीतल मुद्रा अंकित कर देते हैं। सूर्योपस्थान के समय आदित्य स्थित पुरुष का दर्शन ही पीताम्बर है, ब्रह्माकार वृत्ति मृगछाला है। स्थिर चित्त ही चिदम्बर परमेश्वर का स्मरण करने योग्य स्थान है। स्थिर बुद्धि बाघाम्बर है, ऊँची टोपी है तथा निर्मल मति ही खड़ाऊँ है। ऐसा गृहस्थ साधक भी मुक्ति का अधिकारी है।

इसके बाद निर्वाण संत का लक्षण बताया गया है। वह धीर होता है क्योंकि वह देवादि अनित्य शरीरों में शरीर रहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्वव्यापक आत्मा को यह मैं हूँ, इस प्रकार जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता, कठोपनिषद् की श्रुति है-

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्,
महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति ।

वह तोड़ा, चूड़ा और जंजीर धारण करता है, जटाजूट बाँधता है, संसार में लोकहित के कार्यों का सम्पादन करके भी वह निर्लिप्त रहता है तथा जीवन्मुक्त होकर विचरण करता रहता है।

तोड़ा चूड़ा और जंजीर,
लै पहिरै उदासी धीर ।
जटाजूट मुकुट सिर होई,
मुक्ता फिरै बंध नहिं कोइ ।

गृहस्थ साधक का चित्रण इन दुपदों में हुआ है–

अखण्ड जनेऊ निर्मल धोती,
सोहं जप सचमाल पिरोती ।
शिखा गुरुमंत्र गायत्री हरिनाम,
निश्चल आसन कर विश्राम ।
तिलक सम्पूर्ण तर्पण यश,
पूजा प्रेम भोग महारस ।
निर्वैर संध्या दर्शन छाया,
बाद विवाद मिटावै आपा ।
प्रीत पिताम्बर मन मृगशाला,
चीत चितम्बर रुणझुणमाला ।
बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन,
खौस खड़ांवां इहमति लीन ।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मात्रा शास्त्र में एक ओर उस समय की संतों की रहनी तथा भेष का उल्लेख हुआ है तो दूसरी ओर गृहस्थ साधक तथा उदासी संतों की रहनी बताई गई है। इसके अतिरिक्त वेशाचार तथा बाह्याडम्बर का निषेध करते हुए उन्होंने निराडम्बर

अध्यात्ममार्ग का पथ स्पष्ट किया है। ऐसा कर आचार्यश्री ने आत्मज्ञान के अनधिकारियों की भी खबर ली है। क्योंकि जो श्रुति-स्मृति से अविहित पाप कर्मों से नहीं हटा है? जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं हैं जो असमाहित चित्त वाला है और जिसका मन स्थिर नहीं है, वह ब्रह्मज्ञान से परिचित होकर भी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता। कठोपनिषद् की श्रुति है-

ना विरतोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः,
ना शान्त मानसो वापि प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात् ।

मात्रा के इसी दृष्टिकोण को आचार्यश्री ने सिद्धान्तसागर में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। इस आशय की एक अष्ट पदी यहाँ उद्धृत की जाती है-

जटाजूट सिर पर धरे, फटकी मुक्ता रान ।
भेष बनाय मिलत नहिं परि पूरण भगवान ।।
पार ब्रह्म प्रभु अन्तरयामी, परिपूरण लघु दीरध स्वामी ।
सर्वव्यापक देवन देव-जीवजन्तु उर जानत भेव ।
गज चींटी लौं इकरस फैला, कैसो उज्जल कैसो मेला ।
वेसी मिलत न काहूं भाता, जटाजूट धारै अज्ञाता ।
मुद्रा कान फार जो पहरी, श्रीचन्द्र हरि पाय न लहरी ।
कर माला फेरत बड़ जोरा, प्रभु रंग न लागा भोरा ।
करतो भगवो भेष भुलाना, श्रीचन्द्र नहिं संग सधाना ।
देह रमाई भस्म मसान, गोपीचन्दन तिलक सुहान ।
ऊर्ध पुण्ड त्रिपुण्ड बनायो, कर लोटा अधिकै चमकायो ।
पाद पांवरी च्रर्म विहीन, निजकर संग रसोई कीन ।
अन सीअल बसनन पहिरावा, क्रिया कर्म विस्तार कमावा ।
प्रवृत्ति दीरध दह दिसि फैला, श्रीचन्द्र प्रभु हरि बिन मैला ।
गावत गीत रबाबी आगै, ढोल मृदंग परवावज लागै ।
ध्वनि मंजीरन रुणझुण झारी, इकरसताल बजावत तारी ।

नृत्य अखारा खूब जमायो, हाव भावयुत चाव जमायो ।
नर नारी चहुँधा रहि छाई, ताबै ताबै पाव चलाई ।
आदि पुरिख प्रभु नेकु न जाना, श्रीचन्द्र मदमत्त भुलाना ।
श्रीचन्द्र हरि भगति न होई, लोक दिखावै मिलत न दोई ।।

श्रीचन्द्र जी के समय पंजाब में वैष्णव वैरागी संत, नाथ पंथी संत, सूफी संत तथा नामदेव जैसे वारकरी संतों का व्यापक प्रचार था। दण्ड, विभूति, मेखला, मुद्रा, सिंगी, सेली, किंगरी, रुद्राक्ष, बाघम्बर, खप्पर, चिमटा यदि नाथों के चिन्ह थे तो गोपी-चन्दन, छापा, फाहुड़ी, पीताम्बर, ऊर्ध्वपुण्ड, तुलसीमाला, वैष्णव वैरागी साधुओं के चिन्ह थे। सफेद या लाल रूमाल (रसूलशाही), काले कपड़े (मदारी), हरे कपड़े (कादरी) तथा हरे और भगवे (चिश्ती) वस्त्र सूफियों के परिधान थे। ध्यान (तवज्जह), एकांत सेवन (खिलअत) तथा नामस्मरण (जिक्र) इनकी साधना के अंग थे। मात्रा में इन सबका उल्लेख साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने तथा संत मात्र में एकता प्रतिपादित करने के लिए हुआ है। जायसी ने भी इसी आशय को व्यक्त किया था-

पेमी हिन्दु तुरक में हर रंग रहो समाय,
देवल और मसीत में दीप एक ही आय ।

नामदेव ने संतमत का मूल स्वरूप सामने रखा। वह अन्तिम दिनों में गुरुदास पुर की बटाला तहसील के घूमन गाँव में तालाब के किनारे निवास करने लगे थे। इस समय उनकी आयु 55 वर्ष की थी। बाह्य वेश का खण्डन, सत्याचरण, दृढ़योग, गुरु महिमा तथा नाम स्मरण की महिमा नामदेव जी वाणी में मिलती है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सूर्य, चन्द्र तथा पवन बंधन का उनकी वाणियों में उल्लेख है। 1407 वि0 में यहीं इनका निधन भी हुआ। सूफियों में कादरी सम्प्रदाय का गहरा और व्यापक प्रभाव यहाँ के जनमानस पर देखा जा सकता है। सूफीमत में विरहासक्ति की प्रधानता है अतः प्रेम-विरह की सजीव अनुभूतियाँ इन संतों की वाणियों में व्यक्त हुई हैं। सूफीमत में ब्रह्मवाद का प्रवेश 15वीं

शती में हुआ और इसका श्रेय नामदेव जैसे संतों को दिया जा सकता है। प्रेमाभक्ति और ज्ञानवाद के समन्वय ने सम्पूर्ण हिन्दी संत काव्य को प्रभावित किया है, श्रीरामानन्द के गुरु स्वामी राघवानन्द जी ने 'सिद्धान्त पंचमात्रा' नाम की रचना में योग और प्रेम का समन्वय प्रस्तुत किया था। डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि यह मार्ग सनत्कुमार आदि ब्रह्मा के चार मानसपुत्रों ने चलाया था। रामानन्द इन्हीं के शिष्य थे। रामानन्द के शिष्यों में योग और प्रेमाभक्ति का सामंजस्य देखा जा सकता है। नाभादास ने इन्हें दशधा भक्ति का आगर कहा है। रामानन्द के पौत्र शिष्य तथा अनन्तानंद के पुत्र शिष्य स्वामी गणेशानन्द ने 'भक्ति भावती जोग' की रचना संवत् 1609 में की। योग मिश्रित प्रेमाभक्ति ही दशधा भक्ति है जो नवधा भक्ति के बाद आती है-

जो पहले नौधा करि आवै, प्रेम भगति ता पीछू पावै ।

मात्रा नाम से गोरखनाथ ने भी एक रचना लिखी थी जिसका नाम है '*अभैजोग मात्रा*'। यहाँ उसका पाठ उद्धृत किया जाता है-

'ऊँ अकलपन्थ अकलि का मारग, सत भौमि, सहज आसन, प्राण जोगी पवन गुटिका, निजभवन गुफा, संजम कौपीन, मरजादा मेखली, निह केवल जगोटा, जुगति उड्डयानी, साचमुद्रा, सीलकंथा, खिमाटोपी, जरनां अधारी, अतंरगति झोली, धीरजडंड, बमेक फाहुड़ी, तप चक्र, मूल कमंडल, मन उदिक, महाअमृत भोजन, दयारहरासि, विचार पुस्तक, जिभ्यारसायन, सरवंगी कला, विद्याकाल वचणी, नृप नगरी, अकल वनखंड, निरास मढ़ी, अतीत देवता, गिंनान दीपक, अकलप रहनी, आजाचीक भिख्या, सबद सिंगी, अनाहद कोंगुरी, स्याम सरोवर, अमृतप्याला, निहचल रिद्धी, सत करामाती, मुक्ति सिधि, अलेख ध्यान, अटल समाधि, निराकार तरुवर जुगफल व अमीफल।'[1]

श्रीचन्द्र की मात्रा में और इस मात्रा में कुछ समानताएँ और कुछ

1. *गोरखवानी - पृष्ठ 179-180*

असमानताएँ हैं। खिमा की टोपी, उदक मन, निरास मठ, सिंगी सबद अनाहद वाणी, निश्चल ऋद्धि, ज्ञान दीपक, अमृत प्याला, अमृत भोजन, मर्यादा मेखला के प्रतीकों में समानता है। श्रीचन्द्र जी की मात्रा है तो इस मात्रा के समानान्तर रचना पर सिद्धान्त की व्यापकता तथा सूत्र की निगूढ़ता के कारण यह अधिक भावपूर्ण बन गई है। गोरख ने भी इसके अन्त में *'भणत मंछिन्द्र नाथ पूता'* वैसे ही छाप रखी है जैसे मात्रा के अन्त में *'नानक पूता श्रीचन्द्र बोले'* छाप रखी गई है। यह भी संभव है कि किसी नाथ के जिज्ञासा करने पर आचार्य ने मात्रा का उच्चारण किया हो। आचार्य की मात्रा की एक विशेषता है उसका निगमागम सम्मत होना। गोरखमात्रा में यह विचार नहीं है। श्रीचन्द्र कहते हैं–

गुरु अविनाशी खेल रचाया,
आगम निगम का पंथ बताया ।

ऋषि परम्परा भारत में निगम या श्रुति को प्रमाण मानती है। शंकर, सायण तथा रामानुजादि आचार्य *'यस्य नि:श्वसितं वेदा:'* के कारण निगम को प्रमाण मानते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के साथ शतपथ, गोपथ, ताण्ड्य, ऐतेरेय आदि ब्राह्मण एवं कठ, ईश, माण्डूक्य, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषद् सभी निगम कोटि के हैं। संतमत में गोरख आदि ने इस मान्यता को चुनौती दी। कबीर, गोरख आदि ने सूषमवेद की चर्चा की। सन्तवती वाणी सिद्ध ने घोषणा कर डाली।

सुसमवेद का भेद निराला,
च्यारूँ बेद विकारा ।

सूषम वेद का तात्पर्य स्वसंवेद्यज्ञान से है जो आगमों के रूप में व्यक्त हुआ है तथा संतवाणियों के रूप में जिसका उद्‌घाटन होता रहता है। मात्रा में कहा गया है–

गुरु अविनाशी सूषम वेद,
निर्वाण विद्या अपार भेद ।

यहाँ गुरु अविनाशी का तात्पर्य परमेश्वर से है, वही विश्वगुरु हैं, उन्हीं से वेदों के साथ आगम रूप सूषमवेद भी उत्पन्न हुआ है। परमेश्वर को गुरु मानने की परम्परा अवधूत सिद्धों में भी रही है। दत्तात्रेय अवधू की सबदी में आया है-

गुरु हमारे अलख पुरुष बोलिये ।

आगम या सूषमवेद भी स्वतः प्रमाण हैं। महास्वच्छन्द तंत्र का वचन है-

आगतं पंच वक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने,
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ।

शिव द्वारा कथित तथा पार्वती द्वारा श्रुत ईश्वरीय सिद्धान्त ही आगम है। शिव प्रोक्त सिद्धान्त को आगम, यामल तथा तंत्र के रूप में विभाजित किया गया है जैसे वेद मंत्र, ब्राह्मण तथा उपनिषद् रूप में त्रिधा विभक्त है। षट्कर्म साधन तथा ध्यान योग प्रधान ग्रन्थ आगम कहलाता है। आगम ही देवपूजा का विधान भी बताते हैं। आगमों से ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर तथा वैष्णव आदि सम्प्रदायों के आचार-विचार, शील, मंत्र तथा उपासना विधि का पता चलता है। आगमों की मूल संख्या 28 है पर इनके उपागमों की संख्या 198 तक पहुँच गई है। वैष्णवागमों को संहिता भी कहा जाता है जैसे नारद पांचरात्र संहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता। श्री शंकराचार्य ने आगमों को प्रमाण नहीं माना। किरण आगम की प्राचीनतम पाण्डुलिपि नवीं शती की है। कश्मीर में वसुगुप्त ने आठवीं शती के उत्तरार्ध में शैवागमों का उद्धार किया। 11वीं शती में यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य ग्रन्थ लिखकर आगमों को प्रमाण माना। रामानुज, मध्व तथा वल्लभ जैसे आचार्यों ने आगमों को प्रमाण रूप में स्वीकार किया। मध्यकालीन संतों में केवल आचार्य श्रीचन्द्र ही ऐसे हैं जो आगम-निगम दोनों को प्रमाण मानते हैं। संवेदन ज्ञान रूप देवता का उन्मेष ही इनका लक्ष्य है। इसी के बाद चित्त अन्तर्मुखी भाव द्वारा चेतनारुढ़ होकर चिति कहलाने लगता है। चिति शक्ति विश्वग्रसन भाव

वाली है, अतः अग्नि कहलाती है, इसी को आगम, यामल तथा तंत्र रूप त्रैगुण चकमक में से निकाली अग्नि कहा जाता है जो ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण की त्रिपुटी को समाप्त कर देती है। यह संवित्ति हो जाने पर ही साधक जीवन्मुक्त होकर विचरण करता है। चिदात्मलाभ श्रौत तथा आगमिक दोनों परम्पराओं से होता है क्योंकि *'निर्वाण विद्या अपार भेद'* के कारण संतों के विभिन्न साधना मार्ग हैं, अतः उनके साधना स्रोत के रूप में निगमागम दोनों को स्वीकार करना ही उचित है। मात्रा की यह मौलिक दृष्टि है।

★ ★ ★ ★

मात्रा प्रश्नोत्तर रूप में

मात्रा की रचना आचार्य ने प्रश्नोत्तर रूप में की है। वेद, उपनिषद तथा आगम के अंश प्रश्नोत्तर रूप में मिलते हैं। केन, छान्दोग्य तथा कठ में प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई गई है। आगम तो सभी प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए। महास्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है–

गुरु शिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः,
प्रश्नोत्तर पदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।

मात्र का प्रारंभ ही प्रश्न से होता है–

कहु रे बाल किसने मूंडा किसने मुंडवाया,
किसका भेजा नगरी आया ।
सद्‌गुरु मूंडा लेख मुंडाया,
गुरु का भेजा नगरी आया ।।

अर्थात् हे बालक बता, तुझे किसने मूंडकर शिष्य बनाया है, इस दीक्षा लेने में तेरा कौन प्रेरक रहा है तथा किसकी प्रेरणा से तू यह वेश धारण कर नगर-नगर घूम रहा है। उत्तर में कहा गया है कि मेरे सद्‌गुरु ने मुझे

संन्यास की दीक्षा दी है, यह दीक्षा किसी अभाव या दबाव का परिणाम नहीं है। विरक्त होने की इच्छा मन में स्वतः स्फूर्त हुई है, मेरे जन्म जन्मान्तरों के संस्कार (लेख) ही इसमें कारण बने हैं। मेरे गुरु ने मुझे उदासी दीक्षा देकर संसार के प्राणियों के उद्धार के लिए जगत में भेजा है।

श्रीचन्द्र के '*कहुरे बाल*' सम्बोधन को लेकर कुछ लोगों ने कल्पना की है कि वृद्ध साधुओं ने मुख्यतः नाथ साधुओं ने व्यंग्य से बाल सम्बोधन देकर श्रीचन्द्र जी की अवहेलना की है। किसी कन्धारी नाथ के व्यंग्य वचन सुनकर उन्होंने उत्तर रूप में मात्रा का उच्चारण किया। पर यह रूहानी रचना होने के कारण स्वतः स्फूर्त है। एकान्त क्षणों में बैठे हुए आचार्य जी ने जीवात्मा को प्रबोध देने के लिए अपने आप को सम्बोधित करते हुए मात्रा का उच्चारण किया। आचार्य अपने मन रूपी बालक को सम्बोधित करते हुए रचना का प्रारंभ करते हैं। जैसे आगमों के शिव स्वयं गुरु तथा स्वयं शिष्य पद पर आसीन हो प्रश्नोत्तर रूप में आगम शास्त्र की रचना करते चलते हैं। मन के लिए बाल शब्द का प्रयोग नवीन नहीं था। गोरखनाथ इस रूप में वर्णन कर चुके थे-

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ?

इसकी व्याख्या करते हुए डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने कहा है कि जिस प्रकार बालक पाप-पुण्य से अछूता है, उसी प्रकार परमात्मा भी। जरा-मरण से दूर, काल से अस्पृष्ट सतत बालस्वरूप ही योगियों का साध्य आदर्श है। इसीलिए गोरख भी '*गोरख गोपालं, बूढ़ा बालं*' कहे जाते हैं। इतना ही नहीं बालक की चंचलता जग-प्रसिद्ध है। मन भी चंचल होता है, उसे इसीलिए बालक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। गुरुवाणी में भी आया है-

काइआ नगरि इकु बालकु बसिआ खिनु पलु थिरू न रहाई ।
अनिक उपाय जतन करि थाके बारंबार भरमाई ।

अर्थात् शरीर रूपी नगरी में मन रूपी बालक रहता है, वह एक क्षण के

लिए भी शांत नहीं रहता। उस बालक को वश में करने के लिए अनेक उपाय किए पर वह भोगों में लगा हुआ कभी उनसे विमुख नहीं हुआ। शबर पाद सिद्ध ने भी *'ऊँचा ऊँचा पावत तहि बसई शबरी बाली'* कहकर जीवात्मा को शबर बालिका कहा है। आचार्य श्री शंकर ने भी कहा था कि मुमुक्षु शिष्य को आचार्य की चरणसेवादि रूप भक्ति करके, उनके प्रसन्न होने पर निकट जाकर अपने मन का संशय कहना चाहिए। 'विवेक चूड़ामणि' में कहा गया है-

तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रय सेवनैः,
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ।

श्रुति कहती है कि गुरु के मिलने पर जिज्ञासा करनी चाहिए। *'परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञार्थ सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'* क्या बाहरी दबाव में संन्यास स्थायी होता है। आचार्यों का कहना है नहीं, जबतक स्वतः वैराग्य जागृत नहीं होगा, संन्यास में प्रवृत्ति नहीं होगी। श्रुति कहती है कि *'संन्यास निष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्ष साधनं न कर्मसहितेति भैक्ष्यचर्या चरन्तः संन्यास योगादिति'*। क्योंकि आत्मतत्त्व सदैव सत्यभाषण, तप, मन और इन्द्रियों की एकाग्रता, सम्यक् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त करने योग्य है, अतः ये सब साधन व्यक्ति सापेक्ष हैं, अतः अपने यत्न के बिना संन्यास सफल नहीं होता। गीता भी कहती है- *'उद्धरेदात्मनात्मानं'* आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करने वाले को श्रुति ने धीर कहा है। इसीलिए 'लेख मुंडाया' का तात्पर्य व्यक्तिकृत प्रयत्न सापेक्ष संन्यास से है। विवेक चूड़ामणि में ही कहा गया है-

मन्द मध्यम रूपाणि वैराग्येण शमादिना,
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ।

अर्थात् पूर्वजन्म में उपार्जित न्यूनाधिक पुण्य से मुमुक्षा किसी पुरुष में मंद तो किसी में तीव्र और किसी में मध्यम रूप से होती है। यदि सत्संग

तथा श्रद्धापूर्वक गुरुसेवा की जाए तो गुरुकृपा जन्य वैराग्य और शमादि साधनों से निरन्तर पुष्ट होती हुई संन्यास भावना अपनी परिपक्वावस्था में आत्मसाक्षात्कार की स्थिति उत्पन्न कर देती है, अर्थात् तीव्र वैराग्य और मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा पूर्वार्जित पुण्य का परिणाम है। शंकर, श्रीचन्द्र तथा दयानन्द सरस्वती प्रभृति संत इसके उदाहरण हैं। इस लेख को मूर्त रूप गुरुकृपा देती है। इसीलिए श्रीचन्द्र कहते हैं कि मुझे संन्यास मेरे गुरु ने दिया है, मेरा पूर्व पुण्य उनकी कृपा से फलीभूत हुआ है तथा उन्हीं की प्रेरणा से मुझे जन्म लेना पड़ा। कबीर साहब ने कहा था-

काशी में हम परगट भए, रामानन्द चेताए,
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए ।

श्रीचन्द्र भी हंसों, परमहंसों तथा सद्गृहस्थों का उद्धार करने आए थे। उन्हें अविनाशी परमेश्वर रूप गुरु ने इसी हेतु पृथ्वी पर भेजा था, वह सुख दु:ख भोगने नहीं आए थे। कर्म तथा कर्मफल तो वह पहले ही जला चुके थे। उनका जन्म कर्मफल भोगने के लिए नहीं हंस-उद्धार के लिए था। उन्हें भेजना भी अविनाशी की खेल रचना थी। मात्रा उनके अवतार का निशान है। अविनाशी मुनि ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। यह भी केवल औपचारिकता थी। शंकर को भी मर्यादा की रक्षा के लिए गौड़पाद गोविन्दपाद की कृपा प्राप्त करनी पड़ी। श्रीचन्द्र जीवन्मुक्त आए थे, अतः मात्रा में उनकी वीर्यवती वाणी अभिव्यक्त हुई। क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण में ही परमात्मा का प्रकाश होता है, अतः मात्रा में अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक होने वाले गुणों की चर्चा की गई। श्रीचन्द्र जी ने मात्रा के नित्य पाठ पर बल दिया है-

मात्रा विधनिंश्चय कीनी,
तिस उदासी मोक्ष पदवी लीनी ।
पढ़ै सुने अरू और सुनावै,
मोक्षमुक्ति की पदवी पावै ।

ऐसी मात्र लै पहिरै कोई,
आवागमन मिटावै सोइ ॥

इसके मूल में श्रुति है- *'स्वाध्याय प्रवचने एवेतीनाको मौद्गल्यः। स्वाध्यायेन च विशुद्धस्य सत्त्वस्य विद्योत्पत्तिरवकल्पते।'* अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण पुरुष को ही विद्या की उत्पत्ति का होना संभव कहा गया है। 'श्रोतव्यमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः' श्रुति को ध्यान में रखकर ही आत्मसाक्षात्कार के लिए सुनना, पढ़ना, विचार करना तथा धारण करना जैसी शर्तें रखी गई हैं। यह मात्रा श्रीचन्द्र ने स्वयं को आचार्य तथा स्वयं को शिष्य मानकर आगम रूप में कही है, इसीलिए वह निगम के साथ आगम का उल्लेख करना नहीं भूलते। यह स्थिति आधुनिक नहीं है, श्रुति परम्परा में भी केनोपनिषद् में *'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'* के रूप में प्रश्नोत्तर रूप में आत्मविद्या का उपदेश हुआ है। यह मन किससे प्रेरित हुआ तथा किसने समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट किया, उत्तर मिला जो मन को मन तथा वाणी को भी वाणी प्रदान करता है, वह ब्रह्म है। श्रीचन्द्र कहते हैं कि हे मेरे चंचल मन रूपी बालक तू जिस अविनाशी ब्रह्म से प्रेरित है उसी से प्रेरित मेरी इस अध्यात्मिक वाणी को भी सुन जिसे मेरे अविनाशी गुरु ने निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म के रूप में निरूपित किया था। ब्रह्मज्ञान से ही अमरत्व मिलता है। ब्रह्माकारवृत्ति से आवरण-निवृत्त करने की शक्ति आती है तथा विद्या से आवरण निवृत्ति पर अमरत्व की प्राप्ति होती है-

भाव भोजन अमृत का पाया ।

उपनिषद् की श्रुति है-

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

श्रमण परम्परा के मुनियों में भी प्रश्नोत्तर शैली में तत्त्व चिन्तन किये जाने के प्रमाण मिलते है । 'उत्तराध्ययन' से तीर्थंकर महावीर के कुछ उपदेश उद्धृत कर हम अपनी बात की पुष्टि करेंगे-

प्रश्न – के ते जोई, के व ते जोइठाणे, का ते सुया, किं व ते कारिसंगं,
एहा य ते कयरा संति भिक्खू कयरेणु होमेण हुणासि जोइं ?

अर्थात् हे भिक्षो तुम्हारी ज्योति अग्नि कौन सी है, तुम्हारा ज्योतिस्थान हवन कुण्ड कौन सा है, तुम्हारी करछियाँ कौन सी हैं, तुम्हारे कण्डे कौन से हैं, तुम्हारा ईंधन कौन सा तुम्हारा शान्तिपाठ कौन सा है, तुम किस प्रकार के होम से ज्योति में हवन करते हो?

उत्तर – तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगासुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग संती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं।

अर्थात् तप ही ज्योति है, जीव ज्योति स्थान है, मन, वचन, काया के शुभ योग करछियाँ शरीर हैं, कारिषांग-कण्डे हैं, कर्म ईंधन है, संयम योग शान्तिपाठ हैं ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूँ। ऋषियों ने ऐसे ही होम को प्रशस्त कहा है।

प्रश्न – के ते हरये, के य ते संतितित्थे, कहिंसिण्हाओ व रयं जहासि,
आइक्ख णे संजय, जक्खपूइआ, इच्छामो नांउ भवओसगासे ?

अर्थात् तुम्हारा सरोवर (ह्रद) कौन सा है, तुम्हारा शान्तितीर्थ कौन सा है, तुम किसमें स्नान कर कर्म रज का त्याग करते हो, हे यक्ष पूजित संयत हम तुमसे जानना चाहते हैं, तुम बताओ।

उत्तर– धम्मे हरए बम्भे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं ।

अर्थात् अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न होना लेश्यावाला धर्म मेरा जलाशय है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है, जहाँ नहा कर मैं विमल विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म रज का त्याग करता हूँ।

एवं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं,
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा महारिसी उत्तम ठाण पत्त ।

अर्थात् यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा दृष्ट है और यही महास्नान ऋषियों

के लिए प्रशस्त है। इस धर्म ह्रद में स्नान कर विमल और विशुद्ध होकर महर्षि उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं।

जिसमें पशु, स्त्री, नपुंसक की संगति और व्यभिचारियों की संगति नहीं की जाती और न स्त्री आदि की खोटी कथाएँ की जाती हैं। जिसमें स्वाध्याय और ध्यान में तन्मय होना कहा जाता है, उसे प्रव्रज्या या संन्यास कहते हैं। बोध पाहुड़ में महावीर स्वामी का वचन है-

पसु महिल संढ संगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ,
सज्झाय झाण जुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिआ ।

भगवान बुद्ध से प्रश्न हुआ कि लाभ क्या है? परम धन किसे कहते हैं?, सबसे बड़ा सम्बन्धी कौन है? तथा परमसुख क्या है? बुद्ध ने उत्तर दिया स्वास्थ्य की प्राप्ति सबसे बड़ा लाभ है क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन चिन्तन-मनन में प्रवृत्त हो सकता है। संतोष ही परमधन है जिसके पाने पर तृष्णा का दु:ख समाप्त हो जाता है, विश्वास ही सबसे बड़ा सम्बन्धी है। अविश्वास और संशयग्रस्त व्यक्ति स्थित प्रज्ञ नहीं हो सकता तथा निर्वाण ही परम सुख है क्योंकि सांसारिक सुख अनित्य, नाशवान् तथा अतृप्ति के कारण हैं। धम्मपद में कहा गया है-

आरोग्या परमालाभा संतुट्ठि परमं धनं,
विस्सास परमा जाति निब्बाणं परमं सुखं ।

बुद्ध ने कहा था, हे शरीर रूपी घर का निर्माण करने वाले मैंने तुझे देख लिया है। अब तू पुनः यह घर न बना पाएगा। मैंने तेरी सब कड़ियों को तोड़ डाला है। गृहकूट बिखर गया है, चित्त संस्कार रहित हो गया है और मेरी तृष्णा क्षीण हो गई है। यह निर्वाण की सिद्धावस्था है।

जो लोग मात्रा को 84 सिद्धों की परम्परा के सिद्धों की गोष्ठी में पढ़ी गई रचना बता रहे हैं, वे भ्रम में हैं। इन सिद्धों ने वज्रयानी प्रभाव के कारण वेद तथा आगम दोनों को ही नकार दिया है। सिद्ध लुईपा कहते हैं कि पूरक तथा रेचक के बीच प्राण स्थिर कर मैं मध्यवर्ती कुंभक

लगा चुका हूँ। इसे वस्तुतः न भाव की दशा कह सकते हैं और नहीं इसे इसे अभाव ठहराया जा सकता है, इस कारण इसमें किसी को विश्वास भी नहीं हो पाता। भला जिसका कोई वर्ण वा चिह्न रूप नहीं, उसकी व्याख्या किसी आगम या वेद की सहायता से की ही कैसे जा सकती है। यह विज्ञान दुर्लक्ष्य एवं अनुभव के लिए कठिन है–

भाव न होई अभाव न जाई,
अइस संबोहे को पतिआई ।
लुई भणइ बढ़ दुलक्ख विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागेणा ।
जाहेर बाण चिह्न रूव ण वाणी,
सो कइसे आगम वेएँ (वेद) बखाणी ।।

★ ★ ★ ★

मात्रा का अनुकरण

श्रीचन्द्र जी की मात्रा का प्रचार देखकर संत गरीब दास जी, संत जैतराम जी तथा संतपानपदेव जी ने भी मात्रा की रचना की। कहते हैं कि स्वयं श्रीचन्द्र जी ने तेरह मात्राओं की रचना की थी पर श्री महन्त अनन्तानन्द जी उदासीन ने निर्वाण प्रियतम चरित में छह मात्राएँ प्रकाशित कराई हैं। इनमें दो मात्राएँ भस्म गायत्री तथा माता अन्नपूर्णा की हैं। शेष 4 मात्राएँ प्रथम मात्रा के भाव का ही पल्लवन प्रस्तुत करती हैं। 1929 ई0 में सक्खर सिंध से 31 उदासी महात्माओं द्वारा रचित 82 मात्राओं का संग्रह प्रकाशित हुआ था। इनमें बाबा गुरुदास दक्षिणी कृत गुरुदास मात्रा तथा बाबा काशीराम कृत काशीराम मात्रा का विवरण श्रीचन्द्र चन्द्रिका पुस्तिका में दिया गया है। काशीराम की मात्रा में यह बात विशेष रूप से कही गई है कि नानकजी के घर शिव ने श्रीचन्द्र के रूप में अवतार लिया। ब्रह्मा लक्ष्मीचन्द्र के रूप में अवतरित हुए। नारद मरदाना तथा गरुड़ बाला बने। सनकादिक अलिमस्त, बालूहसना, गोविन्द साहिब

तथा फूल साहिब के रूप में जन्मे। इन मात्राओं में श्रीचन्द्र प्रणीत मात्राओं की शैली और प्रतिपाद्य न होकर उदासीन सम्प्रदाय के उद्‍भव तथा विकास का इतिहास मात्र है और वह भी पौराणिक शैली में प्रस्तुत किया गया है, अतः इन्हें शुद्ध मात्रा नहीं कहा जा सकता जो मात्रा शास्त्र तथा अनभैजोगमात्रा लेखन की परिपाटी रही है।

मात्रा शास्त्र की परिपाटी की रचना गरीबदास कृत 'अन्दरूनी रास' है। इनका जन्म संवत् 1774 की बैशाख पूर्णिमा को हुआ था। इनकी वाणियों का संकलन भी ग्रन्थ साहिब कहा जाता है। इन्होंने अपनी मात्रा में हिन्दू तथा मुस्लिम फकीर की रहनी का निर्देश किया है-

अवधू मन का मुतंगा, सुरति की सेली, निरति का नाद, पवन का फरूआ, अड़िग आड़बन्द, कदली कौपीन, ज्ञान का गोला, भ्रम विभूति रमावनी, मूल मुद्रा, सोहं माला, गल कंठी मधु मृगछाला, चित्त की चीपी, ज्ञान का घोटा, भाव की भंग प्यावनी, दिल की दारू, पद का पोस्त, बुद्धि की भाटी, सन्धि की सीसी, क्षमा का छालना, पीवैगा सिद्ध कोई।

ध्यान की धूनी, पीव की फावड़ी, चित्त की चीपी, बुद्धि की बीन, तत्त्व का तूर, अरस में ध्यान धर लोई, छंद का छापा, तत्त्व का तीर्थ, सुन्नसंख, आनन्द आरती, रिधि की रसोई, तत्त्व तिलक, अजपा जाप जापनी, जिंद का जनेऊ, पत्त की पोथी, सोहं शास्त्र, भेद का वेद, पिंड पुराण, कथ की कंथा कहो ब्रह्मग्यानी, गुप्त गोफिआ काम की गिलोल, चित्त का चक्र सील सिंजोल, बुद्धि का बख्तर खेल मैदानी, अरस की आरसी, नेम का नहरना, कथ की काती, अस्ति का उस्तुरा, पित की पथरी, युक्ति जंजीर, विंधना घुंघरू साथ लीजै, दिगम्बर डूंगरी, मेरुदण्ड मैदान, गगनी फुहारा, त्रिकुटी दरीबा, पटनघाट, इला पिंगला द्वारा, सुषुम्ना सिंधु देख।

जिंद योनी, मिहर सफा, कहर खफा, अधीन असल, कलमा कुरान रोजा रब्बान, नमाज नेक, अलह पिछाण, कताबां कुरस, कादिरदर्श,

नेकी पिछाण बंदगी सुभान, सुरत खुलाश, शरीकत त्रास, मन मक्का, अदल काबा, अरस नूर इलिल्लाह ईद, पीरां मुरीद ही दम बकरीद, इलम अल्लाह, मुरशिद सलाह, गुनाह कबाब, सबूरी शराब, वजू अजात।

एता अंदरूनी रासा, परखपीरपूरा, मनीकूंमार, कुफर कूं पीस, दास गरीब मिलै जगदीस[1] गरीब दास जी की मात्रा में बहुत से अंश स्थूल हैं पर उनके पुत्र संत जैतराम की वाणी में मात्रा का मार्मिक स्वरूप समझाया गया है। वह तंत्र-मंत्र का वास्तविक रहस्य जानने के लिए तथा योगी का भेष-रहस्य समझाने के लिए श्रीचन्द्र जी की मात्रा को आदर्श मानते हैं तथा उसी पद्धति से अपनी मात्रा की रचना करते हैं -

ओहं खाखम्बर पहरा खाक चोला, दिगम्बर बाघम्बर लिया अमोला। कृपा कर दीन्हा गुरुदेव, तंत मंत का पायाभेव। वज्र कौपीन, आड़बंद सत्य साचा, तत का तिलक मुकट गुरुवाचा। सुआ सांस लै उलटि समाई, दृढ़ आसन होई बैठ निरमोही। खिमा खड़ाऊँ जटा जुगत की बाँधी, मौनता साँधी, तोड़ा तरक प्रेम जंजीर, मन चपल निहचलभया थीर। फावड़ी सोई पाखंड सब छाँड़ै, गुरु के ग्यान कर्म बाँडै। सेली सुरति अनहद नादि, सिंगी धुन मन की मुद्रा उनमनि साध। जत का कड़ा, ध्यान का बटुआ, पवन का गुटका, चित्त का फावड़ा, ज्ञान की गुदड़ी, सुरति के धागे, सीमी धीरज कंथा वचन हलीमी। मम मेखली, सुहंगम फूल, नेम जनेऊ, गुरुग्यान की छाप, राम नाम लै काटे पाप। छिमा की कफनी पहरै अंग, नाम की टोपी अचल अभंग। नगरी चेतन चल्या अवधूत। समदृष्टी रहना संजूत। अजगर वृत्ति हिरदै धार, जैसा आवै तैसा ले विचार। सतगुरु दिया भेदी भेद, बिन रसना पढ़ै सूषम वेद।[2]

1. *ग्रन्थ साहिब - पृष्ठ 470*
2. *वाणी जैतराम- पृष्ठ 495-496*

इस मात्रा में भी पुनरावृत्ति है। अन्तिम दो पंक्तियाँ संतमत की मूल भावना को व्यक्त करती हैं। इनके बाद धामपुर वाले संत पानपदेव जी ने 'समझ मात्रा ग्रन्थ' की रचना की। उनका कथन है-

समता सेली पांचो तार, योगी गूँदै निरगुणसार। सो सेली लै लगन मैं राखे, संशय निकट न आवै ताके। दण्ड कमण्डल झोली क्षमा, नक्खण्ड योगी रामत रमा। यह रामत कर गमन न होय, ऐसा योगी बिरला कोय। आड़ बन्ध शील कौपीन, आठ पहर योगी लवलीन। नाद बिंदु के घर में रहै, योग युक्ति से योगी लहै। ज्ञान फावड़ी धूनी ध्यान, तपता जोगी परम सुजान। ब्रह्म अग्नि दिन रैन जगावै, सो जोगी फिर योनि न आवै। चितकर चकमक मनसा पथरी, लावत ब्रह्म अग्नि प्रजरी। तामैं त्रिविध ताप जरावै। मस्तक वही भभूत चढ़ावै।

सुन्न सरोवर निसिदिनन्हाय, चेले पांच लिए लर ल्याय। चेले पाँच लिए कर एक। योगी मेटे करम की रेख। संशय सिंह योगी कोई मारै, कर बारंबार आसन धारै। आसन अचल पलक नहिं चलै, युग बाँधै वह योगी भलै।

गुदड़ी देह सुरत का धागा, निरति सुई कर सीवन लागा। सो गुदड़ी कभी क्षीण न होय, युग युग राखै योगी सोय। टोपी टापी सहज विचारै, सिर पै धरिये युगती अपारै। टोपी ऐसी योगी राखै, दरशन श्रवण विराजै ताकै। फरूवाफहम राखै कर माहिं, भूखा रहै न माँगन जाहि। आकाशी व्रत भिक्षा करै, राम नाम फरूवै में भरै। यह भोजन नित योगी करै, तृष्णा आस सहज ही मरै। सो योगी जग में परमाण, घर में परखै पद निर्वाण।

मन कुण्डी कुतका ब्रह्मज्ञान, रामनाम बूटी प्रमाण। छान निरत कर निसि दिन पीवै मुक्ता योगी युग युग जीवै। अनहदनाद दया मेखली, नाम सहारे कुबजा भेली। धैर्य धर्म कमर को कसना, कस कस कमर अगम को धँसना।[1]

---

1. *अथ ग्रन्थ सुषमवेद - पृष्ठ 175-176*

पानपदेव कहते हैं कि ऐसा भेष और वृत्ति धारण करने वाला ही योगी प्रशंसनीय है तथा वही तत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। पानप ऐसे ही योगी गुरु को दीक्षा के लिए उपयुक्त मानते हैं -

पानप ऐसा योगी ढूंढै, कर चेला मेरे मन को मूंडै,
अजपा मंत्र मूल बतावै, सोयोगी मेरे मन भावै ।

पानपदेव जी ने यद्यपि मात्रा श्रीचन्द्र जी के प्रभाव में लिखी है पर वह अपना गुरु श्री कबीर तथा श्री नानक को मानते हैं-

नानकदासा और कबीरा,
पानपदास तिन्हों का चेरा । [1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मात्रा लिखने की परम्परा का गोरख के बाद उद्धार श्रीचन्द्र जी ने किया। मात्रा में रहनी तथा सिद्धान्त का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने में श्रीचन्द्र जी को जो सफलता मिली है, वह अन्य मात्राकारों को नहीं मिली। मात्रा शास्त्र का वैदिक आधार 'ब्रह्मवर्त्म' की अवधारणा है जो उपनिषद् तथा भागवत के माध्यम से होती हुई श्रीचन्द्र तक पहुँची। मात्रा शास्त्र में प्रवृत्ति मार्गी गृहस्थ साधक तथा निवृत्ति मार्गी संत की रहनी का विचार उसे अन्य मात्राओं से पृथक् करता है। नाथ सिद्धों तथा सरहपा जैसे चौरासी सिद्धों से वह इसलिए भी भिन्न है कि वह निगम-आगम दोनों को समान प्रमाण मानती है। उसमें निगममूलक ओंकार जप तथा स्वसंवेद्यज्ञान परक आगमिक साधना का समन्वय है। वज्रयानी सिद्धों ने निगमागम दोनों की व्यर्थता सिद्ध की है। नाथ सिद्ध भी निगमागम को व्यर्थ मानते हैं। ज्ञान मार्ग, योगमार्ग तथा भक्तिमार्ग की जो समन्वित धारा राघवानन्द जी की मात्रा में है, उसका गोरख प्रणीत अभैजोगमात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं। श्रीचन्द्र जी के मात्रा शास्त्र में इन तीनों को हरि प्राप्ति के लिए अनन्य पथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। *'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'* के रूप में उन्होंने सृष्टि चक्र का सांकेतिक उल्लेख *'गुरु अविनाशी खेल रचाया'* में कर दिया है। 'लेख

1. *अथ ग्रन्थ सुषमवेद - पृष्ठ 74*

लिखाया' से वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य पूर्वजन्मार्जित संस्कारों से ही शुभ-अशुभ में प्रवृत्त होता है। गुरु वाणी में भी कहा गया है-

> पूरबि करम अंकुर जब प्रगटे भेटिओ पुरुख रसिक बैरागी,
> नानकु तिसु मिलै जिमि लिखिआ धुरि करम । (महला 5)

कर्म बन्धन का कारण है, अतः कर्ममार्ग की विस्तृत चर्चा मात्रा में नहीं की गई। वह कर्म मार्गी के लिए इतना ही निर्देश करते हैं कि हरि प्रीत्यर्थ कर्म करना, नाम स्मरण करना, अध्यात्म पुष्ट कर्म करना तथा सिद्धावस्था में पहुँच कर भी प्राणिमात्र का हित सम्पादन करना उसकी मुक्ति का साधन है। वह कहते हैं-

> चेतहु नगरी तारहु गाँव,
> अलख पुरुष का सिमरहु नाँव ।

नगरी का तात्पर्य काया से है तथा ग्राम इन्द्रिय समूह का सूचक है। साधना में जहाँ जीवात्मा को जो काया रूपी नगर में रह रहा है, प्रबुद्ध करने की, अपने स्वरूप को जानने के लिए यत्न करने की प्रेरणा है,. वहाँ इन्द्रियों को विषय-विकारों से मुक्त करने का उपदेश भी है। यह अपने को उपदेश देना है। काया नगर में तत्त्वसार के अनुसार समस्त लोकालोक विद्यमान हैं। काया नगरी ब्रह्माण्ड का सर्वोत्तम नमूना है। व्यक्ति ज्ञान द्वारा अपनी देह में भी विश्वस्थित पदार्थों को देख सकता है, भोग सकता है-

> देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः,
> सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ।

• • •

> ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा,
> पुण्य तीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ।

योगी को देहनगर स्थित इन सभी को चेताना पड़ता है, जागृत करना पड़ता है। यह कार्य मंत्र जप से भी हो सकता है अथवा साधक स्वयं वायु निरोध द्वारा रेचक, पूरक तथा कुंभक प्राणायाम द्वारा भी कर सकता है। मुख, नासिका, गुदा तथा लिंग से प्राण-अपान वायु का निस्सरण, ग्रहण तथा निरोध ही महाशक्ति को जगाता है। जैसे लोहे में भी अग्नि प्रवेश कर उसे अपना रूप दे देती है, वैसे ही महाशक्ति लोहे के समान मलावृत इस देह नगर को स्वर्ण का रूप दे देती है। इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों का समूह (ग्राम) विज्ञान, ज्योति से प्रकाशित हो जाता है। साधक को देवी देवताओं के दर्शन होने लगते हैं, उनकी कृपा साधक को प्राप्त होने लगती है। तत्त्व का गूढ़ रहस्य स्वतः प्रकट हो जाता है, यह क्रिया इन्द्रिय ग्राम को तारने वाली कही जाती है। श्रुति ने कुण्डलिनी को तारा कहा है- '*नमस्ताराय*'। गुरुप्रेरणा से ही इस नगरी का रहस्य ज्ञात होता है, अतः श्रीचन्द्र जी ने कहा- गुरु का भेजा नगरी आया। गुरुकृपा की पहचान ही यही है कि शिष्य में आनन्द और प्रबोध का प्राकट्य हो जाए-

> लक्षणं शक्तिपातस्य प्रबोधानन्दसंभवः,
> या यस्मात् परमाशक्तिः प्रबोधानन्द रूपिणी ।

प्रबोध और आनन्द के लिए आचार्य ने चेतहु तथा तारहु शब्द रखे हैं। इसी से हठयोग, मंत्र योग तथा लय योग की सिद्धि होती है। हठयोग की क्रियाओं तथा मंत्रयोग से अन्तः स्फुरण साथ-साथ चलते हैं। इसीलिए आचार्य ने कहा- अलख पुरुष का सिमरहुँ नाँव। मंत्र दीक्षा से मंत्र में निहित देवशक्ति प्रबुद्ध होती है। श्रीमद्भागवत के पुरंजनोपाख्यान में भी नरदेह को नगर बताया गया है जहाँ जीवात्मा रूप पुरंजन रहता है क्योंकि वह पुर में रहता है, इसलिए पुरंजन कहलाता है-

> पुरुषं पुरजंनं विद्याद्यद् व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।

संत वाणी में काया को नगरी कहने का चलन पुराना है। वेद में 'अयोध्या' नगरी के प्रतीक का प्रयोग हुआ है। नाथ सिद्ध मानते हैं कि

काया से अगम्य तत्त्व भी नहीं है।

काया तैं कछु अगम बतावै, ताकी मूंडूं माई ।

• • •

काया गढ़ लेबा जुगे जुगी जेवा
काया गढ़ भीतरि नौ लष खाई, जंत्र फिरै गढ़ लिया न जाई ।

सूफी कवि जायसी ने भी *'नितगढ़ बाँचि चलै ससि सूरू'* जैसे रूपक इसी परम्परा से प्रभावित होकर लिखे हैं। अन्य मात्राकारों से श्रीचन्द्र जी महाराज की विशेषता यह है कि उन्होंने भाँग, मदिरा आदि सभी नशीले पदार्थों के सेवन का विरोध किया है। तत्कालीन सिद्ध योगी, फकीर इनका उपयोग करते थे। श्रीचन्द्र जी की मात्रा में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। गोरखनाथ ने भी कहा था-

अवधू मांस भखंत दया धरम का नास,
मद पीवत तहां प्राण निरास ।
भांगि भखंत ग्यान ध्यान खोवंत,
जम दरबारी ते प्राणीं रोवंत ।।

श्रीचन्द्र जी ने इसीलिए सात्विक खान-पान पर बल दिया। उन्होंने सिद्धान्तसागर में कहा-

परिहरि खान पान कड़ु मीठा, परिहरि धरणीपति पद पीठा ।
याचै राम नाम लिव लाग, श्रीचन्द्र सेवक बड़भाग ।

• • •

भोजन भंग धतूर का मदमत्त महाही,
समरारी समरहिंरता लिंग वरध्यो जाही ।

योगी के लिए सच्ची जीवन चर्या बताते हुए उन्होंने कहा-

जप तप संयम दया धर्म उर भीतर जरणा,
राम नाम जपु दिनसु रात अन नाहिं स्मरणा ।
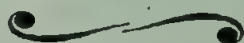
तृतीय अध्याय

आचार्य श्रीचन्द्र की दार्शनिक विचारधारा
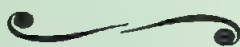
पंजाब में गोरखनाथी साधुओं तथा सूफियों का व्यापक प्रभाव था। यद्यपि गुरुओं ने नामदेव, त्रिलोचन, सदना, बेनी, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रविदास, फरीद, भीखन, जयदेव तथा गुरु रामानन्द की रचनाएँ संकलित कर संतमत के मूल सिद्धान्तों की रक्षा की तथापि निर्गुण-सगुण समन्वय तथा योग-माधुर्य और ज्ञान समन्वित साधना की प्रणाली को वेद सम्मत एवं आगम सम्मत भूमि पर प्रतिष्ठित करने का कार्य आचार्य श्रीचन्द्र जी ने किया। उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत, माया तथा गुरु तत्त्व पर नितान्त भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने वेद पर चान्द्रभाष्य लिखा तो संस्कृत में चन्द्रदर्शन की रचना की। वेद उनकी विचारसरणि का मुख्य आधार था।

वैदिक परम्परा में परमात्मा को एक तथा अद्वितीय माना गया है। परम तत्त्व एक है पर उसके निरूपण की भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं, उपासक उसे अनेक नामों से पुकारते हैं, अनेक रूपों में देखते हैं। इस ऊपरी भेद के रहते हुए भी तात्विक दृष्टि से वह एक है, अनेक नहीं। ऋग्वेद (1/164/46) में आया है-

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

अर्थात् वह परमपिता परमात्मा एक है, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों

से उसे अनेक रूपों में कहा जाता है। वह एक परमात्मा अलख है, उसका रूप दिखाई नहीं देता, उसे चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। कठोपनिषद् में आया है-

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्चति कश्चैनम् ।

श्वेताश्वतर में कहा गया है-

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

अर्थात् समस्त प्राणियों में सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा, एक परमात्मा गुप्त रूप से रहता है। वह कर्मों का स्वामी है और सभी प्राणियों में वास कर रहा है। वह सबका साक्षी, सबको चेतनता प्रदान करने वाला, उपाधि रहित और निर्गुण है। अर्थात् सत्वादि गुणों से रहित है। प्रश्नोपनिषद् कहता है कि जो इस अलख पुरुष को जानता है, वह जन्म-मरण के सागर से पार उतर जाता है। अलख का अर्थ अदृश्य नहीं ज्ञातव्य है, उसी के साक्षात्कार होने पर, जान लेने पर मृत्यु की वेदना नहीं सताती-

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ।

गोरखनाथ ने इस *'वेद्य पुरुष'* को अर्थात् जानने योग्य तत्त्व को *'अलख विणानीं'* तथा कबीर ने *'अलह अलष निरंजन देव'* कहा है। गीता में इसे *'स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'* कहकर *'परं पुरुष'* कहा गया है। यजुर्वेद की श्रुति में- *'पुरुषं महान्तं'* कहा गया है। नानक जी ने कर्तापुरुष कहा है।

कर्तापुरुष और अलष (अलख) पुरुष

गुरुनानकदेव ने परं पुरुष को *'इक ओंकार सति नाम करता पुरखु'* कहा है। अन्य स्थान पर *'सति पुरखु सति असथानु'* कहकर सतपुरुष कहा है। एक स्थान पर गुरुवाणी में ही *'अलख अपार अगम्म अगोचर ना तिसु कालु न करमा'* कहकर उसे अलख भी कहा है। श्रीचन्द्र जी उसे अलख पुरुष कहना पसंद करते हैं-

अलख पुरुष का सिमरहुं नांउ ।

गुरुनानकदेव जी के सामने मुण्डकोपनिषद् की यह श्रुति रही है-

कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

अर्थात् वह पुरुष परमात्मा कर्ता है और ब्रह्मा का भी जन्म स्थान है। कर्ता कहने का तात्पर्य नानक जी की दृष्टि में परम ब्रह्म का ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का निर्माता होना है-

ब्रह्मा विसुन महेसु इक मूरति आपे करताकारी ।

(रामकली महला 1)

सृष्टि की उत्पत्ति और धारण करने से भी उसका कर्ता होना अभिप्रेत है।

सगल सामग्री अपनै सूति धारै ।

(सुखमनी महला 5)

वह कर्ता, कारण और कार्य स्वयं है, इसके लिए उस पूर्ण को किसी की सहायता नहीं चाहिए।

करण कारण प्रभु एक है दूसरा नाहीं कोय,
नानक तिसु बलिहारणै जलि थलि महि अलि सोय ।

(महला 5)

पुरुष शब्द का प्रयोग यहाँ सांख्य वादियों की तरह अनेक वाचक नहीं है। अद्वितीय कर्ता होने के कारण नानक जी उसे कर्तापुरुष कहते हैं। सूफी भी उसे कर्ता या करतार कहते हैं। जायसी ने *'बंदौ आदि एक करतारू'* कहा भी है। श्रीचन्द्र जी श्रुति तथा योग मार्ग को ध्यान में रख कर ब्रह्म को 'अलष पुरुष' कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद के *'सर्वभूतान्तरात्मा'* तथा *'सर्वभूतेषुगूढ़:'* वचन उनके सामने हैं। अलष का प्रयोग गुप्त भाव से विद्यमान, गूढ़ रूप में उपस्थित अर्थ में किया गया है। वह परमतत्त्व के लिए पार ब्रह्म, परमेश्वर, गुणनिधान, अविनाशी, प्रभु, हरि, परम पुरुष, निर्भय, दामोदर, गोपाल आदि नामों का प्रयोग करते हैं-

पारब्रह्म परमेश्वर ध्याया, गुण निधान प्रभु पूर्ण पाया ।
अविनाशी घट घट महि रविआ, सिमर सिमर फिर योनि न गवया ।
भगवन परम पुरुख गोविन्द, सिमर नाम विनसी सभचिन्द ।
आत्मराम रवया सभ लोय, जपत जपत अपरम्पर होय ।
अणु परमाणु व्यापक जान, श्रीचन्द्र पूरण विज्ञान ।
दामोदर गोपाल अनन्त, श्रीचन्द्र जप जप भागवन्त ।
आदि अनादि अगाध अपार, परम पुरखु देवाधि मुरार ।
माधव मन मोहन निरंकार, अलख अभेव अगम्य अपार ।
सर्वसिद्ध निर्भय निर्वैर, साधजनाँ के बाँधत पैर ।
निराकार निर्गुण भगवान, श्रीचन्द्र सभ मांहि समान ।
आदि न अन्त मध्य जिस केरा, श्रीचन्द्र सन्तन के नेरा ।
सत्य स्वरूप सुतहसिध स्वामी, घट घट पूरण अन्तर्यामी ।।

इस प्रकार श्रीचन्द्र के परमेश्वर अविनाशी, परं ब्रह्म, परम पुरुष, आत्माराम, अलख, माधव, मुरारि तथा सत्यस्वरूप स्वत: सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध करने के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं, हाँ जब वह सृष्टि उत्पन्न करते हैं तभी उन्हें 'कर्तापुरुख' कहना चाहिए-

करता पुरुख कारण करतार,

श्रीचन्द्र सन्तन आधार ।

• • •

करता पुरुख पछानियै, भव विस्तारनुहार ।
रूप रंग लच्छन युकति संज्ञा विविध प्रकार ।

और इसी के बाद अपने मन्तव्य के समर्थन में श्रीचन्द्र जी सृष्टि निर्माण का वर्णन करने लगते हैं।

अविनाशी प्रभु अगम अथाह, दीनो सरब विश्वप्रवाह ।
जन्म मरण की धार मझार, बह्यो जात भव सरिता वारि ।
अनिक नरन की देह बनाई, भिन्न भिन्न तिनि लसतु लुनाई ।
रोम रोम की समता नाहि, नाक कान सभ भिन्न जनाहि ।
गण्ड कपोल श्रवण कर पाद, श्रीचन्द्र सभ छिन्नी वाद ।
उर भुजदण्ड जंघा अरू ऊरू, गुलफ जानु अंगुरिका पुरू ।
नख सिख भिन्न भिन्न रचि राखा, बुद्धि ज्ञान ध्यान अभिलाखा ।
रूप कुरूप सरूप सुहावा, लघु दीरध मध्यम प्रगटावा ।
मित्र अमित्र उदास प्रवीन, लच्छन अहै असंख्य नवीन ।
विधि निपुणाई योग्य अयोग्य, श्रीचन्द्र भव गे गण भोग्य ।
अनेक प्रकारी वृक्ष निपजाय, पात विहूनि सपात महाय ।
पुष्प बिना फल संयुत केत, पाक बिना सुमनान समेत ।
कबि फल फलह कबी है फूला, उसन सीत वायु को भूला ।
कोई कोटि बिनु मूलहुँ हरे, कोई कोटि रस अमृत भरे ।
करते की रचना अनगणत, श्रीचन्द्र करतारै भनत ।।

कर्तापुरुष का निरूपण करने के बाद आचार्य वेद और पुराण की परम्परा में परमात्मा का निरूपण करते हैं। वेद तथा पुराण उनके विचार स्रोत हैं-

पूरण वेदन फेरि दुहाई, श्रीचन्द्र परिपूरण पाई ।
पूरण पाठ पुराण पढ़ायो, पूरणराग अलाप सुहायो ।।

इस कथन के साथ वह श्रुति तथा उपनिषद् का सहारा लेकर '*पूर्ण पुरुष*' की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। '*पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य, पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।*' इस श्रुति में कहा गया है कि वह निरूपाधिक ब्रह्म पूर्ण है और यह सोपाधिक कार्यब्रह्म भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ है। तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलयकाल में सोपाधिक कार्य ब्रह्म के पूर्णत्व को अपने में लीन करके पूर्ण निरूपाधिक कारण ब्रह्म ही शेष बचता है, अतः तत्त्वात्मक दृष्टि से उसे कर्तापुरुष न कहकर पूर्ण पुरुष कहना चाहिए।

सर्वव्यापक पूर्ण प्रभु, आदि मध्य अरू अन्त,
घट घट पट पट थित भयो, अंग संग भगवन्त ।

घट घट पूर्ण रह्यो व्यापै, आदि अन्त अरू मध्य न जापै ।
पूरण पुरुष सर्व विधि जाता, पूर्ण होवति जाकी दाता ।
पूर्ण होत न पूर्ण भिन्न, पूर्ण पूर्ण मिलै अछिन्न ।
पूर्ण गगन नगारा धुनै, श्रीचन्द्र पूर्ण हरि गुनै ।
पूर्ण पाए पूर्ण लोक, श्रीचन्द्र पूर्ण हर शोक ।।

इसके बाद वह कैवल्य प्राप्ति के लिए '*आदि पुरुष*' की चर्चा करते हैं। गीतामें अर्जुन ने कहा था-

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्,
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वयाततं विश्वमनन्तरूप ।

वेद में उसे समस्त जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान बताया है- '*हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे*' । अतः वह आदि पुरुष है, उसने सूर्य, चन्द्रादि पदार्थों को प्रकट किया है- '*भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्*'। अतः वह कर्तापुरुष और जगदीश भी है। ठीक इसी भाव से निम्नांकित पंक्तियों में '*आदि पुरुष*' का वर्णन हुआ है।

आदि अनादि अगम अज, अविनासी अनगंज,
अनन्त अपार अगोचरा, श्रीचन्द्र अनरंज ।

आदि पुरुख सब अन्तर्यामी, घट घट व्यापक अखंडधामी ।
अविनाशी प्रति पालन करता, अलख देव दुखदूखन हरता ।
जिनि जिनि ध्याया तिनि तिनि पाया, अनुभव एक अगोचर आया ।
आप न जाप सदा सत्संगी, तीन काल इक रस सर्वंगी ।
अगाध अबाध अनवद्य अव्याधा, आधि उपाधि विनासत साधा ।
अरूप अरंग अभेख अरेखा, एक अनेक एक अबरेखा ।
अनन्त अपार अकाल अपाला, अनाम अकाम अधाम अजाला ।
आदि अन्त जिहिं वार न पारा, सर्व ठौर जिहिं सम वर तारा ।
आसत नासत बीच समाना, सर्व लोक पूरण भगवाना ।
अमाय अकाय सदा लिवलाय, श्रीचन्द्र तिस माहिं समाय ।।

ब्रह्मसूत्रकार ने कहा था, यह जगत् जिनसे उत्पन्न होता है, जिनके सहारे रहता है और अन्त में जिन में समा जाता है, वह परमात्मा है। वेद में उसे '*अमाय*' अर्थात् मापहीन कहा गया है। श्रुति है– '*न तस्य प्रतिमा अस्ति*'। वेद में उसे अकाय कहा गया है– श्रुति है– '*अकायमव्रणस्नाविरम्*'। ऐसे '*आदि पुरुष*' का द्रष्टा उसी में लीन हो जाता है। यही स्थिति उनकी दृष्टि में सगुण साधना में भी हो जाती है। नाम से नामी की प्राप्ति सहज होती है–

शिव शिव रटते शिव भये जन वर वरसाये,
नारायण नारायणै नर नर लख पाये ।
नामंहु ते नामी सदभाये ।
आवत है जन हृदय महिं कलि प्रकट जनाये । ।।रहाऊ।।
ब्रह्म-ब्रह्म आराधते विष्णु हरि गाये,
निर्गुण निर्गुण जापिआ सरगुण गुण साये ।
गणपति दुर्गा सरस्वती अनदेव सबाये,
रवि ससि मंगल करिकै सिध साधक राये।
सीतापति राधावरै जन जपत महाय,
श्रीचन्द्र सिमरन करै अपरंपर छाये।।

संकर की वार में भी श्रीचन्द्र जी ने कैवल्य रूप आदि पुरुष के स्मरण की महत्ता बताई है-

आदि पुरुख प्रभु सिमरियै सुख मंगल कल्याण,
गुरु परसादी पाया मिट है आवण जाण ।
नव निधि एको नाम गुरुकृपा ते पाइयै,
आनन्द सुख विश्राम, ज्ञान भानु परकास भै ।
विघ्नहरण हरि राम, आत्मरंगरस मगन मन,
सभ विधि पूरण काम, चिन्ताहरण गोपाल गुरु ।।

इस आदि पुरुख या अलख पुरुख को देखने के लिए निरंजन की सेवा करना अभीष्ट है। यहाँ आचार्य नाथ सिद्धों को दृष्टि में रखकर उपदेश करते हैं-

आदि निरंजन सेवियै, अलखै लखियात,
आदि निरंजन सेवियै, नहि हउमै जात ।

श्रीचन्द्र जी ब्रह्म को सुन्न मात्र नहीं कहते। वह '*सुंनहु ब्रह्मा बिसनु महेस उपाये*' का समर्थन नहीं करते। वह सृष्टि का प्रवाह अनादि मानते हैं। अंकुर बीज की तरह प्राणियों के धर्माधर्म के आधार पर यह प्रवाह अनादि कहा जाता है पर मुक्त जीवात्माओं की दृष्टि से इसे सादि भी कहा जा सकता है। यह श्रुति सम्मत तथ्य है कि मुक्तात्माओं का पुनरावर्तन नहीं होता। मुक्तावस्था के जीव पुनः लौट कर नहीं आते। मुक्ति मंजरी में श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

अनादित्वादृतो देही बीजांकुर प्ररोहवत्,
मुक्तिशुक्ति स्थितः किन्तु सादिमान्सनिगद्यते ।

निर्गुणिया अन्य संतों से श्रीचन्द्र इस बात में भिन्न हैं कि वह अवतारवाद के प्रबल पोषक हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म अवतार लेता है, यह बात कबीर आदि संतों को स्वीकार नहीं। गुरु नानक ने भी '*नानक निरमउनिरंकारू होरि केते रामरवाल*' कह कर रामादि को निरंकार परमात्मा के सामने

तुच्छ माना है। महला 5 में आया है किं जो यह कहता है कि परमात्मा योनि के अन्तर्गत आता है, वह मुख जल क्यों नहीं जाता।

सो मुख जलउ चितु कहहि ठाकुर जोनी,
जनमि न मरै न आवै न जाइ, नानक का प्रभु रहिओसमाइ ।

इसके विपरीत श्रीचन्द्र जी कहते हैं कि प्रभु धर्म की स्थापना, दुष्टों का वध, संतजनों की रक्षा तथा मानव जीवन को आदर्श बनाने की शिक्षा देने के लिए अवतार धारण करते हैं। वह कहते हैं-

हे मन प्यारे साजना, धरणी दुखित पुकारी राम,
हे मन प्यारे साजना, ब्रह्मा दुखित गुहारी राम ।
दुखित गुहारा वेद खुहाये हरि संखासुर मारा,
कूर्म होय सिर मन्दर सहारा सागर रत्न उगारा ।
नाम सेज हरि महा दुखयारा हर सिर गंग बहाई,
श्रीचंद्र दुख संत सहारहिं हरि हरि स्यों लिव लाई ।।

यहाँ वेदोद्धार के लिए मत्स्य, समुद्र मंथन के लिए कूर्म अवतार की चर्चा की गई है। एक स्थान पर प्रह्लाद की रक्षा के लिए तथा हिरण्यकशिपु के वध के लिए नृसिंहावतार का वर्णन हुआ है।

जिन जिन नाम ध्याया प्रभु पाछै धाई,
फेरे देहुरा दास हित दुर्जन पिछवाई ।
थंभ फाड़ प्रगट भया हिरण्यकशिपु धाई,
चन्द्रहास की पत रही विषयां विष पाई । ।।रहाऊ।।

• • •

नारायण अवतार धर दुष्टन को धाई,
पेश न गईयां अपर कछु नरहरि नख लाई ।
सागर क्षीर निवास हरि नंदग अंग राखा ।
सारंग चक्र सुदर्शनै परिहरन न काखा। ।।रहाऊ।।
रावण बन वासा कियो धनु वाण न त्यागा,

परसु गहे भये परसुराम हलि मूसल रागा ।
आदि जुगादि सदा सदा धर्म अहै पुराणा,
शस्त्र अस्त्र सब ही लहै श्रीचन्द्र नराणा ।।

रामावतार तथा कृष्णावतार 24 अवतारों में पूर्ण अवतार कहे जाते हैं। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण, भुशुण्डीरामायण, हरिवंश पुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण में श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के चरित्र का विशद निरूपण हुआ है। श्रीचन्द्र जी ने दोनों अवतारों का उल्लेख सिद्धान्तसागर में किया है। श्रीराम का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है-

पर्णकुटी रच रघुपति मुनि पट तन धारे,
जटाजूट भस्मंग महिं बन फल आहारे ।
खर दूषण मारीच मृग अटवी परिहारै ।
इन्द्रजीत घटकान से अछ वाली मारे । ।।रहाऊ।।
कुंभ अकुंभ दस सीस लौं, रण माँझ पछारे,
केसी, कंस, चाणूर, बक, अध, बकि शकटारे ।
बखशश कीन न दुष्ट पै ललकार पचारे,
श्रीचन्द्र धर्म प्रभु का नहिं शस्त्र बिसारे ।।

यहाँ दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। राम को उदासी संत के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा आसक्ति हीन सर्वथा निर्लिप्त होते हुए भी उन्हें दुष्टदलनार्थ तथा सज्जनों की रक्षा के लिए शस्त्रधारी के रूप में चित्रित किया गया है। भागवतकार ने भी राम को अनासक्त रूप में ही प्रस्तुत किया-

रेमे स्वाराम धीराणामृषभः सीतयाकिल,
बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीड़यन् ।

श्रीचन्द्र जी ने प्रभु का धर्म शस्त्र धारण बताया। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा था- '*पवनः पवतामस्मि, रामः शस्त्रभृतामहम्*'। यहाँ राम का तात्पर्य

परशुराम से न होकर वैष्णवाचार्य श्रीराम से मानते हैं, इस बात को केवल श्रीचन्द्र जी ही रेखांकित करते हैं। यह उस युग की माँग भी थी। निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियों से त्रस्त तथा आतंकित हिन्दू जनता के लिए राम तथा कृष्ण का शस्त्रधारी एवं असुर संहारक रूप ही प्रेरणादायक था। उन्होंने गुरुओं की तरह संतों को तथा हिन्दू गृहस्थियों को धर्मरक्षार्थ लोहा लेने के लिए चेताया। कालान्तर में गुरुगोविन्द सिंह ने शस्त्रनाममाला में '*काल तुही काली तुही, तुही तेग अरू तीर*' कह कर धर्मरक्षार्थ धारण किए हुए शस्त्र को ही परमेश्वर का रूप घोषित किया। तुलसीदास ने भी श्रीराम से अधिक श्रीराम के '*धनुर्वाण*' को महत्त्व दिया। '*रामायुध अंकितगृह*' की अवधारणा के पीछे यही दृष्टि छिपी है। यह वह युग था जब बाहर सीमा प्रान्त से बाबर आक्रमण कर चुका था। हुमायुँ, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा शाहजहाँ के समय ही औरंगजेब का दमनकारी व्यक्तित्व सहिष्णु धर्म के लिए काँटा बन गया था। इनकी सेना में अफगान, उजबेक, मंगोल तथा अन्य बर्बर कबीलों के सैनिक शामिल थे। बाबर की इस बर्बर सेना का मुकाबला भारत के लोदी तथा पठान शासक भी नहीं कर पाये। पंजाब प्रदेश इनकी ताण्डव लीला का पहला केन्द्र बना। इस विनाशकारी लीला में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही मर रहे थे। लोदी सुलतान ऐयाशी में मस्त थे। राजपूत राजा अपने झूठे अभिमान के कारण आपस में ही उलझे हुए थे। वे अपने देश को न बचा सके। गुरुनानक ने इस भयानक त्रासदी को झेला था, उन्होंने कहा-

> खुरासना खसमाना कीआ हिन्दुस्तानु डराइआ,
> आपै दोसु न देई करता जसु करि मुगलु चढ़ाइआ ।
> एती मार पई कर लाणैं तैं की दरदु न आइआ,
> करता तू सभना का सोई । (महला 1)

युद्ध के परिणामों पर भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टि दिखाई देती है, जब वह कहते हैं, तुम्हारे वे मनोविनोदात्मक तथा मनोरंजकपूर्ण खेल कहाँ चले गए? तुम्हारे घोड़ों तथा अस्तबलों का कोई पता नहीं? तुम्हारी भेरियां और शहनाइयाँ क्यों मौन हो गई? तुम्हारी तलवारों की म्याने,

तुम्हारे रथ, तुम्हारी लाल वर्दियाँ, तुम्हारे दर्पण, तुम्हारे सुन्दर मुख कहाँ गए, कहाँ छिप गए?

कहाँ सु खेल तबेला घोड़े, कहाँ भेरी सहनाई ।
कहाँ सु तेगबन्द गाड़ेरड़ि, कहाँ सुलालकवाई ।
कहाँ सु आरसीआ मुह बंके ऐथै दिसहि नाही ।

श्री इन्दुभूषण बनर्जी ने 'इवोल्यूशन ऑफ द खालसा भाग 1' में इस परिणाम की चर्चा करते हुए लिखा है कि मुसलमान शासकों ने हिन्दूधर्म को मिटाने के लिए नये अस्त्र निकाले, जिनमें तीर्थ यात्रा पर कर, धार्मिक मेलों, उत्सवों और जलूसों पर कठोर प्रतिबन्ध, नये मंदिरों के निर्माण तथा जीर्ण मन्दिरों के पुनरुद्धार पर रोक, हिन्दू धर्म और समाज के नेताओं का दमन तथा इस्लाम ग्रहण कर लेने पर पुरस्कार जागीर देना प्रमुख थे। '*भारत का इतिहास*' पुस्तक के रूसी लेखक को अ0 अंतोनोवा, लेविन तथा कोतोव्स्की ने भारतीय राजाओं, अमीरों की आपसी फूट के लिए लिखा है कि इब्राहीम लोदी के अमीरों ने काबुल के तैमूरवंशी शासक बाबर को युद्ध के लिए निमंत्रण भेजा था। जहाँ तक किसानों की बात है, दमन और उत्पीड़न के खिलाफ उनका विरोध अक्सर गावों से पलायन का रूप ले लेता था। ऐसी स्थिति में तलवार की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से हिन्दुओं को संगठित करना जरूरी हो गया। एक ओर अस्थिर राजनीति, छिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्था, रूढ़िवादिता, धार्मिक अनुदारता तथा दूसरी ओर शासकीय दम्भ और दमन, फलतः छिन्न-भिन्न हिन्दू समाज को संगठित करने के लिए ऐसे महापुरुष की आवश्यकता हुई जो व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दू धर्म को इस्लाम के समतावादी धर्म के समानान्तर खड़ा कर सके। भगवान् श्रीचन्द्र ने यह कार्य बखूबी सम्पन्न किया। गांवों से पलायन करते हुए किसानों, श्रमिकों तथा दलितों के उद्धार का नारा देते हुए उन्होंने कहा-

चेतहु नगरी तारहु गाँव ।

उन्होंने युद्ध की मानसिकता का आध्यात्मिक रूपान्तरण किया। उनके

सामने तथा उनसे पूर्व मुस्लिम विजेता, आक्रमणकारी बख्तरबन्द घोड़ों पर सवार, ढाल तलवार, धनुष वाण, बरछी कटारी लिए दुर्गम गढ़ों और दुर्गों को तोड़ते हुए राज्यों पर अधिकार कर रहे थे। युद्ध के बाद ये सैनिक निरीह लोगों को कत्ल कर गाँवों तथा शहरों को लूट रहे थे। मध्य एशिया और सीमा प्रान्त से आने वाले लुटेरों के विरूद्ध एक ओर आचार्य जी नैतिकता प्रधान सैनिक संगठन की प्रेरणा दे रहे थे तो दूसरी ओर मन के मैवासी राजा को जीतने के लिए आध्यात्मिक युद्ध के रूपक का निर्माण कर रहे थे। मुगल लुटेरों ने लूट से जो कुछ लूटा, वह हिरात, समरकंद, मक्का और मदीना के फकीरों को भी नज़र किया गया। अकेले बाबर के बारे में कहा जाता है कि उसने सोना, चाँदी, वस्त्र तथा रत्नों की भेंटें फरमाना, खुरासान, काशगर तथा ईरान तक भिजवाईं। अपने अश्वारोहियों को पुरस्कृत किया। गुरुओं ने संत होते हुए भी सैनिक वेश इसी प्रतिरोध के लिए ग्रहण किया। एक बार पीलीभीत उत्तर प्रदेश में नानकमता गुरुद्वारा पर भेष साम्य के कारण नाथपंथी साधुओं ने अधिकार कर लिया। गुरु हरगोविन्द जी ने शक्ति प्रदर्शन कर उस स्थान को मुक्त कराया। गुरु हरगोविन्द जी राजसी अवस्था में ढाल तलवार बाँधे, घोड़े पर सवार होकर सैनिक वेश में थे। शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास जी उन्हें इस अभियान में मिल गए। समर्थ स्वामी कौपीन धारण कर पूर्ण विरक्त वेश में रहते थे। उन्होंने शस्त्रधारी अश्वारोही गुरु जी से इसका कारण पूछा। गुरु हरगोविन्द जी ने उत्तर दिया–

बातन फकीरी, जाहिर अमीरी
शस्त्र गरीब की रख्या, जर बाणे की भिक्ख्या
बाबा नानक संसार नहीं त्याग्या था, माया त्याग्यी थी।

समर्थ स्वामी ने इस उत्तर से प्रसन्न होकर कहा था– '*इहु हमारे मन भावती है*'। यह कर एक भगवा वस्त्र तथा एक जयमाला उन्होंने गुरु जी को भेंट की। कहते हैं कि बाबा अलमस्त जी उदासी को यह सामग्री इस स्थान से उपलब्ध हुई थी। तात्पर्य इतना है कि धर्म रक्षा के लिए

संत के हाथ में माला के साथ खड्ग भी शोभा देता है। '*श्रीचन्द्र धर्म प्रभु का नहिं शस्त्र विसारे*' कहने के मूल में यही मनोविज्ञान निहित है। अपने युग की आरक्षित दशा को देख कर ही उन्होंने प्रार्थना की, कि हे शार्ङ्ग नामक धनुषधारी विष्णु अब तुम ही धनुर्धर बन कर संतों की रक्षा करो।

नियम थापयो आप प्रभु दुष्टन हन मारो,
नाश किए बिन दुर्जना नहिं संत उबारो ।
संतन बिना नहिं धर्म थिति रहहि संसारो ।
धर्म बिना नर अधोगति शुभ कर्म बिसारो । ।।रहाऊ।।
यति सति बिना न सूरमा जंग रंग अखारो,
बिना युद्ध नहिं राज्य लहि कातर कतरारो ।
राजे धर्मी ते बिना भव अधर्म धारो,
श्रीचन्द्र इहि मूल गति सारंगसर धारो ।।

राजाओं, बादशाहों तथा सुलतानों की पतित दशा का चित्रण करते हुए श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

बादशाह सिर छत्र धराया,
पारब्रह्म प्रभु हृदयों भुलाया । ।।रहाऊ।।
नगन अंग गन नारी चित्र, मन्दिर साजे चित्र विचित्र ।
सीस महल निसि सोय बितावै, मदिरा आमिष भोज हितावै ।
सेज सँवारी गन्धित फूला, पटरेशम पहरै अनुकूला ।
भेग भोग बहु सुन्दर नारी, कंद्रप दर्प निवार्यो झारी ।
सभा सिंगार सभायुत बैठा, नृप गण सीस न्यावत ऐठा ।
काल नगारा सीस बजायो, श्रीचन्द्र उठ नांग सिधायो ।।

इन भोगी विलासी बादशाहों के कारण हुक्मरानों, सेठ साहूकारों, अहलकारों, राजपुरुषों तथा धर्माचार्यों की जीवन-चर्या भी दूषित हो गई। शोषण, कदाचार, आतंक तथा अन्याय के बोलबाला के विरूद्ध आचार्यश्री ने कहा-

रत्तपीणे राजे भव होय ।
दंड देत लखि निर्धन प्राणी बाट पार नहिं मारत कोय । ।रहाऊ।।
साधु दुखी निज गृह दुरि बैठे न्याय नाम गतिहोये लोय,
बढ़ी देय न खून सजालहिं धर्म गयो धन अग्र पलोय ।
लबरे विचरत निडर होय करि हिंसारत पथ महाखलोय,
देव स्थापन प्रविशी माया सत्यवाद धरि पंख उड़ोय ।
कूड़ वाक्य बिन ठौर न काई पाप विकार प्रचुरै भोय,
कालरात्रि व्यापी सभ दुनिया श्रीचन्द्र ससि हरि हरि ओय ।।

अर्थात् राजा रक्त पायी हो गए हैं। निर्धन, दलित तथा श्रमिक को दण्डित कर उनसे राजस्व वसूल रहे हैं। साधु घरों में छिप कर बैठ गए हैं। न्याय नाम का रह गया है। धर्म चला गया है, धन की भूख बढ़ गई है। बकवादी निडर घूम रहे हैं, खल हिंसापथ के अनुयायी हैं। देव स्थानों में माया जन्म विकार घुस गए हैं। सच्चाई पंख लगाकर उड़ गई है। झूठ बोलने के बिना कहीं सहारा नहीं मिलता। पापाचरण बढ़ चला है। दुनियां में कालरात्रि छाई है पर श्रीचन्द्र का प्रभु चन्द्रमा की तरह चमक रहा है। वह हरि की ओट पाकर निश्चिन्त है। दुखी जनता का कोई रखवाला नहीं है। विचार करने की किसी को फुर्सत नहीं है-रिश्वत देकर अपराधी छूट रहे हैं-

भव महिं नाहिन को रखवारो ।
लूच लबार अवार कबाड़न विचरत धरणी रचि परिवारो । ।रहाऊ।।
बिन राजै कै परजा दुखारी महिल परवेशे रति परनारो,
महर मुकद्दम लहूपीवणे धनलूटन जिन परम बिहारो ।
बढ़ी लै कै देत गवाही सम ना श्वेतजामा गर चारो,
अपराधी छूटत बिन दूषण साधू बन्धत दोष सभारो ।
बंदीखाने मन्दिर भोगन भांग अफीम सुरा प्रचारो,
आमिषहार विथार धनेरो श्रीचन्द्र कवन विचारो ।।

संत कवियों में तुलसी को छोड़कर केवल श्रीचन्द्र जी ही ऐसे संत हैं

जिन्होंने युगीन कदाचार का ऐसा बेबाक चित्रण किया है। खेतिहर किसानों की दुर्दशा ने तो उन्हें अन्दर तक हिला दिया- उन्होंने भक्षक बने रक्षकों को कुत्ता तक कह डाला, तीन पद लीजिए-

पाप घटा घन छाई जोरे ।
जंह तंह फिरत प्रजा धन हरते सेनापती सिपाही घोरे । ।।रहाऊ।।
लूटत मारत निसंग धावड़ी कोऊ न करत ताहिं हटकोरे,
जेतक महर मुकद्दम बिश्ट सु बिना बढ़ी नहिं सुनत निहोरे ।
भई अदालत द्रव्यवान की न्याय न पिखियत धरणी टोरे,
धन हेती हलकाये कुत्ते भौंकत काटत दहदिसि दौरे ।
रइयत रंक सहम सद सदमें अन्दर मुख रोवत बिन रौरे,
कृपा धार कलकी अब आवऊ श्रीचन्द्र विनवत कर जोरे ।।

पुराणों की मान्यता है कि कलियुग में कल्कि अवतार होगा, वह दुष्ट राजाओं का वध कर धर्म की स्थापना करेगा। संतों की रक्षा होगी। कल्कि भगवान् ही अष्ट सिद्धियों के और समस्त गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। समस्त चराचर जगत् के वे ही रक्षक और स्वामी हैं। वह देवदत्त नामक शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर दुष्टों को तलवार के घाट उतार कर ठीक करेंगे। उनके रोम रोम से अतुलनीय तेज की किरणें छिटकती होंगी। वे अपने शीघ्रगामी घोड़े से पृथ्वी पर सर्वत्र विचरण करेंगे और राजा के वेश में छिप कर रहने वाले रहने वाले कोटि-कोटि डाकुओं का संहार करेंगे-

चराचर गुरोर्विष्णुः ईश्वरस्य खिलात्मनः,
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मानुपत्तये ।
शंभलग्राम मुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः,
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ।
अश्वमाशुगमारूह्य देवदत्तं जगत्पतिः,
असिना साधु दमनमष्टैश्वर्य गुणान्वितः ।
विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः,
नृपलिंगच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति ।।

गरीबों के खेत लूटे जा रहे हैं, किसान न्याय पाने के लिए भटक रहे हैं, प्रजा के पास पहनने को कपड़े नहीं हैं। प्रजा निरक्षर है, अंधी है, उसे मुक्ति की कोई राह नहीं सूझती। राजा झूठा है तथा उसके मंत्री-सलाहकार झूठे हैं। इस दुःखद संकट काल में हरि के अतिरिक्त और रक्षक कौन है-

अघ ओघन धरणी सबछाई ।
गर्ज गर्ज तड़िता सम कड़कत महिषी रंक प्राण बिनसाई । ।रहाऊ।।
मदमत लोभी भरी कचहरी कड़कन पक्का खेत गवाई,
बसन विहून प्रजा भवभीती भाग भाग चाहत लुकठाई ।
छप्पर टूटे सिर पड़े ओले दैधन सगरो जान बचाई,
आयु पावस बीती नाहिन नहि विषान घट घोर घनाई ।
चिन्त गरीबी दिन जीवन के काटन हेत बनी कठिनाई,
दीन दर्द दुःख भंजन होई श्रीचन्द्र की सुनहु दुहाई ।।

• • •

कुत्ते हलकाये रखवारे ।
अपन पराया सूझत नाही काट काट हलकाव बिथारे । ।रहाऊ।।
दणु चलावत धन हरवे हित दोषी दोष न धरत किनारे,
करत कराहन निर्धन रईयत भौंकत खाय खाय हड़वारे ।
आदी से अन्तिम लग लेते राज्य पुरुष धन लोभ बिगारे,
ज्ञान बिहूणी अन्धी प्रजा राह न सूझत राज दुआरे ।
कूड़ा राजा कूड़ दिवानी कूड़ेबोल बोल भभकारे,
बिन गोविन्द न सूझत कोऊ श्रीचन्द्र जोड़ सुनहि पुकारे ।
गोविन्द सिरजे न्याय हित राजे घर माही,
रंडि दंडि तिन ले गई नयनन मटकाही ।
लाल पगड़ियन बांध सिर बुत थिरे सिपाही,
तसकर पकड़ धन खोस कै बंद छोर भगाही ।
साधु भोगत दण्ड कऊ चोरन पादशाही,

भूखी प्रजा कर सहहि दण्ड मुख परै हसाही ।
तू जंग का सब तेरड़ा भरवासा नाहीं,
कला न जे बरताय है किमि जानहि साही ।
पूर्व वाक्य चितार उर कहुँ ऊँची बाहीं,
हरि जु आबहु श्रीचन्द्र बिलमऊ किमि काही ।।

जहाँ तक शासकों का प्रश्न है, वह न्याय करना छोड़ बैठे हैं। वेश्याएँ उनसे जो चाहे करवाती हैं। लाल पगड़ी बाँधे सिपाही चोरों को पकड़ते हैं, उनका धन छीन लेते हैं फिर उन्हें छोड़ कर भगा देते हैं। साधु दण्ड भोग रहे हैं, चोर उचक्के शासन कर रहे हैं। भूखी प्रजा पर करों का बोझ पड़ा है। उनकी हँसी लुप्त हो गई है। हे हरि ऐसे समय के लिए ही तुमने गीता में आश्वासन दिया था। अपने *'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत'* जैसे वाक्यों को याद करो। मैं बाँह ऊँची कर पुकार रहा हूँ। आने में विलम्ब क्यों कर रहे हो।

खलजों तुगलक लोधीयां सैयद सूरी जै,
मुगल स्थापै बादशाह धरि तेज नवीजै ।
रूंड मुंड कटि तुण्डसों भुजदण्ड बलीनै,
बहुत बार नारी धरनि पट लाल ओढ़ी नै ।
कृष्ण राम निज जन्म स्थल मस्जिद संगीनै,
विश्वनाप कूपै गिरा भयधार मलीनै ।
जहाँ देवालय नहिं रह्यो किमि कल की चीनै,
परमेश्वर श्रीचन्द्र किमि कहियत बलहीनै ।।

खिलजी, तुगलक, लोदी, सैयद, सूरी, फिर मुगल बादशाहों ने सत्ता स्थापित कर ली। भुजबल से युद्ध में मारकाट मचा कर रूण्ड मुण्डों का ढेर लगा दिया। पृथ्वी रूपी स्त्री रक्त में ऐसी डूबी, मानों उसने लाल ओढ़नी ओढ़ ली हो। राम कृष्ण जन्म स्थलों पर मस्जिदों का निर्माण हो गया। विश्वनाथ काशी के कूप में गिरा दिए। देवालय ध्वस्त हो गए। मूर्तियां तोड़ दी गईं। कल क्या होगा? कहना कठिन है। श्रीचन्द्र जी

कहते हैं कि हे परमेश्वर क्या आप बलहीन हो गए हैं? क्या आपका अवतार न होगा?

तत्कालीन भक्ति काव्य में यह निराशा का स्वर स्वाभाविक था। गुरुनानक बाबर के अमीनाबाद आक्रमण का आँखों देखा हाल बताते हुए लिखते हैं- जिन स्त्रियों की सुन्दर केशराशि में सिंदूर की माँग शोभा बढ़ाती थी, कैंचियों से आक्रान्ताओं ने उन्हें काटकर दासी बना दिया है। उनके चेहरे धूल से ढक गए हैं। महलों में विहार करने वाली, पलंग पर बैठ कर छुहारे-गरी खाने वाली सुन्दरियों के गले में रस्सी बाँध खींचा जा रहा है, उनकी मोतियों की माला टूट-टूट कर बिखर गई हैं-

जिन सिरि सोहनि परीआ माँगी पाइ संघूरु,
से सिरि काती मुनीअन्हि गल विचि आवै धूरू ।
महला अंदर होरीआ हुणि बहणि न मिलन्ह हदूरि।
गरी छुहारे खांदीआ माणन्हि सेजड़ीजा,
तिन्ह गल सिलका पाईना तुरन्हि मोतसरीआ ।।

इसी प्रकार तुलसीदास जी ने कवितावली में लिखा-किसान को खेती नहीं, भिखारी को भीख नहीं मिलती, प्रजा भूख से बिलबिलाती है। व्यापार चौपट हो गया है, नौकरी से पेट नहीं भरता। नौकरी भी नहीं मिलती। लोगों के पास जीविका के साधन नहीं। एक दूसरे से पूछते हैं, कहाँ जाएँ, क्या करें?

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहें एक एकन सों कहां जाई का करी ।।

यह तत्कालीन राजनीतिक लूटपाट तथा शोषित समाज की दशा का चित्र है जिसे नानक, श्रीचन्द्र तथा तुलसीदास ने बेबाक रूप से प्रस्तुत किया है। कमर में जहाँ बाँधने को कपड़ा भी नसीब न हो तथा पेट जहाँ कभी

भरता न हो, वह समाज गहरे अधर्म की नींव पर खड़ा है-

नहिं कटि पट नहिं पेट अधाहीं ।

डा0 ईश्वरी प्रसाद ने खिलजी शासकों के हिन्दुओं के प्रति व्यवहार को रेखांकित करते हुए लिखा है कि राज्य की नीति यह थी कि हिन्दुओं के पास इतनी सम्पत्ति ही न हो कि वे घोड़े पर चढ़ सकें, सुन्दर कपड़े पहन सकें, हथियार रख सकें अथवा विलासमय जीवन व्यतीत कर सकें। वे इतने दीन हो गए थे कि खूतों और मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घर सेवा कार्य करती थीं। [1] तुगलक वंशी बादशाहों के सम्बन्ध में बर्नी के साक्ष्य से लिखा है- 'बर्नी के अनुसार दोआब के कर लोगों की राय से कहीं अधिक बढ़ गए थे और कुछ दमनकारी अब्बाबों (दंडकर) का भी आविष्कार हुआ जिन्होंने प्रजा की कमर तोड़ दी और उसे अत्यन्त दीन और निर्धन कर दिया'। [2] फीरोज ने यह भी नियम बनाया था कि इस्लामी सेना जो लूट का माल लाए वह शरीयत के अनुसार सिपाहियों और राज्य में बाँट दे। तैमूर के आक्रमण के समय सुलतान के बारे में कहा गया है कि वह सारा समय भोग-विलास में ही व्यतीत करता था। दिल्ली में अफगान शासक इब्राहीम लोदी की हुकूमत से भी सर्वत्र असंतोष फैला हुआ था। इब्राहीम के निर्दय व्यवहार से चिढ़कर दौलत खाँ और उसके पुत्र ने बाबर को आक्रमण के लिए न्यौता भिजवाया। बाबर ने विजयी होकर दिल्ली और आगरे को लूटा। भेंटे मक्का और मदीना भेजी गईं। काबुल के प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक चाँदी का रुपया दिया गया। धार्मिक विचार की दृष्टि से बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था। हिन्दुओं का उल्लेख भी उसने घृणा पूर्वक शब्दों में किया है और जिहाद को एक धार्मिक कार्य बताया है। [3] शेरशाह सूरी का बेटा सलीम शाह भी धर्मान्ध तथा दमनकारी था।

1- मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास - पृष्ठ 123

2- वही, पृष्ठ 136

3- वही, पृष्ठ 292

अकबर के समय ही ख्वाजा मंसूर को प्राणदण्ड मिला। जहाँगीर विलास प्रिय था। सलीम के पुत्र खुसरो ने सलीम (जहांगीर) के विरूद्ध विद्रोह किया। सलीम ने स्वयं अकबर के विरूद्ध विद्रोह किया था। सारी राजनीति षड्यंत्रों के तहत चल रही थी। जहाँगीर के शासनकाल में उत्तरभारत में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। आठ वर्ष तक इस बीमारी ने गाँव-गाँव तबाह कर डाले। सरटामस रो ने लिखा हे कि राज्य भर में सर्वत्र घूसखोरी का बाजार गर्म था। [1] श्रीचन्द्र जी ने अपने पद में इस बढ़ी या घूसखोरी का अच्छा चित्रण किया है। क्रुद्ध होने पर वह कभी-कभी बड़ा निर्दयी हो जाता था पर हिन्दू योगियों से बहुत सम्पर्क रखता था फिर भी एक बार जब उसे यह मालूम हुआ कि कुछ मुसलमान एक हिन्दू संन्यासी के उपदेशों से प्रभावित हो गए थे उसने उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया। [2] वह दूसरों के हाथ की कठपुतली था। शासन उसके नाम से चल रहा था।

विचारणीय बात यह है कि यह हिन्दू महात्मा कौन था? इतिहासकार इसका विवरण नहीं देते। पर उदासीन सम्प्रदाय में यह बात प्रसिद्ध है कि वह संत श्रीचन्द्र ही थे। शहंशाह जहाँगीर कादराबाद (आजकल नानक चक) जिला गुरुदासपुर में भगवान् श्रीचन्द्र के चरणों में प्रथमबार सपरिवार शाही भेंट लेकर उपस्थित हुआ था। यह वही स्थान है जहाँ जहाँगीर ने सात सौ बीघे जमीन का पट्टा बाबा धर्मचन्द के नाम से लिखा था किन्तु जब मुसलमान उनके अनुयायी होने लगे तब मुस्लिम धर्माचार्यों के दबाव में जहाँगीर ने सैनिकों तथा हाथी सहित अधिकारियों को श्रीचन्द्र जी को बलात् लेने के लिए भिजवाया। श्रीचन्द्र जी ने कहा- पहले यह हाथी हमारा कम्बल उठाए तब हम चलेंगे। सैनिकों सहित हाथी कम्बल न उठा सका। श्रीचन्द्र जी ने कहा कि बादशाह का हाथी हमारा कम्बल ही नहीं उठा सकता है तो हमें किस तरह उठाकर हठात् लाहौर ले जाएगा। उन्होंने कहा-

1- मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास - पृष्ठ 385
2- वही, पृष्ठ 393

हम चाकर गोविन्द करै जां को सगलाराज,
खावहिं भोगहिं प्रभु केरा जग ते बेमुहिताज ।

पातशाहां का शाह ।
जां का राखा हरि प्रभु धनी तां को क्या परवाह । ।रहाऊ।।
आये सब विधि बणत बणाय अचरज कौतुक थाप,
गहरे वीआवान जंगल भोज पुजाये आप ।
जानणहारा जहां नहीं तहां करतार सोय,
जहां देस नहिं जन्म भूमि तहां पछाणू होय ।
मातृभाषा नहीं जानते मुणमुणी बकत बाक,
तहां प्रतिपालक श्रीचन्द्र का ठाढ़ा है बेबाक ।।

तुर्की तथा अरबी-फारसी बोलने वाले इन सैनिकों को मातृभाषा में क्या समझाएँ? यह तो यवनी भाषा बोलने वाले हैं पर श्रीचन्द्र क्यों विचलित हों? उनका रक्षक तो प्रतिफल उनके साथ खड़ा है। सिद्धान्तसागर के एक पद में वह लिखते हैं कि सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र सब ब्यर्थ हो गए। ब्रह्मकवच जो भगवान् धारण किए हुए थे-

कृपा अपनी आपे ही करि दासां राखी लाज,
अपना स्वांग आप निवाहयो प्रभु गरीब निवाज ।

दुष्ट दूत गए हार ।
अन्ध भये करते प्रभु कीये चहुं दिसि खैंची कार । ।रहाऊ।।
अस्त्र शस्त्र सब भये व्यर्थ पाहन कीने फूल,
आग्नेय आवत लखत भये बरस मिटावत धूल ।
मुदगर गुर्ज गदा है हथ्थी भाले तुपुक कृपाण,
निष्फल भये परस परधे सब चक्र भाल धनुष बाण ।
ब्रह्म कवच कीनो अभिमंत्रित चहुंधा कृपा मुरार,
श्रीचन्द्र को राख्यो कर दै करणहार करतार ।।

शाहजहां के समय भी हिन्दुओं का दमन हुआ। हिन्दुओं पर तीर्थ यात्रा आदि के धार्मिक कर लगते थे। जो तीर्थयात्री प्रयाग जाते थे, उनसे सरकार सवा छह रुपये वसूल करती थी। मृत हिन्दुओं की हड्डियों को

गंगा में डालने के लिए भी कर देना पड़ता था।[1] बर्नियर के साक्ष्य पर डा0 ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि स्थानीय अधिकारियों का प्रजा पर इतना प्रबल एकाधिकार था कि उनके द्वारा सताई हुई प्रजा कहीं प्रार्थना नहीं कर सकती थी।[2] वह आगे लिखते हैं कि अमीर कारीगरों को पूरी मजदूरी नहीं देते थे और कभी कभी तो उचित मजदूरी के बदले कोड़े ही मिलते थे। साम्राज्य की स्थिति आर्थिक दृष्टि से क्षीण हो रही थी। बादशाहकी इमारतों और युद्धों में बहुत सा रुपया व्यय हो गया। अमीर और जागीरदार अशक्त होने लगे। अपव्ययता ने उन्हें भी दुर्बल कर दिया था। अब मुगल मनसबदारों की प्रतिभा पहले सी न थी। न उनके पास अधिक रुपया ही था। केन्द्रीय शासन का निरीक्षण भी कम हो रहा था। इस आर्थिक स्थिति का साम्राज्य के भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ा।[3]

इस प्रकार निरन्तर लड़ाइयों, आपसी कुचक्रों, षडयंत्रों, आतंक, दमन, स्वैराचार, विलासिता, असमानता तथा मुस्लिम धार्मिक कट्टरता ने हिन्दुत्व को संगठित करने में ऋणात्मक भूमिका अदा की। सिख गुरुओं ने, समर्थस्वामी रामदास तथा शिवाजी ने, श्रीचन्द्र जी तथा राणाप्रताप ने, स्वामी प्राणनाथ तथा छत्रसाल ने विधर्मी शासन के ताबूत में वह कील ठोंकी जिसने साम्राज्य को पतन के गहरे अंधकार में ढकेल दिया। राजनीतिक जागरण की दृष्टि से श्रीचन्द्र की वाणी ने अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाया। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल सल्तनत ही नहीं भारतीय जनजीवन को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। हिन्दुत्व के पुनरुत्थान में संत वाणी की भूमिका को नज़र अन्दाज नहीं किया जा सकता।

★ ★ ★ ★

1- *मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास - पृष्ठ 431*
2- *वही, पृष्ठ 431*
3- *वही, पृष्ठ 435*

पंचदेवोपासना की अवधारणा

श्रौतमुनि चरितामृत के अनुसार उदासीन सम्प्रदाय में पंचदेवोपासना की मान्यता है। अन्य पंच देवोपासक अपने इष्ट को मध्य में रखकर शेष चार देवताओं की उपासना करते हैं पर श्री चन्द्रानुयायी पाँचों देवताओं के प्रति समान इष्ट भावना रखते हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य तथा सौर-सम्प्रदाय-मतावलम्बियों से उनकी यह पृथक् दृष्टि है। शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु तथा सूर्य में से तत्तत् सम्प्रदाय के लोग किसी एक को प्रधान देवता मानते हैं। नारद पुराण में (13/65) इन पाँचों देवताओं के समान पूजन की व्यवस्था दी गई है-

> आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्,
> पंच देवतमित्युक्तं सर्वकर्मषु पूजयेत् ।

पंचदेवोपासना विश्वात्म दृष्टि के विकास का फल है। देह-शुद्धि के लिए भी इन देवताओं की उपासना आवश्यक मानी गई है। मूलाधार चक्र में भूमितत्त्व का निवास माना जाता है, स्वाधिष्ठान में जलतत्त्व, मणिपूर चक्र में अग्नितत्त्व, अनाहत चक्र में वायु तत्त्व तथा विशुद्ध चक्र में आकाश तत्त्व की स्थिति मानी गई है। इसके बाद आज्ञा चक्र (भ्रूमध्य) में मन का निवास बताया गया है। शाक्तानन्द तरंगिणी में लिखा है-

> मूलाधारे स्थिता भूमिः स्वाधिष्ठाने जलं प्रिये,
> मणिपूरे स्थितं तेजो हृदये वायवस्तथा,
> विशुद्धौ तु महेशानि आकाशं कमलेक्षणे,
> आज्ञा चक्रे महेशानि मनः सर्वार्थ साधनम् ।।

योगशास्त्र में यद्यपि इन चक्रों के अधिष्ठातृ देवता पृथक् पृथक् माने गए हैं पर पुराण में आकाश तत्त्व का स्वामी विष्णु, अग्नि तत्त्व की दुर्गा, वायु तत्त्व का सूर्य, पृथ्वी तत्त्व का शिव तथा जल तत्त्व का स्वामी गणेश कहा गया है-

आकाशस्याधिपो विष्णुः अग्नेश्चैव महेश्वरी,
वायो सूर्यः क्षितेरीशः जीवनस्य गणाधिपः ।

योगमार्गी उपासक को भी योग की निर्विघ्न सिद्धि के लिए इन पाँच देवताओं की उपासना करना अभीष्ट समझा जाता है। पंचमुखी गायत्री की उपासना में इन पाँचों देवताओं का समावेश माना गया है। मध्यकाल में पंचायतन पूजा को कुमारिल भट्ट, आचार्य शंकर तथा आचार्य रामानन्द जी ने भी स्वीकार किया। तुलसीदास जी ने भी अयोध्या निवासियों से पंचदेवताओं की उपासना कराई है-

करि मज्जन पूजहिं नर नारी,
गनप, गौरि, तिपुरारि, तमारी ।
रमारमन पद बंदि बहोरी,
बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ।।

श्रीचन्द्र जी ने शब्द सुधा में '*सिवसुत चरनकमल मन भौंरा*', '*हेम कूट भव गौरि किसोरी*', '*श्रीचन्द्र गंगाधर गुन गावे*', '*सूर्यदेव आरती तिहारी*' तथा '*रमारमन जप सारंगपानी*' शीर्षक पदों में पाँचों देवताओं की स्तुति लिखी है। सिद्धान्त सागर में भी देव-वन्दना है पर फुटकर रूप में। शिव वन्दना देखिए-

शिव शिव रटते कार्य सिद्ध, शिव शिव जपत सर्वसुख निधि,
शिव शिव रटतै आनन्दधाम, शिव शिव जपत पूर्ण सभ काम ।
शिवाय नमस्ते शिवाय नमः ।
अह निसि नित प्रति शिव शिव जापियै, चिन्ता सागर माहि न भ्रमह। ।रहाऊ।।
शिव शिव जपते निश्चल धाम, शिव शिव जपत टरत दुख जाम,
शिव शिव जपते नित कल्याण, शिव शिव जपते गुणी निधान ।
शिव शिव जपते दस अष्ट सिधाई, शिव शिव जपते नवनिधि पाई,
शिव शिव जपते तुरियातीत, शिव शिव जपते पंच ते जीत ।
शिव शिव जपियै पूरण भाग, शिव शिव जपियै निसि दिन जाग,
शिव शिव जापै जिस अनुराग, श्रीचन्द्र तिस परम सुभाग ।।

अन्य देवताओं का उलेख सिद्धान्तसागर की इन पंक्तियों में मिलता है-

> चौदहि भुवन तीनहुं लोक ।
> सप्त दीप नवखंडधरा सागर सप्त पाताल अटोक । ।रहाऊ।।
> देव दैत्य नर राक्षस यक्ष किन्नर गंधर्व गण आदित्य,
> ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणपति, अष्टभुजी दुर्गा समचित्य ।।

यहाँ आदित्य, विष्णु, रुद्र, गणपति तथा दुर्गा का उल्लेख पंच देवताओं के रूप में हुआ है। श्री विष्णु के स्वरूप श्रीकृष्ण की महिमा भी यत्र तत्र वर्णित है। एक पद लीजिए-

> प्रभु त्रिभंगी छैल छबीला, आनंद विनोदी रंग रंगीला ।
> अपनी रास रचाई लीला, पेखत मोही गोपी जीऊ ।
> मनमोहन घनश्याम गुसांई, केसी कंस चाणूरहि घाई ।
> जरासन्ध कालयमन हताई, रसक रसीला चोपी जीऊ ।
> बंसीधर गोवरधन धारी, पीताम्बर माया बिसतारी ।
> राधा रमण गमन पुरिद्वारी, सर्व समाना ओपी जीऊ ।
> सारंगधर पथ रथ हाक्या, माखन चोर तोखिता मया ।
> रुक्मणी हरण चरैया गैया, श्रीचन्द्र उर थोपी जीऊ ।।

हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त श्रीचन्द्राचार्य ने संस्कृत में पंच देवाष्टकों की भी रचना की है। इनमें *गणेशाष्टक, महेश्वराष्टक, सूर्याष्टक, दुर्गाष्टक* तथा *कृष्णाष्टक* की गणना होती हैं एक-एक श्लोक उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत है-

श्री गणेश वन्दना

> कपित्थ जम्बूफल चारु रोचनम्,
> षट् पाश बद्धस्य जनस्य मोचनम् ।
> विवेक-वैराग्य-विचार-लोचनम्,
> नमामि नागानन पादपङ्कजम् ।।

अर्थात् कैथ, जामुन के सुन्दर स्वादिष्ट फल जिन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, जो छह पाशों में बँधे मनुष्य को मुक्त करने वाले हैं। विवेक, वैराग्य तथा विचार रूपी तीन नेत्रों को धारण करने वाले हैं, जिनके कबन्ध पर हाथी का शिर सुशोभित है, उन श्री गणेश जी के चरण कमलों में मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

श्री महेश्वर वन्दना

शशाङ्क मौलिं सितभस्मरूषितम्,
भुजंगभूषावलयैर्विभूषितम् ।
गजेन्द्र चर्माम्बरमम्बिकापतिम्,
नमामि विद्याधिपतिं महेश्वरम् ।।

अर्थात् जिनके मस्तक पर चन्द्रमा का मुकुट सुशोभित है, जिनकी देह पर सफेद भस्म मली हुई है, जिनके हाथों में सर्पों के कंकण सुशोभित हो रहे हैं, गजेन्द्र का चर्म ही जिनके वस्त्र का कार्य कर रहा है, जो माता पार्वती के स्वामी हैं- ऐसे विद्या के स्वामी श्री शिव को मैं नमन करता हूँ। यहाँ *'ईशानः सर्वविद्यानाम्'* श्रुति के भाव की रक्षा के लिए श्री शिव को विद्याधिपति कहा गया है।

श्री सूर्य वन्दना

आकृष्ण वर्त्मान्तर चारिगौरवै-
र्गुरुं प्रसूति स्थितिनाशकारणम् ।
विद्यात्रि नारायणशङ्करात्कम्,
सहस्रभानुं प्रणमाम्यहं रविम् ।।

अर्थात् अपनी महत्वपूर्ण ज्योति के द्वारा राहु तक अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले, देवगुरु बृहस्पति की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद (विद्यात्रयी) में वर्णित शिव-विष्णु स्वरूप एवं हजारों किरणों के पुंज भगवान् सूर्यनारायण को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी *'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्'* श्रुति के भाव का पोषण किया गया है।

श्री दुर्गा वन्दना

अनारतं यां विदुरन्न पूर्णिकाम्,
विदग्ध लीलोचित चारु चन्द्रिकाम् ।
अशेष मांगल्य निधिं पराम्बिकाम्,
नमामि दुर्गां करुणाम्बिकां शिवाम् ।।

अर्थात् निरन्तर अन्न प्रदान करने के कारण लोग जिन्हें अन्नपूर्णा कहते हैं। सृष्टि रचना में दक्ष परमेश्वर की लीला रूपी कुमुदनी को विकसित करने में चन्द्रमा की चाँदनी के समान, मंगल प्रदान करने वाली समस्त ऋद्धियों तथा सिद्धियों को प्रदान करने वाली परामातृका रूप दुर्गा माँ को मैं प्रणाम करता हूँ जो जगज्जननी हैं तथा जिनका हृदय प्रपन्न भक्तों पर कृपा करने के लिए करुणा से भरा रहता है।

श्री कृष्ण वन्दना

प्रियां समालिंगित विग्रहश्रिया,
श्रियां निधानं शिखिपिच्छशेखरम् ।
क्वणत्पदाभ्योरुहनूपुरादिकम्,
नमामि कृष्णं यदुवंश नायकम् ।।

अर्थात् श्रीराधा जी का आलिंगन करने से, उन्हीं की कान्ति से जिनका श्रीविग्रहसुशोभित हो रहा है, जो साक्षात् सौन्दर्य के भण्डार हैं, मोर पंख का मुकुट धारण करने वाले हैं, जिनके चरणकमलों के नूपुर रूनझुन का मनोरम स्वर करते रहते हैं, उन यदुवंश शिरोमणि श्रीकृष्ण को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

वृषार्कजापाद रजोऽभिलाषुकम्,
स्वधर्मरक्षार्थमुदीरविग्रहम् ।
मदान्धकंसादिविमोक्षकारकम्,
नमामि कृष्णं यदुवंशनायकम् ।।

अर्थात् वृषार्क (वृषभानुगोप) की पुत्री श्री राधिका जी के चरण कमलों की धूलि की इच्छा करने वाले स्वधर्म अर्थात् अवतार की शपथ का

निर्वाह करने वाले, धर्मरक्षा रूप प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए अवतार धारण करने वाले, अहंकारी कंस आदि राक्षसों का संहार कर उन्हें भी मोक्ष प्रदान करने वाले यदुवंश नायक श्री कृष्ण की मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ। संस्कृत कवि जयदेव जिसकी रचना ग्रंथ साहिब में संकलित है, योग के पारिभाषिक शब्दों से युक्त है। गीतगोविन्द उनकी प्रसिद्ध रचना है। श्री कृष्ण वहाँ राधा के पाँव पलोटते दिखाई पड़ते हैं- '*देहि मे पदपल्लवमुदारम्*'। श्रीचन्द्र जी ने यहाँ इसी भाव का समर्थन किया है। दशावतारों में मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की गणना की जाती है। गीतगोविन्दकार जयदेव ने अपनी वाणी में दशावतारों का निरूपण किया है। राहुल जी ने हिन्दी काव्यधारा में तेरहवीं शती के एक अपभ्रंश कवि के दशावतार निरूपण का उल्लेख किया है। गोरख बानी में भी दशावतार का संकेत है-

बिस्नु दस अवतार थाप्या,
असाध कन्द्रप जती गोरखनाथ साध्या ।

गुरु अर्जुनदेव ने '*धरणीधर ईंस नरसिंध नारायण, दाढ़ा अग्रे प्रिथमी धराइण, बावन रूपु कीआ तुधु करते*' लिख कर दशावतार चित्रण की परम्परा का पालन किया है। यद्यपि अवतारवाद संत परम्परा में अमान्य है। कबीर ने '*दस अवतार ईसरी माया*', मलूकदास ने '*दस अवतार कहां ते आए*' तथा सुन्दरदास ने 'कहत दस औतार जग में औतरे आई, *काल तेऊ झपटि लीने बस नहीं कोई*' कहकर अपनी अरुचि प्रदर्शित की है पर श्रीचन्द्र जी ने सिद्धान्तसागर में हरि की महत्ताप्रतिपादित करते हुए इन अवतारों का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गंगा, यमुना, हनुमान तथा राम की वन्दना भी की है। कहना यह है कि श्रीचन्द्र जी ने पौराणिक स्मार्त भावना की रक्षा करते हुए एक अलख पुरुष के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं का भी श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

धूने की महत्ता : ब्रह्मदर्शन की वेदी

नाथ सिद्धों में धूनी जलाकर तप करने की परम्परा रही है। उदासीन सम्प्रदाय में भी '*धूणा*' महत्वपूर्ण समझा गया है। श्रौत मुनियों में अग्निहोत्र करना धर्म समझा जाता है। भागवत के एकादश स्कन्ध में आया है-

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्,
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ।

यह व्यवस्था नैगम या वेदवादियों ने की है। श्रीमद्भागवत में परमेश्वर की अर्चा करने के लिए मूर्ति तथा वेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि को माध्यम बताया गया है। '*आचार्य स्थंडिले अग्नौ*' तथा '*अग्नौगुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्*' जैसी उक्तियों से अग्नि-वेदी पर ब्रह्मार्चन का विधान श्रुति सम्मत है। श्रीचन्द्र जी ने धूणे को '*स्थंडिल स्थित अग्नि*' का रूप प्रदान किया। अग्नि की शिखाओं में उन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कार का विधान किया। यजुर्वेद की यह श्रुति उनके सामने थी-

यत्ते पवित्रमर्चिषि, अग्नेविततमन्तरा
ब्रह्म तेन पुनातु मा ।

अर्थात् हे अग्नि! जो तेरी पवित्र लपटों के अन्तर्गत ब्रह्मविस्तीर्ण है, उससे आप मुझे पवित्र करें। निर्वाण साधु अग्नि ज्वाला में निहित् ब्रह्मदर्शन से ही पवित्र हो जाता है। यह अग्न्याधान उदासी साधु की साधना का अनिवार्य अंग है। इसी की भस्म धारण कर वह शिवस्वरूप होता है। मात्रा में इसे '*शर्म की मुद्रा*' या शर्व (शिव) की विभूति (भस्म) कहा जाता है। ऋग्वेद में '*अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा*' कहकर अग्नि को ज्ञानरूप बताया गया है। केनोपनिषद् में भी अग्नि जातवेदा ही कहा गया है- जातवेदा वा अहमस्तीति। ब्रह्म का साक्षात्कार तथा संवाद पाने के कारण ही अग्नि को ब्रह्म रूप समझा गया है। समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श कर लेने से वह ब्रह्म-दर्शन का सामर्थ्य पा गया है। श्रीचन्द्र जी

ने इसीलिए धूने को ब्रह्म प्राप्ति का साधन माना है। उन्होंने सिद्धान्तसागर में कहा है-

काष्ठ अगनि तरू तर जारै, बड़वा सोखै रतन भंडारै,
रतनन अगनि फूट तनजाय, परवत माँह दरेड़े पाय ।

अगनि सर्व भव महि सरताज ।
धरणी अगनि वनस्पति मौली आपहि अग्नी आप निवाज। ।।रहाऊ।।
खग अगनी मृत लीन पचाई, तन अगनी देह भस्म कराई,
पाहन अगनी पाहन नासा, वारिद अगनी जगत् प्रभासा ।
लोह अगनी धर कीन दुखण्ड, तप अगनी सों तेज प्रचंड,
जप अगनी कार्य किय सिध, अगनी संयोग-गाँठ की विधि ।
धूणें अगनी देव प्रत्यक्ष, नैनअगनि सों चालतपंथ,
श्रीचन्द्र अग्नि भवसार, जन्म मरण के संकटटार ।।

अर्थात् अग्नि की सर्वत्र सत्ता है, वन में दावाग्नि, जल में बड़वाग्नि, पेट में जठराग्नि, पर्वत में रत्नाग्नि, चिता पर कव्याद, संयोग-गाँठ पर गार्हपत्याग्नि, मेघों में विद्युत् तथा जप के समय नादाग्नि के रूप में उसका अनुभव होता है। धूने में अग्नि प्रत्यक्ष देवता है। वह ज्ञानाग्नि रूप होकर अज्ञान को जला देता है। यह अग्नि जिसके हृदय में जल रही है वही इसे जानता है-

श्रीचन्द्र नाहीं लागी बूझै, बिन अगनि नेह अवर न सूझै ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार '*अग्निर्वैदेवानां प्रथमं यजेत्*' कहकर अग्नि को ही प्रथम पूज्य माना गया है। कहना यह कि धूने के रूप में श्रीचन्द्र जी ने श्रौतयज्ञ की परम्परा को पुनः जीवित किया। यज्ञों का आडम्बरी रूप उन्हें प्रिय न था। उपनिषदों में भी इस जटिल कर्मकाण्ड का विरोध हो चुका था। सोलह ऋत्विक, दो यजमान-यजमानी रूप अठारह यज्ञ के साधन अस्थिर तथा नश्वर बताए गए थे। ज्ञानरहित होने के कारण केवल यज्ञ को ही मोक्ष का साधन नहीं समझा जा सकता। ये तो छिद्रवाली नौकाएं हैं, इनसे भवसागर से पार नहीं जाया जा सकता। मुण्डक कहता है-

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त प्रवरं येषु कर्म ।

शतपथ ब्राह्मण ने यज्ञों को स्वर्ग की नौका बताया था पर बाद में यज्ञ इतने जटिल हो गए कि इन्हें बंधन का कारण कहा जाने लगा। उपनिषदों में इनके प्रति विद्रोह की भावना पूर्णरूप से झलकती है। मध्यकाल में यज्ञादिकर्म पुरोहितों के पेट भरने के साधन बन गए। सिद्धान्तसागर में ऐसे आयोजनों की हँसी उड़ाई गई है।

लूट खसोट द्रव्य करि एकतु यज्ञ अनल प्रजलाई,
ब्रह्मा रित्विज उदगीथी आ रिचा उचार सुनाई,
धन की ध्वनि रहि दह दिसि छाई ।

मेरा मानना है कि श्रीचन्द्र जी महाराज ने धूने के रूप में श्रौतयज्ञ भावना तथा स्मार्त स्थंडिल अग्नि रूप देव पूजा का समर्थन कर द्रव्य यज्ञ को नया स्वरूप प्रदान किया। अपने युग के संतों में यह बिल्कुल भिन्न दृष्टि थी।

धूनी जलाने का उद्देश्य बड़ा व्यापक है। योगदृष्टि से शरीर में नाभिस्थान पर परमात्मा अग्निरूप से विद्यमान रहते हैं। गीता में वैश्वानर रूप होकर परमात्मा चार प्रकार के अन्नों को यहीं पचाते हैं, ऐसा कहा गया है। याज्ञवल्क्य संहिता के चतुर्थ अध्याय में भी भगवान् का कथन है कि वही प्राणिमात्र के नाभिस्थान में अग्नि रूप से विद्यमान रहते हैं तथा जठराग्नि बन कर प्राण-अपान के संयोग से खाए हुए पदार्थ को हवि की तरह पचाते हैं। मनुष्यों के नाभिस्थान में अग्नि वास त्रिकोण में, पशुओं में चतुष्कोण में तथा पक्षियों में वृत्ताकार होता है। कुंभक प्राणायाम द्वारा यह अग्नि तपते हुए स्वर्ण की तरह प्रकाशवाली होती है, इसी समय प्राणाग्नि रूप हवन से इस प्रकाश का दर्शन होता है-

देहमध्ये शिखि स्थानं तप्तजाम्बुनदप्रभम्,
त्रिकोणं मनुष्याणां चतुरस्त्रं चतुष्पदाम् ।

• • •

मण्डलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते,
तन्मये तु शिखातन्वी सदातिष्ठति पावकः ।

योगी को यह नित्य होम देह की वेदी पर करना पड़ता है। इन्द्रियों के विषयों की हवि यहाँ ब्रह्माग्नि में होमनी पड़ती है। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की वृद्धि इसी क्रिया द्वारा संभव है। श्रीचन्द्र जी ने अपनी द्वितीय मात्रा में लिखा भी है-

धूनी भगत योग वैरागं,
अमर सिद्ध जो अहनिसि जागं ।

तीसरी मात्रा में वह कहते हैं-

तपै तेज पावक जगे जोत जोतम्,
तबै इह धूंआ अचल सिद्ध होतम् ।

★ ★ ★ ★

श्रीचन्द्र-दर्शन

वेदमूर्ति स्वामी गंगेश्वरानन्द जी महाराज तथा दर्शन शास्त्री डा0 किशोर स्वामी ने भक्ति ज्ञान समुच्चयवाद एवं श्रीचन्द्र दर्शन पर प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। डा0 किशोर स्वामी की कृति 'भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा' के नवीन संस्करण में श्रीचन्द्र दर्शन के मूलश्लोक संकलित कर दिए गए हैं। श्रीचन्द्र जी की मान्यता है कि श्रौत सिद्धान्तानुसार उदासीन जीव की मुक्ति के लिए भक्ति-ज्ञान समुच्चय की आवश्यकता है। भक्ति और ज्ञान के अभ्यास से स्वयं प्रकाश आत्मा का दर्शन होता है। इसके लिए श्रुति तथा स्मृति दोनों प्रमाण हैं। यजुर्वेद (4/14) का मंत्र है-

अग्नेत्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि,
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ।

अर्थात् हे अग्निदेव परमेश्वर ! बस तुम ही जागते रहते हो, हम जीव

तुम्हारी शरण में निश्चिन्त होकर सोते रहते हैं। माया के अंक में सोते हुए हम प्रमादियों को प्रमादरूपी असुरों से बचाना। अपने स्वरूप की विस्मृति ही प्रमाद है अतः हमें प्रबुद्ध कर, जगाकर अपने स्वरूप में स्थित कर देना। आप प्रमाद रहित हो अतः हमारी रक्षा करना। यहाँ मायारात्रि है, अज्ञान अंधकार मयी निद्रा है तथा उससे जागरण ज्ञान का प्रभाव है। रक्षा की प्रार्थना शरणागति है जो भक्ति का प्रबल आधार है। इस प्रकार ज्ञान-भक्ति की एकत्र आवश्यकता का अनुभव मुमुक्ष जीवात्मा को होता है। *'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'* श्रुति के अनुसार भी अग्निदेव आप ही मुझे अनृत (संसार) से हटाकर सत्य (परमेश्वर) को प्राप्त कराएँगे। ज्ञान द्वारा संसार की अनित्यता का बोध तथा त्याग एवं ईश्वरीय कृपा द्वारा सत्य की प्राप्ति भक्ति साध्य है, यह भक्ति रूप व्रत उनकी कृपा के बिना संभव नहीं *'तच्छकेयम् तन्मे राध्यताम्'* (यजु0 1/5) श्रुति कृपा में भक्ति का समर्थन करती है। कृपा के बिना जीवात्मा भक्तिव्रत पालन में असमर्थ है। अतः यहाँ भी ज्ञान-भक्ति का सहभाव प्रदर्शित है। ज्ञान स्वरूप अग्नि ही श्रद्धा तथा बुद्धि को प्रदान करता है। अथर्व की श्रुति (19/64/1) में अग्नि से यही प्रार्थना की गई है। प्रश्नोपनिषद् में *'मातेवपुत्रान्रक्षस्व श्रीश्चप्रज्ञां च विधेहि न इति'* में रक्षा तथा ज्ञान अर्थात् भक्ति एवं ज्ञान की याचना इसी उद्देश्य से की गई है।

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे,
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ।

बृहत जात वेदा का अर्थ ब्रह्म है क्योंकि वह ज्ञानमय है, वह जगत् का उपबृंहण या विस्तार करता है, वह जातमात्र को जानता है, वह जातमात्र का पिता तथा जातमात्र उसका पुत्र है। उसके साथ पिता-पुत्र का सम्बन्ध है- *'सनोबंधुर्जनिता स विधाता'* श्रुति इस भाव का समर्थन करती है। उसी से इस जगत् की सत्ता है, वह सर्वत्र है तथा प्रत्येक दृश्य-अदृश्य में वह विद्यमान है-

जगत्सर्वं शक्त्या विरचयति यद् बृंहयति च,
बृहत्ख्यातं तिष्ठत्यखिलमपि तद्व्याप्य परितः,

दिनेशे राकेशे द्रुमगिरिसरिन्नीरनिधिषु,
वसन्त्यन्तः सर्वस्यबहिरथ तद् ब्रह्म मनुताम् ।

अर्थात् जो परम सत्य, जो परमात्मा अपनी ज्ञान-शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है, उसका विस्तार करता है और जो समस्त ब्रह्माण्ड को चारों ओर से व्याप्त करके, उसके भीतर प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित रहता है, जिसमें सब हैं, जो सबमें है वह व्यापक होने के कारण ब्रह्म कहलाता है। अतः जो सूर्य, चन्द्रमा, वृक्ष, वनस्पति, पर्वत, नदी, नद, समुद्र आदि के भीतर भी रहता है और बाहर भी रहता है। वह ब्रह्म है, ऐसा जानना चाहिए। जो उसको जान लेता है, वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। कठोपनिषद् कहता है कि '*तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येतिकश्चन्*' अर्थात् उसी ब्रह्म में शुक्तिरजत की तरह सभी लोक आश्रित हैं, उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, निश्चय यही वह वृक्ष है। सिद्धान्त सागर में भी उन्होंने कहा है-

सर्व लोक पूर्ण प्रभु स्वामी ।
सकलघटाँ के अन्तर्यामी । ।रहाऊ।।
कारण करण हार करतार, संत जनां के प्राण अधार ।
प्रतिपालक सकले जियजंतु, जगत् उद्धारण जाका मंतु ।
आदि पुरुष सब कालहिं सिद्ध, आन न जा समहोये वृद्ध ।
गुणनिधान पूरण परमेश, तीन लोक महि अमिट अदेश ।
वण तृण व्यापक ज्ञापक सोय, अंग अंग श्रीचन्द्र रमोय ।।

• • •

मन अन्तर सगला ब्रह्मंड, सात पाताल अकास नव खण्ड ।
सातों द्वीप अरु चौदह लोक, तीन भवन सब देवन ओक ।
पार ब्रह्म का मनमहिं बास ।
राम सिमर ते होवहिं भास । ।रहाऊ।।
पुरियां नदियां पावन धाम, सागर मेदनी पर्वत ठाम,

चिरजीवी ऋषि सूरज चंद, उडुगन अनिक तार तम मंद ।
रिधि सिधि नवनिधी सुहाई, लख चौरासीह योनि सबाई,
इन्द्र कुबेर यक्ष राक्षस, किन्नर गंधर्व भोगन भक्षस ।
ब्रह्म विष्णु शिव सनत्कुमार, अज पृथु दशरथ अंशावतार,
गोपी कृष्ण राम सिय राजे, श्रीचन्द्र के मनहिं विराजै ।।

ब्रह्म ने इन सबके साथ ब्रह्माण्ड की रचना की। वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पिण्ड में है। परमात्मा ने अपने आपको जीवात्मा की देह में छिपा लिया है।

पार ब्रह्म करतार आप लुकाया जीऊ,
परदा गर्भ पसार जीव बनाया जीऊ ।

अपनी अन्य कृति 'शब्द सुधा' में ब्रह्म का निरूपण करते हुए श्रीचन्द्र जी ने कहा है- चित् अचित् उभय रूप ब्रह्म का स्वरूप मुझे प्रिय लगता है। वह एक सत्ता है, चित्त और अचित् उसमें उसी तरह रहते हैं। जैसे प्रातःकालीन आकाश में लाली और स्याही एक साथ रहती हैं। भूसी और दाना मिल कर जैसे धान कहलाते हैं, उसी प्रकार नित्य सम्बद्ध सत् असत् (चित् अचित्) उभयात्मक ब्रह्म से ही प्रपंच की रचना होती है। सत् का निर्धारण चित् अचित् के समन्वय से है। दोनों में यद्यपि भेद भासता है पर एक सत्ता से सम्बद्ध होने के कारण दोनों में अभेद रहता है। इनमें कौन धर्म है कौन धर्म्मि। यह कहना कठिन है। यह सत्ता ज्योति रूप है, स्व प्रकाश है- '*ज्योतिषां ज्योतिः*' है। ब्रह्म तो आकाश की तरह निर्मल है, अचित् रूप कालेपन से ही चित् रूप अरुण ज्योति उसमें एक साथ झलक मारती है। अंधकार-प्रकाश वस्तुतः एक साथ नहीं रहते पर आकाश में उषः काल में प्रतीत होते हैं। ब्रह्म एक सत्ता है, चित् अचित् उससे जुड़कर नित्य सम्बन्ध रखते हैं।

पण्डित आश्चर्य से शास्त्र खोलकर ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताता है। आत्म तत्त्व के निरूपण करने वाले को कठोपनिषद् में विरलता के कारण '*आश्चर्यवक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता*

कुशलानुशिष्टः' आश्चर्य रूप कहा गया है। आश्चर्य रूप वक्ता से उपदिष्ट ब्रह्म का ज्ञाता भी आश्चर्य ही है। श्रीचंद्र जी *'पण्ड्या अचरज पुस्तगखोल्हे'* इसीलिए कहते हैं। वह ब्रह्म उपादान भी है और उपादान कहीं और से नहीं लाने पड़ते। वह लूता (मकड़ी) की तरह सूत के तार पेट से ही निकालता है और फिर उससे बने जाले को अपने पेट में ही निगल लेता है। सारा प्रपंच उसने अपने से ही निकाला है और अपने में ही समाविष्ट कर लेगा। मुण्डकोपनिषद् भी कहता है कि जैसे लोक प्रसिद्ध मकड़ी अन्य साधनों के बिना ही अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को बनाती है और निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा जैसे सजीव पुरुष में उससे विलक्षण केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होता है और उसी में लय होता है।

> यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति,
> यथा सतः पुरुषात्केश लोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।

वह ज्योति रूप है। सरूप तथा अरूप, निर्गुण तथा सगुण है। सिद्धान्तसागर का साक्ष्य है–

> निराकार निर्गुण भगवान, श्रीचन्द्र सभ मांहि समान ।
> अरंग अभंग अरेख अरूपा, निर्गुण निराकार भवभूपा ।
> चक्रपाणि सरगुण बिगसाया, चतुरभुजा गरुड़ै चढ़ धाया ।
> आदि न अन्त मध्य जिस केरा, श्रीचन्द्र सन्तन के नेरा ।।

चित् अचित् उभय होने से वह साकार निराकार है। सृष्टि न केवल चित् का परिणाम है और न अचित् (अचेतन प्रकृति) का। चित् रूप में वह अदृश्य है तथा अचित् रूप में वह दृश्य है। श्रीचन्द्र दर्शन में कहा गया है–

> प्रदीपादारभ्याशशिरकिरणं ज्योतिरखिलम्,
> यदा भासा भाति श्रुतिरविरतं बोधयति नः,

यतो जातं चित्रं जगदिदमनिर्वाच्यमतुलम्,
नमामस्तत्तेजो निरवधि सुखं ज्ञानममृतम् ।

अर्थात् दीपक से लेकर चन्द्रमा पर्यन्त, खद्योत से लेकर सूर्य पर्यन्त, अग्नि, ग्रह, नक्षत्र, तारागण विद्युत आदि में विद्यमान प्रकाश उसी के प्रकाश से प्रकाशित है, ऐसा श्रुतियाँ हमें बोध कराती हैं। जिस ब्रह्म से यह अनिर्वचनीय चित्र विचित्र जगत् उत्पन्न हुआ है, वह परम तेज पुंज है, वह परम ज्ञान है, वह अमृत है, वह कालसीमा से परे आनन्द है, उस तेज रूप ब्रह्म को हमारा नमस्कार है। श्रुति भी कहती है- *'तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।'* सिद्धान्त सागर का कथन है-

अमृत पिया चानण थीया गगनतर सुखमाना ।
प्रगटी जोति शब्दध्वनि लागी श्रीचन्द्र भगवाना ।

• • •

पारब्रह्म उर प्रगटई ज्योति जोत मिलाए ।

ब्रह्म अरूप है पर मुण्डक की श्रुति उसे *'यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'* कहकर सरूप बताती है। यजुर्वेद में *'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'* कहकर उसे आदित्य रूप बताया गया है वह अपनी सामर्थ्य से चित् अचित् दोनों है।

हुकमी (ब्रह्म) ने अपनी मौज से अठारह (18) तत्त्व उत्पन्न किए। पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण, चित्त, मन, बुद्धि, सत, रज, तम तथा चेतन आत्मा अठारह (18) तत्त्व हैं। इन्हीं अठारह तत्त्वों की सम्मिलित शक्ति का नाम जीव है। उसने 'हउमै' कहा और यह कवाउ (जगत्) उत्पन्न हो गया। उसने ईक्षण से लोकों की उत्पत्ति की। यह सम्पूर्ण जगत् उसी से उत्पन्न होता है, उसी में स्थित है तथा उसी में लय हो जाता है। श्रीचन्द्र दर्शनम् का कथन है-

जगत्कृत्स्नं यस्मिन् अनवरतमेतत् स्थिरमिति,
यदेवैतान् भूतान् रचयति समस्तान्नपि तथा ।

यदादौ कल्पान्ते च सृजति खलु संस्थापयति च,
विधत्ते संहारं प्रलय समये ब्रह्म तदिति ।।

अर्थात् समस्त जगत् जिसमें अनादिकाल से निरन्तर स्थित होकर रहता है तथा जो समस्त भूतों की उसी प्रकार रचना करता है जैसे पूर्वकाल में की थी- *यथापूर्वमकल्पयत्*। सृष्टि की उत्पत्ति से पहले भी वह रहता है। श्रुति है- '*हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्*'। कल्प के प्रारंभ में वह जगत् को रचता है, उसका पालन पोषण करता है तथा प्रलयकाल आने पर संहार करता है, वही ब्रह्म है।

अग्नि और स्फुलिंग में जैसे तत्त्व एक है पर नाम-रूप का भेद है। वैसे ही ब्रह्म और जगत् भी है। जब जगत् का कारण चिदचिदात्मक है तो कार्य भी वैसा ही होगा। द्रष्टा और दृश्य का भेद कृत्रिम है, घट फूटने पर उपाधि नष्ट हो जाती है और आकाश रह जाता है। सागर एक है तरंगे अनेक हैं। दोनों में कोई खोटा-खरा नहीं। दोनों में कोई अन्तर नहीं।

सम्बन्धः परमात्मनोऽथ जगतो जीवस्य तद्वद्यथा,
ऽम्भोधेः स्वीय तरंग बुद्बुद्पयः फेनादिभिर्जायते ।
भिन्ना नैव यथा च वारिनिधितः सर्वेविकारास्तथा,
ब्रह्मैवास्ति मतं समस्त जगतामालम्बनं वस्तुतः ।।

अर्थात् जीव-ब्रह्म और जगत् का वही सम्बन्ध है जो समुद्र के साथ तरंग, बुदबुद और फेन का होता है। जैसे विशाल समुद्र में बड़ी बड़ी तरंगे उठती हैं, ज्वार भाटा आता है तो बुलबुले भी उठते हैं और तट पर सफेद सफेद झाग भी दिखाई देते हैं। इनके नाम रूप जुदा जुदा हो सकते हैं पर ये पदार्थ समुद्र से पृथक् नहीं हो सकते, जैसे ये सब समुद्र का विकार हैं वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विकार है और ब्रह्म ही सबका आलम्बन है। शब्द सुधा में ब्रह्म का निरूपण इस पद में हुआ है-

चिदचिद उभय ब्रह्म मोहि भावै,
अरुण असित छवि प्रात जगत जिउं धरमाधरमी खसमु दिखावै ।

पंड्या अचरज पुस्तग खोल्हे उपादान अरु निमित बतावै,
जोती जोत सरूप अरूपा आतमपद कहि वेदु सुणावै ।
सगल पसार किओ जिउ लूता सूता अन्तर मांहि समावै,
हुकुमी मौजु अठारह फुरलै हउमै सबद कवाउ उपावै ।
थिति रचना लय आपु संकोचै अगिनि फुलिंग उपाधि सतावै,
द्रिष्टा द्रिष्टि असंखा लोआ घटु फूटे आकास जतावै ।
सायर एकु तरंग अनेकहु खोटे खरे फरकु कति आवै,
सगल विनासे रहै मूल सति श्रीचँद तत्त विचार करावै ।।

जीवात्मा अठारह तत्त्वों से बनता है। यह जीव नित्य है, शाश्वत तथा चेतन है। शरीर में जब तक शक्ति रहती है। तब तक वह चेतना के साथ सम्पृक्त रहता है। स्थूल शरीर के बिखर जाने पर सत्रह तत्त्वों से निर्मित लिंग शरीर के द्वारा लोकान्तर की यात्रा करता प्रतीत होता है, कर्मानुसार अनेक देह धारण करता है। इसी चेतन आत्मा से युक्त होने के कारण सुखदु:खादि का अनुभव प्राणी करते हैं। श्रीचन्द्र दर्शन का साक्ष्य है-

यो नित्यः खलुचेतनस्तनुमिमां सम्बध्यते यावता,
कालेनाथ स जीव इत्यनुभवो विद्वद्वरेण्यैकृतः ।
ह्येतद् द्वारकमेव चाथ विविधान्देहान्ननेकान्दध-
त्येतत्संगतितः सुखाद्यनुगमं कुर्वन्ति वै देहिनः ।।

शब्द सुधा में जीवात्मा का निरूपण इन शब्दों में हुआ है-

हरि को अंसु जीव परिछिन्ना ।
नाउं रूप देहादि उपाधी भिन्नाभिन्न सोचु अति खिन्ना ।
अन्त:करण बुद्धि प्रतिबिम्बत चेतन जीउ कहावै,
बिम्बाधीन कारणै सोइ प्रतिबिम्ब ब्रह्म दरसावै ।
दरपन नगरी सूता मणिए फटिक सिला गजदन्ता,
हउ हउ करि तण सगल बिनंठा भरमि न पायो अन्ता ।
अग्नि स्फुलिंग उष्णता एकै जीउ ब्रह्म चैतन्या,
उदक सरूप सिंधु बिचि फेना भेदाभेद अनन्या ।

अफुर फुरै फुर सर्व वियापी सोइ इच्छा उपजावै,
सप्तधात श्रीचंद पींजरा सुआ सोइ प्रगटावै ।।

अर्थात् जीवात्मा हरि का अंश है तथा परिच्छिन्न है। चित् और अचित् में से किसी एक अकेले से नाम रूप देहादि उपाधि का प्रकटीकरण नहीं हो सकता क्योंकि वही ब्रह्म जीव है। विद्या माया के बिना जीव के परिच्छिन्नत्व की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। अन्तःकरण बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है। क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्ब क़े अधीन रहता है, अतः जीव भी ब्रह्म के अधीन रहता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि ये 14 तत्व हैं। सात्विक, राजस तथा तामस ये तीन अहंकार हैं। कुल मिलाकर ये सत्रह तत्व माया से उत्पन्न कहे गए हैं। अठारहवां तत्त्व जीव चेतन और नित्य है तथा उक्त सत्रह तत्वों से भिन्न है। सांसारिक पदार्थ मायिक हैं, जैसे दीख रहे हैं, वास्तव में वैसे नहीं हैं।

श्रीचन्द्र दर्शन में कहा गया है–

जीवोऽष्टादश तत्त्वमेव विदितं स्यादिन्द्रियेभ्यः पृथक्,
प्राणेभ्यो मनसोऽन्यदेव किमसौ बुद्धेस्तथा चित्ततः ।
नामुं सत्त्वरजस्तमोमयमिति प्राहुः पुरा कोविदाः,
नाहं तद्विषयस्तथा हि न तथैते मायिका वस्तुतः ।।

जीव अभेद दृष्टि से तो विभु है पर प्रतिबिम्ब भाव के कारण अणु भी कहा जा सकता है। श्वेताश्वतर की श्रुति '*बालाग्रशतभागस्य*' में पहले जीव को अणु और फिर अनन्त बताया गया है पर यह मुख्य प्रयोजन नहीं है। वह विभु ही है। जैसे स्फुलिंग अग्नि का अंश है पर दाहकता दोनों में समान है। ऐसे ही जीव ब्रह्म के समान चैतन्य और नित्य है। दोनों का भेद जल और लहर तथा फेनादि के समान है जिनमें भेद भी है और अभेद भी। भेद से वह उपासक बनता है तथा अभेद से ज्ञानी। यह जगत् शीशे में प्रतिबिम्बित नगर की तरह है, शीशमहल की तरह है। सूत में पिरोई मणि की तरह है। अर्थात् नाम-रूप, देहादि उपाधि से

भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले जीव एक चैतन्य के सूत्र में गूंथे हुए हैं। गीता का वचन है- '*मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव*'।

जैसे स्फटिक शिला में गज अपने ही रूप को देख कर दूसरे के भ्रम से दाँत मार मार कर घायल हो जाता है तथा फिर मर जाता है, वैसे ही जीवात्मा भी भेद सम्बन्ध से कष्ट भोगता रहता है। मैं-मैं करके उसका तन नष्ट हो जाता है वह जीवन भर अविद्या माया के वशीभूत होकर भटकता रहता है और कभी उसके अज्ञान का नाश नहीं होता। इस जगत् से परे स्फुरित होने वाला ब्रह्म र्स्वव्यापक है, जब वह चाहता है तब सप्त धातुओं के पिंजरे में इस जीवात्मारूपी तोते को बाँध देता है।

भागवत के एकादश स्कंध में आकाशादि पंचमहाभूत, इनका साक्षी एक आत्मा तथा महाभूत और आत्मा का आधार परमात्मा को सप्त तत्त्व बताया है-

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्चखादयः,
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ।

क्योंकि श्रीचन्द्र दर्शन में अठारह तत्त्व माने गए हैं, अतः सप्त धातु से तात्पर्य यहाँ रक्त, पित्त, मांस, वसा, मज्जा, अस्थि और शुक्र से लेना चाहिए। इन्हीं सप्त धातुओं से निर्मित शरीर रूपी पिंजरे में जीवात्मा रूपी शुक का निवास होता है।

अविद्या माया की दो शक्तियाँ मानी गई हैं- 1. आवरण शक्ति तथा 2. विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति से मूल रूप ढकता है और विक्षेप से अनेक प्रकार के कर्म करता हुआ सुख-दुख भोगता है। आत्मा और अनात्मा का विवेक नष्ट हो जाता है। विक्षेप के कारण ही मन में अनेक वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, ये वृत्तियाँ सरोवर में उठती तरंगों की तरह होती हैं जो उसे चंचल तथा विक्षुब्ध कर देती हैं। ये बुद्धिवृत्तियाँ बन्धन पैदा करती हैं अतः सुख-दुःख, बन्धन का कारण परमात्मा नहीं, जीवात्मा स्वयं है। वह अपने किए कर्मों के कारण ही अशांत होता है,

भटकता है तथा बंधन में पड़ा जन्मता-मरता रहता है। श्रीचन्द्र दर्शन में लिखा है-

मनोवृत्यां सत्यामनुभवति जीवः शमितरत् ।
अभावे तस्यास्ते श्रवणपथमेतः क्वच न ते ।
अतो बुद्धेर्वृत्तिः श्रयति दृढ़ बन्धाख्यविपदम् ।
न तत्तेषां हेतुः त्रिगुणविधुरः शक्तिरहितः ।।

यह अज्ञान ही है जिसके कारण मनुष्य ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानता। यह विलक्षण जगत् भी न तो सत्य है और न असत्य। यह अनिर्वचनीय है जो इसे सत्य मानता है वह प्रकृति के दृढ़ बन्धन में बंधकर निरन्तर स्थावर-जंगम योनियों में विचरता रहता है, उसे कभी विश्राम नहीं मिलता। नित्य-अनित्य का विवेक करने में असमर्थ जीव ही बंधन ग्रस्त होता है। श्रीचन्द्र दर्शन में कहा गया है-

नित्यं यत्परिणामिजातु लभते देशे न दाढ्र्यं क्वचित्,
बाधः स्वाप्निक वस्तुवत् मरुजलादेर्वाऽस्य विस्पष्टतः ।
नित्यानित्य विवेकशून्यमनसो जन्तूनलं कर्षति,
नानायोनिषु पातयत्यविरतं बध्नाति चिन्तागुणैः ।।

इस परिवर्तनशील जगत् में कुछ भी स्थिर नहीं, जैसे स्वप्न में दिखाई देने वाले दृश्य जागरण पर नहीं रहते, मरुस्थल में जल प्रतीत भर होता है पर जल नहीं होता, वैसे ही भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला जग भ्रम मिट जाने पर बाधित हो जाता है। सृष्टि तथा संसार सर्वत्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म को पृथक् करके देखने पर यह जगत् उसी तरह निस्सार प्रतीत होने लगता है जैसे भूसी से दाना निकल जाने पर भूसी व्यर्थ हो जाती है।

जीव दो प्रकार के होते हैं- 1. मनमुख तथा 2. गुरुमुख। मन-सुख जीव संसार के प्रवाह में बहते रहते हैं। गुरुमुख मुमुक्षा से साधन सम्पन्न हो तत्त्वदर्शी बन जाते हैं। मनमुख या अज्ञानी जीवों का वर्णन सिद्धान्तसागर में किया गया है-

कपि न त्यागै चनन को सब आयु दुखारा,
नलिनी दाना चाहकर शुक पिंजर डारा ।
मोह कुटुम्ब की फाँसी फाँस ।
गर्दभ भारै लदया डंडा पीठ सहास । ।।रहाऊ।।
करत करत श्रम थक परा आसा नहिं पूरी,
लाख कोटि अरब खरब ते तऊ रहे अधूरी ।
ज्यों ज्यों आवहि द्रव्य कर त्यों अधिकी तृष्णा,
इन्द्रराज कोऊ पाय कै पुन चाहै जिशना ।
भोग भोग कै खपि रहया अगनी अधिकाई,
श्रीचन्द्र भज रामनाम सुख लहहिं मलाई ।।

• • •

लख चौरासी योनि मँह मनमुख सदा भरमाय ।
उचनीच जाति जन्म थिरता लहित न काय ।
मन मुख जन्म मरै पछतावै, मनमुख जार चोर कहलावै ।
मनमुख संगति धूत खिलारी, मनमुख निसिदिन पावन हारी ।
मनमुख अन्तःकरण मलीन, मनमुख रोवत हो पराधीन ।
मनमुख कूड़ो कूड़ बखान, मनमुख मन मुद्रण अज्ञान ।
मनमुख नरक चौरासी भोग, मनमुख प्रगटित लाछन सोग ।
मनमुख इन्द्रियाँ वसी न होय, मनमुख मनमय सृष्टि बिगोय ।
मनमुख सुत बनिता रंग रचिया, मनमुख कलिमल निकरन पचिया ।
मनमुख माया माया बोलै, श्रीचन्द्र मुख कालै डोलै ।
मनमुख कुंभी पाक गिरन्त, मनमुख कै भोगन ही मंत ।
मनमुख माता गर्भ गलाहि, मनमुख स्वप्नहिथिरता नाहि ।
मनमुख लेखा यम सिर मार, मनमुख चित्रगुप्त फटकार ।
मनमुख धिक धिक लोक कराय, श्रीचन्द्र प्रभु नाम न न्हाय ।।

इसके विपरीत गुरुमुख अपना लोक तथा परलोक दोनों सुधार लेता है।

गुरुमुख का चित्रण करते हुए श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

गुरुमुख बुद्धि उज्जवल हवै राम नाम रस पाय,
आपा भाव उतार कै हरि हरि माहि समाय ।

गुरुमुख राम नाम लिवलाय, गुरुमुख दान स्नान कमाय ।
गुरुमुख सहज पदारथ पावै, गुरुमुख हउमैं मेट समावै ।
गुरुमुख कीर्तन सद ही राता, गुरुमुख संगत तीर्थ नहाता ।
गुरुमुख हरियश गाय अतोट, गुरुमुख परिहरि अन्तर खोट ।
गुरुमुख वेद वाणी प्रकास, श्रीचन्द्र गुरुमुख जापरास ।
गुरुमुख राग नाद विश्राम, गुरुमुख अजपा जापै राम ।
गुरुमुख तुरिया पद को पावै, गुरुमुख जन्म मरण छुटकावै ।
गुरुमुख निर्विकल्प समार, गुरुमुख चौंसठ विद्यासार ।
गुरुमुख अष्टदसी प्रभुजाता, श्री चन्द्र गुरुमुख रँग राता ।
गुरुमुख सत सन्तोख ज्ञान, गुरुमुख नाम दान इस्नान ।
गुरुमुख सच वापार कमाया, गुरुमुख निजमन अधड़धड़ाया ।
गुरुमुख वणज दरगाही पेख, गुरुमुख त्यागी माया झेप ।
गुरुमुख अपना मन प्रबोधे, गुरुमुख अन्तर आतम सोधें ।
गुरुमुख बैठत उठत सभागा, श्रीचन्द्र हरि प्रभु लिव लागा ।
गुरुमुख समद्रष्टा सुविचारी, गुरुमुख काम क्रोध परिहारी ।
गुरुमुख वेद वाक्य व्याख्यान, गुरुमुख पाठ पुराण कुरान ।
गुरुमुख ततवेत्ता अवदात, गुरुमुख वस्तु निखुट न दात ।
गुरुमुख ब्रह्मदृष्टि लिव लागा, गुरुमुख निसि दिन सिमरत जागा ।
गुरुमुख चार पदारथ दानी, श्रीचन्द्र गुरुमुख ब्रह्मग्यानी ।।

ब्रह्म ज्ञानी संसार को अनित्य मानता है, अतः वह इनसे मोह ममता नहीं जोड़ता। वह तो इन्द्रियादि के समूह देह से भी पृथक् अविनाशी ब्रह्म के रूप में स्वयं को देखता है। सिद्धान्तसागर में जीवात्माओं की तुलना उन चिड़ियों से की गई है जो रात बिताने के लिए वृक्ष पर बसेरा करती हैं और भोर होते ही उड़ जाती है। ऋग्वेद के रात्रि सूक्त में भी संसार की

तुलना रात्रि से की गई है।

> पक्षिन रात वितावत हेत बृक्ष पर कीन बसेरा,
> पहु फूटी चह चहानी चिड़िया कूच भयो उठि डेरा ।
> चोग इहां नहिं तेरा ।
> माटी कंकर खाय निबहि न बेशक अहै घनेरा । ।रहाऊ।।
> हेत फसावन भित खिलार दृष्टि व्याध ने लाय,
> गुणगहि दबक रह्यो बैठि इमि श्वास न आवतजाय ।
> इतउत चुगत चुगत तृष्णा वश जावन की है देर,
> भोगे भोगऊ याद करै है डंडा उछरहि ढेर ।
> उठ चलया पछताया पक्षी मरन बिना नहिं छूट,
> श्रीचन्द्र मिथ्या भ्रम परिहरि राम नाम ल्यौं जूट ।।

गुरुवाणी के व्याख्याताओं में जीव-ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त को लेकर एकमति नहीं है। शेर सिंह जी ने '*फिलासॉफी ऑफ सिखिज्म*' में जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार नहीं की। शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव वह गुरुवाणी पर स्वीकार नहीं करते। दूसरे '*एकजोति दुइमूरती*' तथा '*ब्रह्ममहि जनु जन महि पार ब्रह्मु*' जैसी उक्तियाँ भेद-अभेद दोनों का समर्थन करती हैं पर श्रीचन्द्र जी ने सिद्धान्तसागर में उपनिषदों की पद्धति '*ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति*' पर जीव-ब्रह्म की एकता का निर्विवाद उल्लेख किया है-

> तुच्छ जीव ते ब्रह्म भये ।
> तन मन मेट अविचल थये । ।रहाऊ।।
> तीन लोक ढूंढत जिस ताईं, सर्व देवते रहे हेराई,
> भरम बिताय दिए युग केते, लहयो न ता को कछुं हूं भेते ।।

जीव को भरमाने वाली शक्ति माया है। संसार में दृश्य-अदृश्य की प्रतीति माया के कारण ही होती है। गुणों का गुणों से भोग होना ही माया कहा जाता है। अनिर्वचनीय यह माया जगत् का निमित्त कारण है। श्रीचन्द्र दर्शन में कहा गया है-

यया लोके सृष्टं भवति खलुदृष्टं किमपियत्,
प्रतीतेर्याऽसाधारणमपि निमित्तं च जगतः,
गुणानां यो भोगो भवति सुगुणैश्चाप्यनु दिनम्,
इयं मायाऽसत्या ञदपि सकलान्मोहयति सा ।।

यद्यपि यह माया असत्य है तो भी सारे प्राणियों को मोह रही है। मार्कण्डेय पुराण कार कहते हैं कि ज्ञानियों के चित्त को भी बरबस आकृष्ट करने वाली माया ने अज्ञानियों को तो लुंज पुंज ही कर दिया है। कबीर ने इसे '*माया ठगनि हम जानी*' कह कर छलने वाली बताया है। सारे जगत् का निर्माण इसी ने किया है। नाम-रूप ही माया का स्वरूप है। परमेश्वर से शक्ति प्राप्त करके ही इसमें यह प्रभाव आया है, जैसे बादल आकाश में रहकर आकाश को भी आच्छादित कर लेता है, वैसे ही माया ईश्वर में रहकर भी उसे छिपाए रखती है अज्ञान रूपा यह माया जगत् में सत्यता का भ्रम पैदा करती है। यह अनादिकाल से चली आ रही है।

माया गुण त्रयवती परिकल्पिता सा,
निर्वाच्य भावरहिता ऽऽदिविहीन भावा,
तस्यां च चित्प्रतिफलत्य सम प्रकाशा,
तेनैव विश्वमखिलं परिवर्ततेऽत्र ।

अर्थात् माया त्रिगुणात्मिका है, सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण ही उसका स्वरूप है। इस कारण से वह माया निर्वाच्य भाव से रहित है, अर्थात् अनिर्वचनीय है, इसका निर्वचन नहीं हो सकता। इसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, अर्थात् तीनों कालों में इसका भाव अस्तित्व नहीं है। इस माया में जब चेतन का प्रकाश पड़ता है तो यह क्रियाशील हो उठती है, विषमावस्था में आ जाती है। यह समस्त विश्व इस माया का विवर्त है।

यह सृष्टि रूपी धारा विषम किन्तु अविच्छिन्न है तथा अनादि है। जैसे अंकुर में बीज तथा बीज में अंकुर रहता है। ऐसे ही स्वयं कारण और

कर्तारूप माया ने इसे उत्पन्न किया है। इसका न आदि है और न अन्त। इसे न सूक्ष्म कह सकते हैं और न स्थूल। यह न तो सत्य है और न असत्य। मुक्तात्मा इसे सादि भी कहें तो कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि उनके कर्मों के सर्वथा क्षीण हो जाने पर उन्हें फिर आना नहीं पड़ता। जब बीज ही क्षीण हो गया तो मुक्त जीवात्मा के लिए उसका वृक्ष रूप पसारा संसार भी समाप्त हो गया। उसकी अन्तःकरण रूप उपाधि से सर्वथा छूट जाने पर वह निःसंस्कार साम्यावस्था में चला जाएगा। ब्रह्म तो विलक्षण सत्ता है, उसे बड़ाई मिल जाती है। अपने धर्माधर्मी अंश के द्वारा चित्, अचित् के द्वारा वह सृष्टि उत्पन्न कर देता है। *यथापूर्वमकल्पयत्।* श्रीचन्द्र कहते हैं कि यह सृष्टि साहब से आई है और उसी में समा जाएगी–

औखी धार अनाद कहाई ।
अंकुर बीजु बीजु जिउ अंकुर कारन करता आपु उपाई ।
नादी नान्त प्रतिष्ठा नाहीं सूषम थूल न कहिआ जाई ।
आतम मुकता सादि उचारै कर्मखीनु यह बहुरि न आई ।
बीजु खीनु जभु भया कहाँ ते मुकता जीउ पसार लखाई ।
धरमाधरम सृष्टि तिस फुरलै हुकमी मिलै सहज बड़िआई ।
कारज सकति कहावै माया ब्रह्म निरँग परिनामु न पाई ।
श्रीचंद आपु विचार कथीले साहिब आई तिसू समाई ॥

ब्रह्म अपरिणामी निरंग, निरवयव है, उसकी कार्य-निर्माण शक्ति माया है। इसी के कारण इस संसार का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। माया जो नित्य नहीं उन्हें भी नित्य की तरह दिखाती है। जो बिना हुए पदार्थों को हुआ जैसा दिखा दे। अष्टपदी में आचार्य लिखते हैं–

माया ममता असतता लाई, अनिक प्रकार ब्योंति बनाई ।
असतै मात पिता अरू नारी, असतै चार और परिवारी ।
असतै सुत कन्या जामाता। असतै साक सम्बन्धी भ्राता ।
असतै देह खेह की साजी, असतै गज, स्यन्दन अरु बाजी ।
असतै असन अरू बसन अमोल, श्रीचन्द्र पालकी झूल चण्डोल ।

असतै धरणी मंडल सारा, खेती बाड़ी बाग बहारा ।
असती हउमै बन्धन पाया, असतै अकल कला बरताया ।
असत माया दृष्टि अपार, असत उचायो सिर पर भार ।
असत संकल्प विकल्प मझार, असतो समाधान निरधार ।
हउमैं माया मोहिआ, स्थिरता लहित न कोय ।
सुत बनिता धरणी सकल, बिनस जाति दुःख होय ।।

इस माया से निवृत्ति गुरुकृपा के बिना नहीं हो सकती। गुरु से ज्ञान तथा भक्ति से गोविन्द की कृपा प्राप्ति ही माया के बन्धन से छुटकारा दिलाते हैं। सिद्धान्तसागर में कहा गया है–

सुख न कतहुं पेखीये, जन्म मरण के गेड़,
दुख सागर धक डारया, माया चहुँदिसि वेड़ ।

गुरु गोविन्द ध्याय ।
माया जाली काट कै साचै सुख भुंचाय । ।रहाऊ।।
तृष्णा बेताली ग्रसा रूप अनेक असंख,
अणहोंदे निसि पेखिए स्वप्न पदारथ लंख ।
जागत ही सब क्षीण हवै रूप रेख गई खोय,
एह जग करै विषय भोग आगे चलया रोय ।
सति गुरु चरणी ला गई मन सूते जागाय,
राम नाम जप श्रीचन्द्र अविचल सूख समाय ।।

• • •

ठगणी माया ठगत संसार ।
जंगल माहि बसत नित अहनिसि कन्दमूल ही करत अहार । ।रहाऊ।।
साकपत्र भछ घोर अगनि महिं झलत रहित होय सिर भार,
वेदन वेते हिफज किताबीं बाणी उचरत अमृत धार ।
अनमार्ग जन दरस बिहूणे घने पर्वतन गुहन अगार,
धर धन धानन त्याग पराने जलाहार कै पवनाहार ।
वण तृण हस्ती घोड़े बन्दर पच्छ मच्छ कछु सिंह सियार,
छोड़यो कहुं न इनहिं अजीता श्रीचन्द्र सब डारै मार ।।

• • •

माया मानुष पत गवाई ।
धनी द्वार जाय गुहरावत पैसा टका देहु मुहि माई । ।रहाऊ।।
पेख न छोड़े मधु माखी लगि डांसत डांसत जन बौराई,
कोसन सौ ऊरध नभ मंडल गिद्ध मांस खँड हित झपटाई ।
पायवकास दुमुही सपणी दंश लयो कभी जहर न जाई,
संवतसर प्रति नियम धार करि डँसत रहित विषधर बल साई ।
आज अपर कल अपर द्वार पर माया कारण अलख जगाई,
ज्यों ज्यों लहि त्यों त्यों बढ़ तृष्णा श्रीचन्द्र भ्रम तृप्ति न जाई ।।

इस माया ने घर, बन, पशु, पक्षी, नर-नारी, ज्ञानी-अज्ञानी, गृहस्थ-विरक्त सभी को डहकाया हुआ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध की लोभी इन्द्रियों का दास मन माया के वशीभूत होकर ही अनेक रूपों में भटक रहा है। अहंकार रूपा माया ने उन्होंने दृश्यों को दिखाकर भी जीव को मोहित कर लिया है। परमात्मा रूपी दर्पण में त्रिगुणात्मिका वस्तुओं को दिखाकर ही माया जीव को फँसाती है। जीवात्मा इसी माया जाल में अपना स्वरूप भूल जाता है। जादूगर के खेल की तरह उसका व्यापार है, जादू में जो नहीं होता वह भी दर्शक की आँखों को बाँधे रहता है। श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर के निम्न पद माया के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालते हैं-

माया केरे रूप अपार ।
हिरदय भीतर हरि प्रभु बैठा दहदिसि करि अन्धियार । ।रहाऊ।।
कागज केरी हस्तिनी मूरख गज न समार,
कुंडी मुख महि निगलई मीना मांस विचार ।
लागि वासना कमल महिं भँवरा मरण बिसार,
काल न सूझति हरणी मन नाद रंग मति मार ।
आपन आप भुलाय कै पर रंग गहित गँवार,
पारब्रह्म श्रीचन्द्र एह उरते देत बिडार ।।

वासना ही माया का कार्य है तथा वासना ही बंधन का कारण है। योग वाशिष्ठ का वचन है कि वासना का क्षय हो जाना ही मुक्ति है-

बद्धो हि वासना बद्धो, मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।

हरिण, हाथी, सर्प, भ्रमर, मछली तथा पतंग क्रमशः शब्द, स्पर्श, गंध, रस और रूप पर प्राण दे देते हैं। इनकी तो एक-एक वासना प्रबल है पर मायाबद्ध मनुष्य का क्या हश्र होगा जिसकी पाँचों वासनाएँ प्रबल हैं-

कुरंग मातंग भुजंग भृंगा, मीनाहताः षड्विषयै पतंगाः,
का स्याद्गतिस्तस्य जनस्य लोके, एकोऽपि यः षड्विषयेसुसक्तः ।

• • •

सगली सृष्टि नाशवन्त अव्यक्ता अविनाश,
माया अरू पार ब्रह्म का एता अन्तर भास ।
मनमहिं अनिक प्रकार तरंग ।
मूर्ति उर महिं पेखियत सुन्दर रूप सुरंग । ।।रहाऊ।।
आपन आप ऊपाइयै आकाशी वर फूल,
धनुष चढ़ायो ससंशृंग बाँझ सुतहिं गहि तूल ।
पर्वत खायो चीटीयहिं अजहूँ भूखी धाय,
सीत वियापयो कूर्महि पावक चण्ड तपाय ।
अनहोंदा होंदा भयो होंदा भाजा दूरि,
परमेश्वर तजि श्रीचंद्र फिरिहै छानत धूरि ।।

यहाँ शशाशृंग (खरगोश का सींग), बन्ध्यापुत्र, कच्छपी दूध आदि कुछ विकल्पों का भी परम्परागत उल्लेख किया गया है। स्वरूप से ये विद्यमान नहीं हैं पर इनका होना बताया गया है। '*अनहोंदा होंदाभया*' अर्थात् न होते हुए भी यह होते हुए कहे जाते हैं, यही माया है।

श्रीचन्द्र संसार को मिथ्या मानते हैं-

हे मन प्यारे साजना, कूड़ा मोह पसारा राम,
हे मन प्यारे साजना, माता पिता सुत दारा राम ।
सुतदारा सब कूड़ पसारा माया बन्धे सारे,
खावण भोगण करै संगी आपद त्याग पधारे ।
हे मन प्यारे साजना, थिर कछहू जग नाहीं राम,

हे मन प्यारे साजना, सब के सब बिनसाहीं राम ।
सब बिनसाहीं थिर कछु नाहीं आगम पायी माया,
जो आया सो सब कोई जासी, काहे मन बिरमाया ।।

गुरुओं ने *'सति करम जाकी रचना सति'* कहकर अथवा *'इहु जग सचे की है कोठड़ी सचै का बिचुवास'* कहकर संसार की सत्यता का प्रतिपादन किया है। श्रीचन्द्र जी कहते हैं कि सत्य तो परमात्मा है, वही सबका अधिष्ठान है, माया उसी सत्य में इस जगत् को आभासित दिखाती है, यह आभास ऐसा ही है जैसे तम के कारण माला में सर्प की भ्रान्ति होती है, तम के हटने पर जैसे ही माला का ज्ञान होता है, सर्प का भ्रम निवृत्त हो जाता है। वैसे ही अज्ञानरूपी तम के हटने पर एक अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है और ज्ञान होने पर यह माया दर्शित जगत् भी निवृत्त हो जाता है। जब भेद की हेतु अविद्या और उसके कार्य का नाश हो जाता है तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्म ही शेष रह जाता है। विद्वान् इसी को मुक्ति कहते हैं। मुक्ति होने पर फिर कोई दूसरा पदार्थ दिखाई नहीं देता। जीव अपने शुद्ध स्वभाव ज्ञान रूपता को प्राप्त हो जाता है। उपाधि के कारण पहले घटाकाश, मठाकाश आदि की प्रतीति होती थी पर उपाधियों के मिट जाने पर जैसे एकमात्र आकाश रह जाता है, वैसे ही शरीर, इन्द्रियाँ आदि उपाधि के न रहने पर आत्मज्ञान के अनन्तर जीव आनन्द रूप निर्भय हो जाता है। यह आत्मा की स्वरूप स्थिति है। सिद्धान्तसागर का कथन है-

पहु फूटी हउमैं गई, संत संग लिव लाय,
भ्रम अंधेरा मिट गया, उदयो मित्र महाय ।
संत संग माया गई भाग, संत संग लागै हरि लाग ।
संत संग अज्ञान निवारी, संत संग दिव्य दृष्टि निहारी ।
संत संग परमात्म मिलिआ, श्रीचन्द्र निज उर महि हिलिया ।।

गुरुकृपा से अज्ञान का अंधकार मिट जाए, सनातन मित्र ब्रह्म (सूर्य) का उदय हो जाए तथा पौ फट जाए, माया की निवृत्ति हो जाए, यही तो मुक्ति की आनन्दमयी दशा है। श्रीचन्द्र जी के मतानुसार जगत् के सभी

पदार्थों में अनुगत रस रूप एकाकार ब्रह्म ही सत्य है, वही जीव और जगत् के रूप में तात्त्विक दृष्टि से विद्यमान है। अज्ञान दशा में वह देव है, मनुष्य है, हिन्दू, मुसलमान, गो, अश्व आदि है पर दिव्य दृष्टि पाने पर ये भेद समाप्त हो जाते हैं तथा सब कुछ ज्योति रूप प्रज्ञान ब्रह्म लगने लगता है। देहादि के कारण भिन्नता दिखाई दे रही है, चैतन्य की दृष्टि से कहीं कोई भेद नहीं। मुक्ति मंजरी में उनका कथन है-

रसोवैसः श्रुतिर्ब्रूते यस्यास्वादन मेदुरा,
मेदिनी मोद मानास्ते द्रुमैर्दिव्यरसैर्भृता ।
सोऽहं सर्वेषु भूतेषु भावभूमिर्भवन्मुदा,
यवनो मानवो हिन्दू गौरश्वो हरिरीक्षिता ।
अज्ञानमितिरान्धोऽपि ज्ञानाञ्जन शलाकया,
ज्योतिर्विज्ञान रूपोऽहं सर्वदर्शनतां गता ।।

श्री निम्बार्क, श्री रामानुज तथा श्रीवल्लभ आदि भक्तिवादी ब्रह्म, जीव तथा जगत् सभी को सत्य मानते हैं। पर श्रीचन्द्र जगत् को मायारचित मान कर प्रतीति का विषय मानते हैं जिसका अस्तित्व तीनों कालों में नहीं है। यह समस्त विश्व माया का विवर्त है। सत्य तो परमात्मा है। सिद्धान्तसागर का कथन है।

आप पछाणै आप होय, आपा मिट जाई,
साधु संग सब पाइये, चूकै अनधाई ।
सहजा जीवन पाई ।
जहं जहं पेखउं पार ब्रह्म अन दृष्टि न आई । ।रहाऊ।।
लै आयो लै जाय क्या, कंह को अब जाई,
पारब्रह्म पूरणधनी, सब लोक समाई ।
वन पर्वत तृण नदी नद, जीऊ जंतु लखाई,
एको एक बरतदा, नहिं आवै जाई ।
गुरु अविनाशी पाया, दिव्य दृष्टि दिखाई,
श्रीचन्द्र सब सुख निधां हरि संग मिलाई ।।

• • •

हरि गोपाल नारायणै, डेरा पाया आय,
देह दिसि भी हरियाविली, सूके तरु लहराय ।

गावहु गावहु अमृतवाणी ।
परमानन्द समाधी साध हरि हरि नाम समाणी । ।रहाऊ।।
दर्शन डिट्ठा पारब्रह्म नयन सिरानै सीर,
मनमहिं आया सहज रस सकल बिलानी पीर ।
दह दिसि चौदह भुवन महिं एको जोति मुरारि,
पशु पक्षी वण तृण सकल एकंकार पुकारि ।
अनहद वाणी ऊपजी सुन्न समाधि समाय,
श्रीचन्द्र मन ऊजला पाया प्रीतम राय ।।

★★★★

भक्ति-ज्ञान समुच्चयवाद

श्रीचन्द्र दर्शन की एक विशेषता मध्यकालीन आचार्यों में यह है कि वह न तो केवल भक्तिवादी है और न केवल ज्ञानवादी। वह माया की निवृत्ति भक्ति ज्ञान समुच्चय से मानता है। कश्मीरी शैवभक्त जगद्धर भट्ट ने भी स्तुति कुसुमांजलि में भक्ति-ज्ञान सहभाव पर बल दिया है। जगद्धर भट्ट का रचनाकाल चौदहवीं शती है। श्रीचन्द्र जी का मानना है कि निरन्तर भक्ति करने से वही भक्त्याकारा चित्तवृत्ति ज्ञान का आकार ले लेती है, अतः भक्ति और ज्ञान में साध्य-साधन भाव नहीं है। पहले जो चित्तवृत्ति भक्ति कही जा रही थी, वही अब ज्ञान का रूप ले रही है। आत्मज्ञान होने पर भी भक्ति त्याज्य नहीं हो जाती, व्यर्थ भी नहीं-

वृत्तिश्च भक्तिश्च यदैक तत्वं,
न स्यात्तयोः साधन साध्यभावः ।
अतोऽपरा भक्तिरिहास्ति हेतुः,
वृत्तिं प्रकल्प्यास्ते समुच्चयोऽत्र ।

डा0 किशोर स्वामी इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चित्तवृत्ति यदि

वास्तविक रूप से भक्ति का रूप धारण कर ले, तब उस वृत्ति की ज्ञान से भिन्न सत्ता नहीं मानी जायेगी, याने उपासना की पूर्व अवस्था भक्ति कहलाएगी और उत्तर अवस्था ज्ञान कहलाएगी। इस प्रकार मुक्ति में दोनों साधन हेतु बन सकते हैं। इसलिए विपक्षी लोग जो यह दोष देते हैं कि भक्ति और ज्ञान दोनों एक काल में साथ कैसे रह सकते हैं, वह दोष यहाँ लागू नहीं होता।[1] श्रीचन्द्रदर्शन में आया है-

वृतिर्विभर्ति यदि वास्तवभक्तिरूपम्,
ज्ञानाच्च वृत्तिरयते न विभिन्न सत्ताम् ।
तस्माद्वयं कारणभावमुपैति मुक्तौ,
इत्थं न दुष्यति समुच्चय हेतुताऽत्र ।।

अतः भक्ति और ज्ञान दोनों एक साथ रह सकते हैं। भक्ति ज्ञान समुच्चय में यजुर्वेद (4/14) की श्रुति '*अग्ने त्वं सुजागृहि*' उद्धृत की जा सकती है। श्रीमद्भागवत में स्वयं नारायण माता देवकी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् । (10/3/54)

यहाँ ब्रह्म विषयक स्नेह, वात्सल्य भक्ति है तथा ब्रह्मभाव ज्ञान है। दोनों का एक साथ अभ्यास करने का उपदेश श्रीनारायण ने दिया है। नारायणोक्त होने से यह सिद्धान्त श्रौत भी है तथा आगमिक भी। ज्ञान बौद्धिक चिन्तन प्रसूत है तथा भक्ति राग सम्बन्ध जन्य भावप्रधान वृत्ति है। भक्ति के अनेक भेद हैं। रागात्मिका और वैधी। रागात्मिका में मर्यादा और विधि-निषेध नहीं रह जाते। प्रपत्ति और शरणागति भक्ति के मुख्य आधार हैं। रामानुजादि आचार्य प्रपत्ति को सर्वोपरि मानते हैं, इसमें जीव की अपनी पकड़ का महत्त्व है पर शरणागति में भक्त की चिन्ता भगवान् की होती है। '*भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा*' में लिखा है-

1- *श्रीचन्द्र चन्द्रिका - पृष्ठ 55*

'आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जीव अपने व्यष्टिरूप अविद्या बन्धन को तोड़ सकता है पर समष्टि बन्धन को नहीं। वह तो ज्ञान सहकृत ईश्वर भक्ति से ही टूटेगा। अतः ज्ञान और भक्ति का सहभाव मोक्ष का उपयुक्त साधन है'। इस बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् ने गीता (7/14) में '*दैवी ह्येषा गुणमयी*' श्लोक में माया को दैवी कहा है। इससे माया का समष्टि बन्धन सूचित होता है, और भी बात है, '*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*' श्लोक में प्रपद्यन्ते पद बड़े महत्त्व का है, इससे शरणागति सूचित होती है। यदि ज्ञान से ही माया की निवृत्ति भगवान् को अभीष्ट होती तो प्रपद्यन्ते के स्थान पर वह '*प्रपश्यन्ति*' कहते। इसका तात्पर्य है कि परमात्मा के चरणों की शरण में आने वाले भक्त कभी मायाजाल में नहीं फँसते। इसमें दृष्टान्त है, जैसे मछुए के जाल में वे मछलियाँ फँसती है जो उसके पैरों की ओर न जाकर विपरीत दिशा में भागती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान और भक्ति दोनों का समुच्चय ही मोक्ष का उत्तम साधन है।[1]

सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वामी गंगेश्वरानन्द जी महाराज ने भी कहा है कि इस मत में मुक्तिपदार्थ, अविद्या-माया द्विविध बन्धन निवृत्ति पूर्वक अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही है। जैसे अद्वैतानुसार साधन चतुष्टय-सम्पन्नता के पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अहं ब्रह्मास्मि यह अपरोक्ष साक्षात्कार या ज्ञान जैसे मुक्ति का अनिवार्य कारण है, वैसे ही भगवान् की भक्ति और प्रपत्ति भी उसका दूसरा अनुपेक्ष्य साधन है, यह सिद्धान्त है *भक्ति-वित्ति-समुच्चयवाद* ।[2]

अविद्या-माया ये दो भेद श्री विद्यारण्य स्वामी जी को भी मान्य हैं, वह पंचदशी में लिखते हैं- '*सत्त्व शुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते*'। स्वामी श्री गोविन्दानन्द जी ने समष्टि बन्धन को माया तथा व्यष्टि बन्धन को अविद्या बताया है, माया भक्ति से तथा अविद्या ज्ञान से निवृत्त

1- *भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा - पृष्ठ 481*

2- *वेदगीता - पृष्ठ 185*

होती हैं। यजुर्वेद (40/14) की श्रुति '*विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते*' की व्याख्या करते हुए वह लिखते हैं- प्रस्तुत मंत्र में च शब्द दो बार प्रयुक्त है। प्रथम च का अर्थ है केवल ज्ञान मोक्ष सम्पादन में समर्थ नहीं, द्वितीय चकार से ध्वनित होता है कि केवल भगवदुपासना से भी अपवर्ग प्राप्ति असंभव है। [1]

श्रीचन्द्र जी ने एक पद में दुर्ग के रूप में इस स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है-

कुंचा ताला घरु नगरी का ।
विद्या अउर अविद्या माया गढ़ कपाटु बजरी का ।
व्यष्टि समष्टि डोर दुइ बाँधा जीउ भयउ संसारी ।
व्यष्टि अविद्या समसटि माया करत दुहूं विध ख्वारी ।
अविद्या कुंजी ज्ञान कथीलै भगती कुंजी माया ।
श्रवन मनन करि नंठ अविद्या माया भगति विलाया ।
आत्मरूप दासै घरु खोल्हे ईसु कृपा गढ़ ढ़ावै ।
भक्ति समुच्चित ज्ञान-मोक्ष कर साधन एकु लखावै ।
जिउं धीवरू पगु फंसै न मछरी धार अपूठी फांसै ।
सरनागति बिनु क्लेस दुनीं कह श्रीचंद कबहुं न नासै ।। [2]

अर्थात् इस देह रूपी नगरी में जटिल ताला लगा हुआ है। माया के दुर्ग में विद्या-अविद्या के वज्र के समान सहज न खुलने वाले दरवाजें हैं। व्यष्टि रूपी अविद्या तथा समष्टि रूपी माया की दो डोरों से बँधा हुआ यह जीवात्मा है। ब्रह्मरूप होने पर भी इसी कारण वह परतंत्र है। दोनों ने ही उसे बरबाद कर दिया है। अविद्या के ताले को खोलने की चाबी ज्ञान है और माया के ताले को खोने की चाबी भक्ति है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अभ्यास से, प्रबल योग और वैराग्यं से अविद्या नष्ट होती है तथा तीव्र भक्ति से माया की निवृत्ति होती है, माया से निवृत्त होने में भगवान् की कृपा प्रमुख हेतु है। आत्मसाक्षात्कार द्वारा

1- *श्रीचन्द्र चन्द्रिका - पृष्ठ 34*
2- *श्रीचन्द्र, सिद्धान्त, साधना और साहित्य - पृष्ठ 130*

घर खुलता है अर्थात् जीव अविद्यारूपी व्यष्टि बन्धन से छूटता है तथा भगवत्कृपा से समष्टि रूप बन्धन माया का गढ़ टूटता है। जैसे किसी दुर्ग में कमरे में रहने वाला व्यक्ति कमरे में से निजी प्रयत्न द्वारा बाहर निकल सकता है पर दुर्ग से बाहर जाने के लिए उसे दुर्ग के स्वामी की सहायता चाहिए, वैसे ही अज्ञान से निवृत्ति वह ज्ञान द्वारा कर सकता है पर माया के प्रवाह से बचने के लिए उसे मायापति की कृपा चाहिए। भागवत का साक्ष्य है-

तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ।

श्रीचन्द्र जी ने अविद्याग्रस्त मन रूपी गढ़ का रूपक भी बहुत सुन्दर बाँधा है, इसे हरिनाम जप द्वारा ही संत जीत सकते हैं। सिद्धान्तसागर में आया है-

गढ़ मन विषम रचाय कर दुहरी खाई ।
तीनहुं परै बँधाय कै निज सेन टिकाई ।
चारे बहीयां घेरीयां को आप न जाई ।
द्वारे काम खलारिया त्रिय तोप दिवाई ।
क्रोध संग साथी लिए बड़ धुनी मचाई ।
मोह पसारा पसरिआ सुत साक सहाई ।
गोला लोभ चलाया हरि धुंद लखाई ।
श्रीचन्द्र हरि नाम सों संतन जित पाई ।।

समष्टिगत बन्धन या माया से मुक्ति हरि कृपा के बिना संभव नहीं। सिद्धान्तसागर में कहा गया है-

गई जवानी बहुर न पावहि ।
करि सिमरण इक मन गुरुमुख होय नहिं पाछे पछुतावहि । ।रहाऊ।।
जन परवाह न पुनि किर आयो तेज बल्यो दीपाई,
मास पक्ष ऋतु वासर अयनहिं संवत्सर चक्राई ।
उदर अन्न नर नारी मंडल चल्योजात नहिं बन्ना,
केतीबार उपायो करते केति बार भव भन्ना ।

केते युगन चौकड़ी पलटे ऋषि मुनि गए सिधारे,
श्रीचन्द्र इस काल चक्र सों कालहिं लगि निस्तारे ।।

श्रीचन्द्र जी का यह भी विश्वास है कि अविद्या या उपासना से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है पर ये स्वर्गादि भी नित्य नहीं, अपेक्षा से इन्हें नित्य समझा गया है, भोग के बाद जीवात्मा को इन लोकों से भी गिरना पड़ता है। श्री शंकर ने विद्या को देवोपासना तथा अविद्या को अग्निहोत्रादि कहा है। पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से पतन होता है, इसका समर्थन श्रुति तथा स्मृति दोनों करती हैं। श्रीचन्द्र जी सिद्धान्तसागर में कहते हैं-

देवपुरी जे प्रवेश हो, अन्त गिरोगे आय,
सूख सहिज अनंदरस हो संत संग लिवलाय ।

श्रीचन्द्र दर्शन में जीव-ब्रह्म की अभेदता का प्रतिपादन श्रौत अद्वैतवादानुसार ही हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि उसने जाना कि मैं सृष्टि रूप हूँ, क्योंकि मैंने यह सारी सृष्टि रची है।

सोऽवेदेहं वाद् सृष्टिरस्मि अहं हीदं सर्वमसृक्षीरिति ।

ऋग्वेद (10/183/3) में '*अहं प्रजया अजनयं पृथिव्याम्*' कहकर परमेश्वर ने कहा है कि कर्मफलानुसार सब जीवों को पृथ्वी पर वही उत्पन्न करते हैं। कर्म सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का मूल आधार है, इसी से पाप-पुण्य का सिद्धान्त विकसित हुआ है। सिद्धान्तसागर का कथन है-

लाख करोड़ी जोड़िए अन्तै दुख दाई ।
पाप पोट सिरभार स्यों फंध कैस मुकाई ।
अंधकार बहु योजनी नहिं सूझ सकाई ।
कर्म किए सनमुख भये लहि दण्ड सजाई ।
कन्धी दिस न आवई मल तरी डुबाई ।
श्रीचंद जपु नाम प्रभु दुःख काल पराई ।।

• • •

फल भोगै पाप दुख संतापा चिन्ता फाही फाथा।
सूए चुंच फंसाई. सिंमल घूटिसि नाहिंन हाथा।
बीज बीजया जाहिका, फल लहहिं भी ओही।
आम बबूल न देवहीं, अनिक यत्न सिंचेही।

• • •

मानुख मूल न जानई कर्म मिलाया दास ।
किस विधि छूटहिं बांध्या दृढ़कर्मन की पास ।
चितव चितव पचि पचि मुंए बुद्धिवन्त बेअन्त ।
पहुँच न साकहिं कर्मगति किंहलाग्यो किंह अन्त ।
कर्म न छुटयो राम ते बनवसि दुख पायो ।
सीता सगरी आयु भर सुख रंचि न आयो ।
कृष्ण गयो पर लोक तबि जबि बधिक घायो ।
देवपुत्र पाण्डव भये वृतिदास धरायो ।
लटकै त्रिशंकु उलटि नभ कस कर्म कमायो ।
विधि निषेध श्रीचन्द्र तजि हरि नाम धियायो ।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि श्रीचन्द्र जी ने नैतिकता, सदाचार, कर्मफल, पुनर्जन्म, ज्ञान, भक्ति तथा ब्रह्म, जीव, जगत् के अतिरिक्त मुक्ति पर भी विचार किया है। उन्होंने सदाचारी शील सम्पन्न व्यक्ति की सांसारिक बाधाओं से मुक्ति की धारणा को पुष्ट किया है।

गुरु राहक सच्च बीजया धरती धर्म सवार ।
सिख संतोषी रज्जया सुत्ता पैर पसार ।
दयाबीज संतोख रूख सच्च काण्ड पतदान ।
धर्म फुल फलि ज्ञान वृद्धि तृप्ति मोक्ष निदान ।
हरि भगती घर कल्पद्रुम जप तप संयम फूल ।
फल संतोष सु पाय कर धाम हरो भवसूल ।।

भक्ति कल्पद्रुम के समान है, दया इसका बीज है, संतोष वृक्षाकार है, सत्य शाखा तथा दान पत्ते तुल्य है। धर्म के फूल, ज्ञान का फल और आत्मानन्द मोक्ष है। जप, तप, इन्द्रिय निग्रह के बिना भक्ति भी दृढ़ नहीं हो सकती। सामाजिक दृष्टि से मद्य-नशे का विरोध, चोरी, पर नारी

गमन, मांस भक्षण का विरोध तथा सरल सात्विक जीवन यापन करने की प्रेरणा उनके जीवन-दर्शन का सार है-

भंग चरस आमिष सुरा पोस्त गांज अमल,
काजीं जोगी पंडितीं मसजिद देवस्थल ।
चोरी जारी पानमद व्यभिचारी के थाऊं,
मन्दिर तीर्थ मस्जिदी बसे घुघ गिराऊं ।

कर्म समर्पण द्वारा श्री हरि की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है, यह उनका अडिग विश्वास है। इसके लिए वह सिद्धान्तसागर में प्रभु की दयालुता को कारण मानते हैं, उनका कथन है-

पग जिन एक उठाया हरि प्रभु की ओरा ।
हरि प्रभु योजन कोटि कोटि आवत जनघोरा ।
गज अर्पित इक कमल गहि प्रभु ओर निहोरा ।
जीवन अर्पित आपणा हरि नवल किशोरा ।
रक्त बिन्दु कर निमया इक सिर पद जोरा ।
कोटि सीस हरि बख्श कै तऊ मानत थोरा ।
कौड़ी एक जो भेंट धरि पद पदमनी ठौरा ।
अर्ब खर्ब नवनिधिन युत सब सौंपहि कौरा ।
रे मन भूले बांवरे, पेखउ हरि ओरा ।
तुच्छ खर्च लाहा घनो श्रीचन्द्र बटोरा ।।

गज को देखो, ग्राह द्वारा पकड़ लिए जाने पर चारों ओर से हताश गज ने एक कमल चढ़ाकर सर्वस्व समर्पण कर दिया। उस समर्पण से भगवान् प्रसन्न हुए। रावण ने एक सिर देकर अनेक सिर प्राप्त किए। श्रीकृष्ण ने गीता में '*तत्कुरुष्वमदर्पणम्*' कहा ही है। समर्पण भक्ति का मुख्य आधार है। इसीलिए सिद्धान्तसागर में कहा गया है-

जौं लौं करम करत अहमेव, तौं लौं ब्रह्म न पावत भेव,
जो सभ नारायण कौ सौंपाय, श्रीचन्द्र तवि ब्रह्म समाय ।

ब्रह्मार्पणभाव से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। श्रुति जब एक ओर '*कुर्वन्नेवेह कर्माणि*' कहकर निरन्तर कर्मशीलता का उपदेश

देती है तब कर्म से पृथक् रहना असंभव हैं कर्म होगा तो कर्म में लेप भी होगा पर जो व्यक्ति ब्रह्मार्पणभाव से कर्म करता है, वह कर्म में लिप्त नहीं होता। एक बात और भी, ऐसा व्यक्ति पाप कर्म कर नहीं सकता। शास्त्रनिषिद्ध कर्मों में उसकी रुचि ही नहीं होगी। समर्पण भावना के अभ्यास से वह पाप कर्मों से सर्वथा उदासीन रहता है। वह वही कर्म करता है जो जीवन के लिए सहज और आवश्यक हैं-

> **जेतो मानुख करि सकहि, सो ऐतौ ही काम,**
> **सहिज कर्म महि रत रहै, निसि दिन जापै राम ।**
> **आप छुड़ाए छुटियै, आप बन्धाय बन्ध,**
> **आपहिं मुकति करावहिं, आप लगायै धन्ध ।**

श्रीचन्द्र जी ने स्वामी रामानन्द की तरह घोषणा की थी कि जो शूद्र, चाण्डाल है, वह भी भक्त होने से श्रेष्ठ है। समाज में दिखाई देने वाली विषमता, ऊँच-नीच, छोटापन तथा बड़प्पन मनुष्यकृत है, धन ही विषमता का कारण है। उत्तम वही है जिसका मन निर्मल है, जिसने संतजनों तथा परमात्मा में निर्मल बुद्धि रखी है, उसी का संग पापी को भी पवित्र कर सकता है। अतः यदि मुक्ति पानी है तो सारे भेद भाव भुलाकर सर्वत्र एक ज्योति के ही दर्शन करने चाहिएँ। विषम दृष्टि का परित्याग ही मुक्ति का अचूक साधन है-

> जो जन हरि हरि जापई सो नीच न होई ।
> रक्त बिन्दु करि निमई सब जेतक लोई ।
> राजा रक बराबरी जन्म्यो सम सोई ।
> मिथ्या धन भ्रम पाया विखमा दृष्टोई ।
> करता सबका नायको जिनि जोति समोई ।
> इन्द्रिय मन देवन सकल सम एक धरोई ।
> जिन अपरंपर सेवया मति उत्तम होई ।
> मन की मैल उतार कै निर्मल जानोई ।
> सेई उत्तम जगत मंह हरि हरि मन पोई ।
> श्रीचंद्र तिस चरणधूलि परसत मल धोई ।।

चतुर्थ अध्याय

सिद्धान्तसागर में माधुर्योपासना
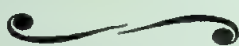
माधुर्योपासना के मूल सूत्र शोधी विद्वानों ने वैदिक तथा वैदिकेतर उपासना प्रणालियों में ढूंढे हैं। कुछ लोगों ने सिद्धों-योगियों तथा सूफियों को उसके लिए उत्तरदायी माना है। सगुण भक्तिकाव्य में माधुर्य की झलक देखने वालों ने इन्हें पाञ्चरात्र संहिताओं में व्याप्त पाया है। वास्तविकता यह है कि माधुर्योपासना वेदमूलक है और अथर्व के कुछ मंत्रों में जो जीवात्मा-परमात्मा के स्थान पर प्रकृति और परमात्मा के दाम्पत्य सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है। इन मंत्रों में कहा गया है कि परमात्मा रूपी दुलहे का विवाह प्रकृति रूपी दुलहिन के साथ हुआ।

> यनमन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि,
> क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठ वरोऽभवत् । (11/8/1)

अर्थात् जब मन्यु, मननशील तथा सर्वज्ञ परमात्मा ने संकल्प के घर से पत्नी (जाया) को बुलाया अर्थात् विवाह किया तब कन्या के भाई बंधु कौन थे और वर के बाराती कौन थे? उस ज्येष्ठ या दुलहे के स्थान पर कौन था? अगले मंत्र में इस प्रश्न का उत्तर है कि महान् प्रलयकालीन कारण रूप समुद्र में परमेश्वर द्वारा जगत् निर्माण विषयक संकल्प (तप) और प्राणियों के पुण्यापुण्यात्मक सुख-दुःख फलोन्मुख कर्म विद्यमान थे। वही कन्या के बंधु बांधव हुए और वही बाराती भी। ज्येष्ठवर या दुलहा तो परमेश्वर के अतिरिक्त और हो भी कौन सकता था?

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे,
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्मज्येष्ठ वरोऽभवत् । (11/8/2)

अर्थात् परमेश्वर दुलहा है, जगत् का उपादान कारण प्रकृति उसकी वधू या जाया है। *'जायते अस्याम्'* के अनुसार जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, वह जाया कहलाती है। प्रकृति जाया है। इसका जायापन परमेश्वर के संकल्प से जागृत होता है, वही निमित्त है। परमेश्वर पिता और प्रकृति माता होकर सब कुछ उत्पन्न करते हैं। तप और कर्म को बाराती कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में आया है *'ब्रह्मण ईक्षणं तपः'* अर्थात् परमेश्वर का सृजन-संकल्प ही तप है और जीवों के कर्मों का फल देने के लिए जगत् बनना चाहिए यह विचार उसके मन्यु रूप का द्योतक है। कर्मफल भोक्ता जीव उसकी संतानें हैं। श्वेताश्वतर श्रुति में 'भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारं च मत्वा, *'सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'* कहकर भोक्ता (वर), भोग्य (दुलहिन) तथा प्रेरिता (माधुर्योपासक सखि) की कल्पना को मूर्त रूप दिया गया है। कृष्ण भक्ति में सखी भाव की साधना में यही श्रुति विद्यमान है और इसीलिए श्री विहारिन दास वेदोक्त त्रिविध ब्रह्म सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं-

वेदनि कह्यो सो हम कियौ लोकनि को मत छाँटि ।

कृष्णभक्ति में यह त्रिविध ब्रह्म सिद्धान्त राधा, कृष्ण तथा सखी के रूप में और रामभक्ति में सीता, राम तथा लक्ष्मण के रूप में विकसित हुआ। यही कारण है कि विष्णु पुराण में कृष्ण को पुरुष तथा चराचर जगत् को स्त्री रूप में प्रस्तुत किया गया है।

स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुषमुच्यते,
स्त्रीप्रायमितत्सर्वं जगद्ब्रह्म पुरस्सरम् ।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को पुरुष तथा बलराम जी को प्रकृति स्थानीय माना गया है। शठकोप या नम्मालवार की सहस्रगीति में दाशरथि राम के प्रति व्यक्त प्रणयोद्गार की अभिव्यक्ति देखकर निश्चित हो जाता है कि

उनकी उपासना माधुर्य भाव मूलक थी। उनके कथन का एक अंश देखिए *'न जानामि प्रबलपापाहं स्त्रीजन्मा'*। श्री वेदान्त देशिक ने इनके पद संग्रह *तिरुवाय मौलि* का संस्कृत में *द्रविड़ोपनिषद* नाम से अनुवाद किया है। इनके मूल पद तमिल में हैं। डा0 कृष्ण स्वामी आयंगर इनका समय छटी शती तथा डा0 मलिक मुहम्मद, श्री दीक्षितार द्वारा अन्वेषित *'वैलवी कुड़ी दानपत्रम्'* के आधार पर सातवीं शती मानते हैं। तिरुवाय मौलि में सख्य-माधुर्य का अनुपम संयोग देखा जा सकता है। ऋग्वेद में *'सत्वन्नोऽग्नेऽवमोभवोती'* (4/1/5) तथा *'इन्द्रस्य युज्यः सखा'* (1/2/6) जैसी अनेक ऋचाएँ हैं जिनमें माधुर्य तथा सखाभाव का उल्लेख हुआ है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भक्तिकाव्य में माधुर्य का प्रवेश सूफियों की देन है अथवा यह शुद्ध अवैदिक आगमिक धारा का प्रभाव है। तमिल प्रदेश के आलवार भक्त तो ईसा की प्रथम शती में भी मिलते हैं। पेरिय आलवार तथा उनकी दत्तकपुत्री अन्दाल इसी परम्परा के गौरवशाली माधुर्योपासक भक्त हैं। सम्प्रदाय सिद्ध ग्रन्थों में दसवीं शताब्दी की रचना सनत्कुमार संहिता में नारी भाव साधना के सूत्र उपलब्ध होते हैं-

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम्,
रूप यौवन सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ।

स्वयं को नारी रूप में प्रस्तुत कर रूप-यौवन सम्पन्न मान पति रूप परमेश्वर से रागात्मक सम्बन्ध बनाने के मूल में प्रेम की अनन्यता के साथ दृढ़ता तथा एकाग्रता का भाव भी निहित है। भागवत में वृत्रासुर ने प्रार्थना करते हुए कहा भी था-

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।

जैसे प्रिया, प्रिय को चाहती है, वैसे ही हे कमल नेत्र मैं तुम्हें देखने को उत्सुक हूँ। श्रीरामानन्द जी ने वैष्णवमताब्ज भास्कर में त्रिमूर्ति के ध्यान की चर्चा करते हुए श्री राम को पुरुष स्थानीय श्री सीता को प्रकृति

स्थानीय तथा श्री लक्ष्मण को प्रकृति-पुरुष के विहार में कैंकर्य सम्पन्न जीव स्थानीय माना है। रामभक्ति के रसिकोपासकों में तो भरत को चन्द्रकला और हनुमान जी को चारुशीला नाम से रसिकोपासक बताया गया है। कबीर का '*दुलहिन गावहु मंगलाचार*' और '*कहै कबीर हम ब्याहि चलै हैं पुरुष एक अविनाशी*' जैसी उक्तियाँ सनत्कुमार संहिता के संदर्भ में रखकर ही देखी जानी चाहिए। सनत्कुमार संहिता का उत्तर भारत में प्रचार भी श्रीरामानन्द द्वारा ही हुआ। अत: मेरी दृढ़ मान्यता है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के मंत्रों '*पतिरिव जाया मभि नो न्येतुं धर्तादिव:*' (10/149/4) तथा '*जायेव पत्य उशतो सुवासा:*' (10/71/4) में निहित उत्कट दाम्पत्य भाव को माधुर्योपासना का मूल माना जाना चाहिए। इन मंत्रों में भक्त कहता है कि उसकी चित्तवृत्तियाँ सब कुछ छोड़कर वैसे ही परमेश्वर की ओर दौड़ें जैसे आलिंगन के लिए आतुर स्त्रियाँ पति की और दौड़ती हैं। क्योंकि उपनिषद् परमेश्वर को '*रसो वै स:*' कहकर रस रूप मानता है अत: साधक को रस पाने के लिए रसिक होना पड़ा और इसीलिए सिद्धान्त बन गया-

कृष्णप्रिया सखी भावं समाश्रित्य प्रयत्नत:,
तयो: सेवां प्रकुर्वीत दिवानक्त मतन्द्रित: ।

तात्पर्य यह कि मध्यकालीन निर्गुण-सगुण धारा में मधुरोपासना भारतीय परम्परा की देन है। उसका आगमन कहीं बाहर से नहीं हुआ। संत गरीबदास की दुलहिन के साथ चलकर देखिए तो उसका पता चलेगा कि वह दुलहा कौन है-

फेरे दुलहे से लिए मिलिआ योग-वियोग,
अटल पुरुष दुलहा बर्‌या धन सद्‌गुरु संयोग ।
सेज सुंरगी पीव की बैठे अविगत कंत,
दुलहिन खेले फाग सब बारह मास बसंत ।।

मधुर भाव के प्रसार में वैदिकेतर साधनाओं का भी योगदान रहा है। बौद्ध तांत्रिकों का मिथुन-योग तथा सूफियों का प्रेम-विवाह इसमें घुल मिल

गया। साधना के क्षेत्र में बौद्ध सिद्धों, रसेश्वर दर्शनों एवं कौल, कापालिक सम्प्रदायों में पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करके अद्वय या युगनद्ध स्थिति की उपलब्धि का प्रयास किया जाता था। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष अंश (शिव और शक्ति) मनुष्य-शरीर के भीतर ही हैं। उनकी अद्वय उपलब्धि के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रणालियों का आश्रय लिया जाता था तथा स्त्री का प्रयोग साधन रूप में भी स्वीकार्य था। सब मिला कर इनमें यौन-यौगिक साधनाएँ प्रचलित थीं। इन्होंने मधुर भाव के प्रसार में पर्याप्त सहायता दी।

सहजिया वैष्णवों में आकर इस विश्वास का थोड़ा रूप बदल गया। यहाँ पर प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का तत्त्व स्वीकार किया गया। इसके लिए '*आरोप साधना*' की कल्पना की गई। पुरुष किसी स्त्री में राधा का आरोप कर वैसा ही चिन्तन करे, उसके लिए व्याकुल हो, स्त्री पुरुष को कृष्ण के रूप में देखे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के ही शरीर साधन बन गए। इस आरोप साधना के लिए परकीया भाव स्वीकार किया गया क्योंकि मिलन की चेष्टा वहीं अधिक तीव्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहन होती है। [1]

माधुर्योपासना का यह रूप निर्गुण काव्य में व्यवहृत नहीं हुआ। सगुण भक्तिकाव्य में यह युगल तत्त्व की आराधना के रूप में विकसित हुआ पर सूफियों के प्रभाव से तेरहवीं-चौदहवीं शती के आसपास विरहभाव की प्रधानता के कारण यह प्रेम प्रतीक वाद के रूप में विकसित हुआ। सनत्कुमार संहिता के समान स्वयं पर नारी भाव का आरोप कर परम पुरुष की पति रूप में चाहना ही इस साधना प्रणाली का केन्द्रभाव था। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म के धाम (सचुखण्ड, बेगमपुर) की तो कल्पना करली गई थी पर रूप, परिकर, लीला आदि की परिकल्पना के लिए यहाँ गुंजाइश नहीं थी। परोक्ष सत्ता की अनुभूति और अनुभूति जन्य तीव्रता के लिए उन्होंने प्रिय-प्रियाभाव को आधार के रूप में ग्रहण

---

1. *ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति - डा0 देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 119*

किया। गुरु को उन्होंने दूती के रूप में कल्पित किया। *'अविनाशी दूलहमन मोह्यो'* जैसी उक्तियाँ निर्गुणधारा में भी मधुरोपासना के कारण ही दिखाई पड़ती हैं। कान्तासक्ति इसलिए उन्हें प्रिय है, कि इसमें द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जो प्रिया प्रिय के साथ मिलकर एकमेक हो गई है, उसे संतों ने सुहागिन तथा दूसरी जो नहीं मिल सकी उसे दुहागिन नाम दिया है। रज्जब दास ने लिखा है-

पतिव्रता के पीव बिनु, पुरुष न जन्म्यां कोइ,
त्यूं रज्जब रामहिं रचैं, तिनके दिल नहिं दोइ ।

शेख इराकी हमदानी ने कहा है-

ब-गेती हर कुजा दर्दे दिले बूद,
बहम करदंहो इश्क़श नाम करदंद ।

अर्थात् संसार में जहाँ कहीं भी दिल का दर्द था, उसको एकत्रित कर दिया गया और उस पुंजीभूत दुःख को इश्क का नाम दे दिया गया। शेख औहदी ने कहा कि हे प्रियतम। तेरे सुंदररूप ने सृष्टि में असंख्य सौन्दर्य पैदा किए परन्तु वह सौन्दर्य इन स्थूल आंखों से नहीं दिखाई पड़ते-

कर्द आश्कार सूरते खूबत हज़ार हुश्न,
वाँ हुस्नहा ज़े दीदा-ए-सूरत निहां हमा ।

इसी सौन्दर्य से अभिभूत हो वह दिव्यप्रेम के प्याले में मदिरा पीता है-

खुर्दस्तबादा लेक ज़े जामे अलस्ते इश्क ।

फरीदुद्दीन अत्तार तो प्रिय से मिलने के लिए प्राण न्यौछावर करने की बात भी करते हैं। प्रेमी एक कण की भाँति चमकते हुए सूर्य में मिल गया। एक भटकते हुए बिंदु की तरह सागर में विलीन हो गया, उसके और प्रिय के बीच प्राण ही बाधक थे, उसने प्राण भी दे दिए और तब देखा कि प्रिय और प्रियतम मिल कर एक हो गए हैं-

चूं ज़र्रा ब-ख़ुर्शीदे दुरूरवशां पैबस्त,
चूं कतरा-ए-सरगश्ता ब-उम्मां पैबस्त,

जां बूद मियाने वै औ जानां हायल,
फिलहाल कि जाँ दाद ब-जानां पैबस्त ।

मध्यकाल के सूफी सन्तों में शेख मुइनुद्दीन चिश्ती, शेख फरीदुद्दीन शकर गंज, शेख निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम श्चिती, अमीर खुसरो के नाम प्रसिद्ध हैं। शेख फरीद की भेंट गुरु नानक जी से हुई थी। उन्होंने मुलतानी में भी काव्य रचना की है। बाबा फरीद से पूर्व पंजाबी में कोई नाथ बानी उपलब्ध नहीं है। फरीद ने व्रज, उर्दू तथा फारसी में भी लिखा। बहुभाषिकता के काव्य प्रयोग द्वारा वह पंजाब ही नहीं, समूचे देश से जुड़ना चाहते थे। बाबा फरीद का रचनाकाल कुछ विद्वान् बारहवीं शती मानते हैं, यदि ऐसा है तो उनके और गुरुनानक के बीच के तीन सौ वर्षों में पंजाबी में लिखने वाले किसी अन्य कवि का नाम सामने नहीं आता। फरीद की रचनाएँ ग्रन्थ साहब में संकलित हैं। पंजाब के अन्य सूफी कवियों में शाह हुसैन, बुल्लेशाह, सुलतान बहरी तथा शेख़शरफ़ के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्होंने काफी, बारामाह और सिहरफी जैसे काव्यरूपों का विकास किया।

गुरुनानक देव की माधुर्य भाव प्रधान रचनाओं पर बाबा फरीद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गुरुओं के आध्यात्मिक अनुभव में रूहानी प्रेम की तीव्रता बड़ी गहरी है। गुरुनानक ने राग तुखारी महला 1 बारहमासा में साधिका जीवात्मा की प्रेम वेदना इस प्रकार व्यक्त की है-

माघ पुनीत भई तीरथु अंतरि जानिआ,
साजन सहजि मिले गुण गहि अंकि समानिआ ।
प्रीतम गुण अंके सुणि प्रभु बंके तुधु भावा सरि नावा,
गंग जमुन तह बेणी संगम सात समुंद समावा ।
पंजदान पूजा परमेश्वर लगि जुगि एको जाता,
नानक माघि महारसु हरि जपु अड़सठि तीरथ नाता ।।

अर्थात् माघ मास में ज्ञान तीर्थ को अपने अन्दर जानकर ही मैं पवित्र हो गई। मुझे सहजभाव से साजन मिल गए। उनके गुण मैंने हृदय में

बसा लिए। हे बांके प्रभु! सुन, मैंने प्रियतम के गुणों को दिल में उतार लिया है, तुझे मैं अच्छी लग रही हूँ, यह विश्वास ही मानों ज्ञान के सरोबर में डुबकी लगाना है। गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी संगम तथा सातों समुद्र इस सरोवर में समाए हुए हैं। प्रियतम परमेश्वर तेरा साथ ही पुण्य, दान और पूजा है। नानक कहते हैं कि माघ में हरि का नाम जप ही महारस है और यही अड़सठ तीरथों के स्नान का आनन्द प्रदान करता है।

वही प्रेमिका जीवात्मा प्रिय को प्यारी होती है जिसने अन्दर क़ो सँवारा है। जिसने निर्मल मन रूपी मोती को धारण किया है तथा जो क्षमा, दया आदि सद्गुणों का परिधान पहने हुए है-

मन मोती जे गइणा होवै, पउणु सूत धारी,
खिमा सिंगारू कामणि तन पहिरै, रावै लाल पिआरी ।

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि भगवान भक्त की भावना देखते हैं, वह उसके कुल, शील, ज्ञान-अज्ञान आदि को नहीं देखते, वह तो भोली भाली जीवात्मा का हाथ पकड़कर अपनी सेज पर ले जाते हैं-

गुनु अवगुन मेरो कछु न बीचारो,
नह देखिओ रूप रँग सींगारो ।
चज अचार किछु विधि नहिं जानी,
बांह पकरि प्रिअ सेजै आनी ।।

जो प्रेमिका जीवात्मा अनन्यभाव से प्रियतम की हो गई है, वही सुहागिन है, जो अहंकारी माया मोह में फँसी है वह दुहागन प्रिय के महल से बड़ी दूर है। ऐसी कर्महीना अभागिनी के लिए रंगमहल में कोई स्थान नहीं। मिलन की रात की घड़ी निकल जाने पर वह कर्महीन मन मुखी पछताती रहती है-

सा सोहागिणि अंकि समावै,
गरब गहेली महलु न पावै ।
फिर पछुतावै जब रैणि बिहावै,
करम हीणि मनमुखि दुख पावै ।।

तात्पर्य यह कि सगुण-निर्गुण काव्यधारा में प्रेम की पीर का समान प्रवेश है तथा भक्ति की अनन्यता के लिए वेद से लेकर संत काव्य तक प्रेम-प्रतीकों का सहारा लेकर माधुर्यभाव तथा विरहजन्य पीड़ा का चित्रण होता रहा है।

बाबा फरीद को गुरुनानक देव तथा आचार्य श्रीचन्द्र जी ने प्रेमपीर के लिए आदर्श माना, इसका एक कारण यह था कि बाबा फरीद भारतीय सूफी थे, उन्होंने अभारतीय सूफीवाद का भारतीयकरण किया था। श्रीबलवन्त सिंह आनन्द के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि भक्तिवाद के जैसा सूफीवाद का भी प्रयत्न रहा कि त्याग और भक्तिभाव दोनों में समन्वय हो पर इन सभी से कहीं अधिक महत्व की बात यह है कि सूफियों ने जिस एक सिद्धान्त को बड़ी भावमयता के साथ अपना गिना अर्थात् ईश्वर के साथ तादात्म्य अथवा *अन्तयुक्त का अन्तमुक्त में विलय* का सिद्धान्त वेदान्त का ही एक चिरन्तन सिद्धान्त था। इनका तरीकत प्रेम का ही मार्ग था और परम सत्यता का दर्शन भी ईश्वर प्रेम का ही पर्याय।'[1] श्रीचन्द्र जी ने मात्रा में इसे '*पूजाप्रेम भोग महारस*' कहा है। नानक जी ने भी इसे महारस की ही संज्ञा दी है। भागवत में यह '*प्रेष्ठसंग*' कहा गया है। चीरहरण प्रसंग में इसका उल्लेख हुआ है। परशुराम जी चतुर्वेदी ने ग्रन्थ साहब के फरीद को दूसरा फरीद माना है। डा0 मेकलिफ ने इनका निधन सन् 1552 में माना है। श्री चन्द्र जी की आयु तब 58 वर्ष थी। इनके ग्रंथ साहब में संकलित वास्तविक श्लोकों की संख्या 113 अनुमानित की गई है। यह दूसरे फरीद भी शंकरगंज की परम्परा में ही दीक्षित थे। पाकपत्तन तथा लाहौर में इनके अनुयायी अधिक थे। इनके एक '*सलोक*' का भाव लीजिए – 'आत्मा जिंद वधू है एवं काल (मरण) वर स्वरूप है जो उसका पाणिग्रहण करके उसे लेता चला जाएगा। पता नहीं वह जाते समय किसे दौड़कर अपने गले लगाएगी। अय फरीद जब खालिक खलक के भीतर

1. *बाबा फरीद – पृष्ठ 35*

मौजूद है और उसी में यह सब कुछ अन्तर्हित है तो फिर किसको मंद और नीच समझा जाए। इसी प्रकार मैंने पहले समझा था कि अकेले मैं ही दु:ख में पड़ा हूँ किन्तु अब सभी को दु:ख में पड़ा हुआ देखा रहा हूँ। जब मैंने ऊँचाई पर चढ़कर दृष्टिपात किया तो मुझे ऐसा लगा कि वास्तव में सभी के घर लगभग एक ही समान आग लगी है'।[1]

नानक जी ने ग्रंथ साहब सूही महला 1 पद में दाम्पत्य भाव का चित्रण किया है। वह कहते हैं – 'हमारे घर साजन आए हैं, सखियों मिलकर रस मंगल गाओ। मेरे अंतर में प्रेम रतन है, मेरा तन मन अमृत से भीग गया है। सुनो सखी, मनमोहन ने मुझे ऐसा मोह लिया है कि मेरा तन मन अमृत से भीग गया है।'

हम घर साजन आए, साचे मेलि मिलाए ।
अनदिन मेल भया मनमान्या घर मंदिर सोहाए ।
पंच शब्द धुन अनहद बाजे हम घर साजन आए ।
सखी मिलहु रस मंगल गावहु हम घर साजन आए ।
तन मन अन्तर भिन्ना, अतंर प्रेम रतन्ना ।
सुनहु सखी मन मोह्या तन मन अमृत भिन्ना ।।

श्रीचन्द्र जी ने भी इश्क या प्रेमाभक्ति को प्रमुख साधन माना है, इस प्रेम में कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती। इश्क के बिना खुदा का नूर नहीं देखा जा सकता। सिद्धान्त सागर में कहा गया है –

आशिक रखी आस जग परम निलज्जा कूर ।
ध्रिग ध्रिग एह लोकैं लहै आगे कोजख सूर ।
इशक बिना किहिं वेखया जलवा नूर खुदाय ।
पर्णकुटी पावक लगी भस्म बिना क्या पाय ।
तन भस्मा मन भस्म है धन भस्मी भवखेह ।
इशक प्याला पीवीयै कर्म करीम करेह ।।

श्रीचन्द्र जी उस आत्मा को दुहागण मानते हैं जो पति परमेश्वर से पृथक्

1. *हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - भाग चतुर्थ - पृष्ठ 268*

है, दुहागण के लिए भक्ति के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं –

करै श्रृंगार दुहागणी चख अंजन डारै,
पति बिन शन्ति न पावई पेखै लखि द्वारै ।
जोई भाई खसम को रस सोई सारै,
नंगे ही अँग सोहिए नारी भातरि। रहाऊ ।
सासू नणंद न जानई अन्तर हेतारै,
दराणी जैठाणीआं परिहर परनारै।
जिन-जिन पाया प्रेमरस सुख शोभ अपारै,
भुख तिस-तिख न व्यापई श्री चन्द्ररसारै ।।

वह शब्द सुधा में कहते हैं कि यह मन मुखी जीवात्मा कुलक्षणीनारी के समान है, यह खसम को भूलकर अर्थात् आकाश के समान व्यापक परमात्मा को विस्मृत कर चुप-चुप क्यों रो रही है? शरीररूपी घर का अनुभव बड़ा कठिन है। इसी में तेरा प्यारा प्रियतम सो रहा है। उजड़ा हुआ स्थान उसे अच्छा नहीं लगता। मन का मरुस्थल सदैव प्यासा रहता है। भोग की अग्नि निरन्तर जलती रहती है, कभी तृप्ति का बादल यहाँ बरसता ही नहीं। खिलता और लहलहाता हुआ खेत कालरूपी किसान ने काट लिया है और जीव की आयु की फसल वह चुनकर ले जाने वाला है। मैं भोली-भाली जीवात्मा रूपी दुलहन प्रियतम की बारात के साथ चली जा रही हूँ। संत पुरुष मेरे माता-पिता हैं। सद्गुरुदेव ने भक्ति की ओढ़नी हरि नाम के रंग में रंग कर मुझे ओढ़ा दी है। परमात्मा रूपी प्रियतम से इसी चूनर को ओढ़कर मैं मिलूँगी। मैं अबोध बाला बनावट नहीं जानती। ज्ञान, यज्ञ, तप और साधना के आभूषण मेरे पास नहीं है। मेरी ससुराल भारी है। वहाँ मेरे गुणों का लेखा जोखा होगा।

मेरी पाँचो सखियाँ कहती हैं मैं सबसे हारी हुई हूँ। श्रीचन्द्र जी कहते हैं कि मुझे तो मेरे अविनाशी गुरु ने सिद्धासन प्रदान किया है, मैंने सभी प्रकार के कर्मों से छुटकारा पा लिया है। कर्मत्याग सम्पन्न जीवात्मा जब परमात्मा के गले लग जाती है, एकमेक हो जाती है तब वह पुनः वियुक्त नहीं होती। श्री कृष्ण ने गीता (8/15) में भी कहा है कि जो

महात्माजन मुझे प्राप्त हो जाते है। योग धारण से या प्रेमाभक्ति द्वारा मुझे पा लेते हैं, वे दुःख के स्थान रूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं पाते –

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्,
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।

• • •

खसम बिसारि कुलखणी मुसि-मुसि घरु रोवै ।
अउखा अनुभौ पिंड दा मिठड़ा पिउ सोवै ।
उज्जड़ थेहु न भाँवदा माहरु मन प्यासा ।
खिलदा खेत उपाड़िआ लुणिआ जीवासा ।
संतजना मेरे बाबुला पिरु जंज चढ़ावै ।
सदगुरु अँचरा भक्तिदा हरि नांउ रँगावै ।
नैहर मुंघी बालड़ी साहुरड़ा भारी ।
पंच सहीआ बोलदीं हंउ सबतौं हारी ।
अविनासी आसणु देइआ तिन करमु समाए ।
श्री चंद कंठे लागिआ अब क्रवण छुड़ाए ।।

बाबा फरीद ने कहा है जो नारी प्रियतम द्वारा परित्यक्त है, उसे कैसे चैन मिल सकती है? जो जीवात्मा हरि से बिछुड़ी हुई है, वह कैसे शांत हो सकती है? उसकी रात कैसे बीती यह उसी से पूछो।

अजु न सुत्ती कंत सिउ अंग मुड़े मुड़ि जाइ,
जाइ पुछहु डोहागणी तुअ किउ रैनि बिहाइ ।

सूही राग में फरीद ने बड़ी भावुकता से एक विरहिणी का चित्र उतारा है जो अपने प्रियतम से बिछुड़कर छटपटा रही है। सच है, प्रेम विहीन सौन्दर्य केवल कुंभलाने के लिए है –

तपि-तपि लुहि-लुहि हाथ मरोरउ ।
बावलि होइ सो सहु लोरउ ।
तैं सहि मन महि कीआ रोसु ।
मुझ अवगन सह नाहीं दोसु ।

जोबन जांदे न डरौं जे सह प्रीति न जाइ ।
फरीदां कितीं जोबन प्रीति बिनु सूकि गए कुम्हलाइ ।।

पर इस विरह का अन्त भी किसी महल या जंगल बीहड़ में नहीं होना है, यह दिव्य भेंट तो हृदय की वेदी पर होनी है –

फरीदा जंगलु जंगलु किआ भवहि बणि कंडा मोड़ेहि,
बसी रबु हिआलिए जंगलु किआ द्रिढ़ेहि ।

श्रीचन्द्र जी की प्रेमी विरहणी श्रद्धा की शैया बिछाकर प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है, कब घोड़ी पर चढ़कर प्रियतम आएँ तथा उसकी बाँह गकड़कर शैया पर बैठा लें, सिद्धान्तसागर में इस अभिलाष का मार्मिक चित्रण हुआ है–

श्रद्धा सेज बिछाय कै प्रभु खड़ी उड़ीकां,
पंथ निहारहिं बार बार खेचउ धुर लीका ।
तेरे रूप लुभाइयां का स्यों तुहि मीकां ।
नयनन थंभै नीर नहिं डर निकसत चींखा । ।।रहाऊ।।
रैण अंध्यारी कारीयां जंगल बड़ कीकां,
जानऊ नाहीं आप कब जलती बहु हीकां ।
होहु सहाई साधु जन पुर्वहु चित पीकां,
श्रीचन्द्र रंग श्याम दिय श्यामहि पिय डींका ।।

• • •

मेरे प्रभु हरि प्रीतमा मैं खरी दुहेली,
तुझ बिनु कोय न सूझई सगरे जग बेली ।
इको मेरी धणीं तूं नहिं छोड़ि अकेली ।
घोड़ी चढ़ि कै आओ इत लीजै संग मेली । ।।रहाऊ।।
कोसन लों मार्ग महां किमि जाय महेली,
अन्तर वेदन करक सरक नहिं पात सहेली ।
एको एक पछाणता अणु भावक लेली,
श्रीचन्द्र गहि बाँह लेहु आपन करि हेली ।।

दाम्पत्य भाव, विरह की तीव्रता, रूपदर्शन की लालसा, प्रतीक्षा तथा स्वामी और दासी के भेद का मार्मिक वर्णन सिद्धान्तसागर में हुआ है। कुछ उदाहरण लें-

सखीरी आज अशोक भयो ।
तरूवर मूल सडालन कांडी सागर मध्य गयो । ।रहाऊ।।
ढोल ढमका दुन्दुभी नाई ताल तरंग मंजीरा,
ताण्डव नृत्य नचाय आयो महाबली रघुबीरा ।
डर की पीर पछाननहारा मिलि है अगनि जराई,
कोउ उपाव न करि मोहे पावा, विरह सहो दुखदाई ।
तू राजा मैं सद बनवासिनि कैसे जोड़ी जोड़ी,
श्रीचन्द्र इस विरहनि केरी किस्मत सकत न होड़ी ।।

• • •

औंसी पाई राह ले काग बनेर उड़ाय ।
चढ़ी चुबारे देखदी प्रीतम किधरों आय ।
तन जल बल कोयले भया मन उड़ि दहि दिशि धात ।
प्यारे प्रीतम के बिना उपजहिं किहि विधि शांति ।
नैनी जलधर उमडि़ कै लाई घनी झरी ।
धरती मति ग्रीष्म जली अजहूँ नाहि भरी ।।

• • •

परदेसहि तूं चल गयो चित याद न मेरी ।
लालच धन के लगियां पाई नहिं फेरी ।
बरसत बूंदा गगन तें जनु बाणां हेरी ।
तड़पत मीन न तरसता कुण्डीजल गेरी ।
करक कलेजे रड़कती सूलां दम केरी ।
श्रीचन्द्र कहुं मिलहु प्रभु क्यों लाई देरी ।।

विरहिणी आत्मा का विरह समस्त प्रकृति में दृष्टिगोचर होने लगा है। वह खड़ी हुई प्रतीक्षा करती है। कोयल की कूक में उसी की हूक तथा चातक की टेर में उसी की गुहार ध्वनित हो रही है। इस पीड़ा को तो

कोई विरही संत जन ही जानता है जिसकी लौ प्रिय से लगी हुई है।

कूक कोयली तीर चलावहिं चातक टेर सुनाव,
विरह हमारा तुम प्रगटावहु कहो कौनहु प्रभाव ।

खड़ी उड़ीकत तोहि ।
काका बनेरहु उड़त नाहीं प्रीतम के डर मोहि । ।।रहाऊ।।
नयनी नीर न बोल आवत कैसे कहि हौं बात,
प्रेम कानी गड़ी मोहि मन करक डर न समात ।
अन्तर वेदन कहि न साकहिं कोऊ जानहिं संत ,
अन्तर्यामी जान मन की देहैं धीरज मंत ।
कष्ट मेट कै हरहिं पीड़ा मेल पुरुषहिं दयाल ,
श्रीचन्द्र की कांख पूरहु होहि प्रभु किरपाल ।।

बारहमासा तथा षट्ऋतु वर्णन में भी उसे प्रिय की स्मृति निरन्तर बनी रहती है। फाल्गुन के ब्याज से फगवा लेती साधिका का मनोहारी चित्र यहाँ अवलोकनीय है–

फलगुण रंग रवी लालो लाल सुहाया राम ।
नटवर आय गया गोपीयन राग सुनाया राम ।
राग सुनाया ताल दिवाया नाची आप निवारी ।
गोधन दधी दुग्ध दुह त्यागा संत रली गिरधारी ।
गया कलेस पाटले गमन्यो वृक्ष कदंब लखाया ।
श्रीचन्द्र फलगुण कै फागै वंशी शब्द सुनाया ।।

सूफियों के समान अथवा बादल आदि भक्तों के समान श्रीचन्द्र जी की प्रेमिका परकीया नहीं। मध्यकालीन प्रेम साधना में परकीया प्रवेश के कई कारण थे पर श्रीचन्द्र जी श्रौत परम्परानुसार स्वकीया भाव की प्रेम साधना को ही महत्त्व देते हैं। वह उस मरजीवा या गोताखोर को धन्य मानते हैं जो साधना के समुद्र में डूब कर प्रेमाभक्ति का मोती निकाल लाया है–

प्रावृट वारिद वर्षा बन सरसाने-
तड़िता तड़ित औ बलाक पन्ति सोहती ।
वाम मिलि गावत झुलावत चण्डोल दोल,
पति के आगम को स्वकीया पंथ जोहती ।
नाचत मयूर भूर कूकत सरूरस्वर,
गावत मल्हार मेघ गन्धन सो बोहती ।
श्रीचन्द्र गुरु काक वाक्य जो बखानै उड़,
पति प्रभु पाय ते आनंद मुख मोहती ।।

• • •

शरद सुहानी नभ उज्ज्वल भा दसोदिसि,
वेदन निवास जलपति सरसावतो ।
शुक्ति स्वांति पाय नितांत सो सिधान्त जाय,
पैठ कै पताल न उकस पर आवतो ।
डूब मरजीवड़े पयोधि सों मुकुत पाय,
मगन मस्त मन फिरै कछु कछु गावतो ।
श्रीचन्द्र अदभुत् रस बिसमानो मनि,
शारदा शरद शशि सतगुरु धावतो ।।

वर्षा की हरियाली, विद्युत की चमक और कड़क, बगुलों की श्वेत पंक्ति, वामाओं का झूला झूलना, मयूरों का नृत्य, मेघमल्हार या मेघगर्जन, सीपी में स्वाति की बूंद का मोती होना, मरजीवा का मोती पा जाना तथा सद्गुरु का शुद्ध चन्द्र के रूप में उदय होना एक ओर प्रकृति के उद्दीपन का चित्रण है तो दूसरी ओर साधिका की साधना का परिपक्व होना दर्शाता है।

यह स्वकीया सौभाग्यवती है, इसने आत्मारूपी दीपक जलाकर अंधेरी अज्ञान निशा में प्रिय से मिलने की ठानी है। श्रीचन्द्र इस अलौकिक अभिसारोत्सुक जीवात्मा को उपदेश करते हुए शब्द सुधा में कहते हैं- हे सुहागिन आत्मारूपी दीपक जला, राग, द्वेष, मद, मोह के पतंगों को इस सोऽहं वृत्ति की लौ में तिल तिल जला कर राख कर दे। यदि तू

ऐसा कर सकी तो बड़भागी कहलाएगी। देख तृष्णा और लालसा की कभी समाप्त न होने वाली काली-काली घटाएँ घुमड़ घुमड़ कर अँधेरी रात का वातावरण और डरावना बना रही हैं। इस नश्वर संसार के अज्ञानान्धकार में डर न लगे इसलिए ज्ञान का दीपक जलाना जरूरी हो गया है। साक्षी चेता की ज्योति के बिना केवल साखी सबदी के कथन मात्र से यह औघट बीहड़ घाट पार नहीं किया जा सकता। निष्काम (अकाम) तथा निस्पंद (अरब्धा) स्थिति के बिना इस घाट पर पहुँचना कठिन है। गुरु की कृपा के आँचल में इस ज्ञान दीपक को ढकले, कहीं विषय भोग की हवा इसे बुझा न दे। शुक, नारद और सनकादिक मुनि हंस रूप में सोने की अटारी पर चढ़े तुझे उर्ध्वगति पाते देख प्रसन्न हैं। तू निश्शंक होकर सहस्रार चक्र रूपी सेज पर वृत्ति वधू को विश्राम करा दे। यह अवसर जीवन में बार-बार नहीं आता। क्योंकि एक तो मानवदेह का मिलना बड़ा कठिन है और दूसरे सद्गुरु की कृपा तथा उनका मार्ग दर्शन तो अत्यन्त दुर्लभहै। श्रीचन्द्र कहते हैं कि हे जीवात्मा रूपी सौभाग्यवती नारी तू हृदय के वज्र जड़े किवाड़ों को खोल और रूप तथा रस के अनन्त भण्डार श्याम सुन्दर की रूप रस माधुरी का पान कर।

आतम दियरा बार सोहागणु ।
रागद्वेष मद मोह पतिंगा तिल तिल छारू करहु बड़ भागणु ।
त्रिसनां घटा घुमड़ि घणि बरसै घिर घिर आवै रैन अँधारी ।
साखी जोत अकाम अरब्धा औघटुघाट न उतरसि पारी ।
गुरुप्रसादि अँचरा तर ढाँपहु बुझि न जाय कहुँ विषय बयारी ।
सुक नारद सनकादि मुनीसा हंस रूप चढ़े कनक अटारी ।
होई निसंक सेज पर पौढ़हु यहु औसरि पुनि हाथु न आसी ।
श्रीचंद खोलु कपाट बजर घटि बेखहु स्याम रूप रसरासी ।।

जीवात्मा के उत्थान के लिए जगत् की नश्वरता का बोध होना आवश्यक है। जीवन क्षणभंगुर है इसमें गुरुसेवा तथा हरिभजन ही एकमात्र मुक्ति के साधन हो सकते हैं। सिद्धान्तसागर में अनेक स्थानों पर जीवन और

जगत् की नश्वरता का चित्रण हुआ है। उदाहरण देखें-

जन्मत मरणा संग लग्यो, मेला बिछोरन हारा रे,
माटी हूं ते उपज्यो इह तन, अन्त होहि पुनि छारा रे ।

क्यों नहिं मरण चितारा रे ।
लोभ लागि परधन हिर ल्यायो नर फाही गरभारा रे । ।।रहाऊ।।
आपन जीवन मरणो औरन अंतरमत अन्धियारा रे,
छिन पल दमक दामिनी दमकति बादर बहुर गुबारा रे ।
खण्डेधार गली अति भीड़ी तन चीरहीं रंग आरा रे,
जैसो करि है तैसा भरि है अमिट न्याय करतारा रे ।
हरि हरि भजनु करहु दिन राती दीपक देह उजियारा रे,
राम नाम बिन मुकत न काहूँ श्रीचन्द्र कह्यो पुकारा रे ।।

• • •

प्राण गए देह भई डरानी पावन हू ते अपावनी,
मिले प्यारे उद्दम धारे पहुँचायो अपनी छावनी ।

क्या तुमरी है भावनी?
महिल मुनारे बाग बगीचे धरनी भई बिगावनी ।
धरनी रोय खोहि सिरपीरत पूतन सम्पत रावनी ।
हंस अकेला लेखा बाकी हवै है केस छुड़ावनी ।
मृगन उजाड़ी फसल असाड़ी क्यों करि आसा सावनी ।
माल पदार्थ भये अकारथ सुन्दर थिरा डरावनी ।
क्या कौड़ी का जोड़ी जोड़ी कसमल ताप तपावनी ।
हरि हरि भजन यजन गुरु सन्तन श्रीचन्द्र कलपावनी ।।

इस संसार से सभी प्राणियों को एक दिन जाना होगा। मन मुख, गुरुमुख, साधु, संत कोई स्थायी रूप से इस संसार में नहीं रह सकता। श्रीचन्द्र जी जीव को प्रबोधन देते हुए कहते हैं-

भाई रे एकल जाणा होय ।
पुत्र कलत्र सम्बन्ध सभ संग न जैहै कोय । ।रहाऊ।।

योगी यती सरेवड़े वैरागी उदासि,
भगति भगौती संयमी मित नाही रामदासि ।
पण्डित बांधे ज्योतिषी काज़ी मुल्ला शेख,
पोप पूज्य नख जटाधार मुण्डित भगवे भेख ।
तपे तपेश्वर मोनियां महाराजे कंगाल,
श्रीचन्द्र नहि गणत होय कड़ि बाँधे यमकाल ॥

• • •

चार दिवस को जीवना ।
सुन्दरकांया रूप सवाया अन्त भस्म ही थीवना । ॥रहाऊ॥
सुलतान खान सूरे बड़ पूरे जिन सब जगत निवाया,
शाहनशाह सिंहासन बैठे बहु योजन सिर छाया ।
स्यन्दन अश्व नाग दर ठाड़े द्वारपाल गणराजै,
कंचन दंड लियो अगुवाई भाट नकीवन बाजै ।
चले छोड़कर लंबी धाई साथ न दासन लीनों,
श्रीचन्द्र थिर नाम नारायण सदगुरु सबदी चीनों ॥

• • •

स्थिर रहना तो है नहीं जे जीवहिं युग कोटि,
परमेश्वर से भुलियां सिर सहिहै यम चोटि ।
जलते पेख लेहु शमशान ।
मंडप महिली त्याग कै एही कर्म निदान । ॥रहाऊ॥
खेहू खेह मिलाइआ गोरचित्ता दोय राह,
लेखा सबना कै सिरै पेखहु मन अवगाह ।
जलमहि धरणी विचरती उर महि पावक धार,
पवना जाय आकाश को कोय न साकस टार ।
राव रंग पातशाह कउ मार्ग चालण एहु,
नाम विहूणे श्रीचन्द्र पिखियत ऊचे थेहु ॥

सूफियों ने मृत्यु से मुक्ति का उपाय मरण साधना को माना है। मनोमारण तो नाथों और सिद्धों में भी प्रचलित साधना है। पर भृंगी कीट न्याय की

तरह सम्पूर्ण रूपान्तरण सूफियों को अभीष्ट रहा है। निरन्तर रूपासक्ति तथा नामासक्ति से यह रूपान्तरण संभव है। हठयोग और प्रेमयोग तथा गुरु-शिष्य भृंगी-कीट सम्बन्ध से मरण साधना पूर्ण होती है। मरण साधना का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं-

स्वाति बूंद कहुं पाय कै सीप धसै घट माहिं ।
मरिआं मोती निकस है हरि हरि नाम रमाहिं ।
नाम रमै नहिं निकस है, लगै समाधि अगाध ।
राम सुधा जब पाइयै तब मरणो साध ।
मरियै बिनु जीवन नहीं, जीवन मरणै होय ।
राम राम में रम रहैं रमणो जानै सोय ॥

• • •

मरियां विन जीवन नहीं जीवन लोड़े मर ।
जरियां विन जर धर्म नहिं जरियां लोड़े जर ।
प्रिय प्रिया संमेल नंग पर्दे प्रीतम नाहि ।
रस मुख बकन न आवई सहिज समाधि समाहि ।
आपा खोवै आप होय आपै माहि समाय ।
आपा आपै को कहै आपै आप लखाय ॥

मरण साधना में '*सिर देना*' एक प्रतीक क्रिया है। इसका अर्थ अहंकार का विसर्जन तो है ही, सम्पूर्ण सुखों, सम्बन्धों और साधनों का त्याग भी है। वह कबीर की तरह सिर चढ़ाने की बात कहते हैं-

प्रेम पियाला पी प्रभुतन मन सुध सभ भूल ।
जे सिर काटहिं प्रीतमा लै हौं दोवै झूल ।
सिर धड़ मेले थाऊँ नहि प्रीतम कैसे आय ।
अड्डो अड्डी कीतियां थाउं सुधार बिछाय ।
साथै सिर धड़ जायसी कबरन संग मसान ।
मुनकर और नकीर लैंह चित्र गुप्त पहचान ॥

• • •

प्राण त्याग सेवा करऊ जो कछु मुख भाखै,
क्या बपुड़ा यह सीस है जेऊ प्रेम न चाखैं ।

• • •

प्रीतम कै दरबार पैर जे पावणा ।
सिर को लहि उतार मुकुट सजावणा ।
रंगे रंग अपार जनम सुहावणा ।
लहू निकालै खोट सच्च समावणा ।
श्रीचन्द्र वर घोट विवाह रचावणा ।।

प्रेम योग द्वारा मृत्यु का वरण साधक करता है, इसकी पहचान सद्गुरु द्वारा होती है, वह रामनाम दानकर मृत्यु में सहायक होता है, शव उठाते हुए रामनाम की सत्यता के उद्घोष के मूल में यही भाव विद्यमान है–

राम राम ध्वनि प्रगट हवै मरने की धारा ।
सत्य राम सब भनत हैं शवकंध उठारा ।
बिना मौंत सत सिद्धि नहीं उर करहु विचारा ।
मुक्ति कहा मरणौं बिना कीजै निरधारा ।
प्रथमैं मरण पछाणियै सतिगुरु के द्वारा ।
मनमुख मरणौं डरत है कूड़ै करि प्यारा ।
गुरु शरणाई पाइए मरबै अख्त्यारा ।
मरके ही हवै लीन तन पारब्रह्म मंझारा ।
जग महिं आया मरण हेतु सब पुरुष सुनारा ।
लक्ष्य मुख्य श्रीचन्द्र एक मरणौं संसारा ।।

हठयोग द्वारा यह मरण साधना इस प्रकार सम्पन्न होती है–

खेम कल्याण आनन्द मगन रस पायो हरि हरि नामा ।
सहिज सुभाय रहे लिव लाई अविचल पायो धामा ।
पवन चढ़ाय दसम दर पैसे जीवन पद नौ निद्धि ।
बाजै तूर पंच ध्वनी प्रगटी श्रीचन्द्र की वृद्धि ।
चढ़ी खुभारी सुरति अपारी ताड़ी नयन चढ़ाय ।
लिवलागी श्रीचन्द्र मुरारी प्रेम सुधारस पाय ।।

• • •

साध संगति कै वारणै सद सद बलिहारी ।
एकाएकी भावना मैं मेरी हारी ।
बोहिथ पाया सागरै बिखया परिहारी ।
इड़ा पिंगला बाँध कै सुख सुखमन नारी ।
गगनंतर थिर अचल राज अविचल अटारी ।
श्रीचंद्र तम विनस्या हरि करन उजारी ।।

यहाँ आकर *अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अनलहक* महावाक्यों से सिद्ध अद्वयभावना की प्राप्ति होती है। आपा खोकर विराट् में खोजाना ही इस मरण साधना का उद्देश्य है। प्रेम और योग द्वारा इस साधना की सफलता का प्रतिपादन सूफी संतों तथा मध्यकालीन संतों ने किया है। श्रीचन्द्र जी ने मधुरोपासना में इसी साधना प्रणाली का समर्थन किया है–

टकटक टक निरखत रहहु पार ब्रह्म करतार ।
टेक धरहु मन आपनै श्रीचंद्र निरंकार ।
णणंकार ध्वनि शून्य की सुरती सुनन सँयोग ।
रुणझुणकार सुनावई श्रीचन्द्र गुरु योग ।
संत संग निसि दिन रहहु पलटै मस्तग लेख ।
अगम अगोचर अपर पर श्रीचन्द्र उर देख ।
आदि अन्त सब एक रस सर्वथान भरपूर ।
गुण निधान आनंद धन श्रीचन्द्र सब मूर ।।

निर्गुण कवियों में श्रीचन्द्र जी पहले कवि हैं जिन्होंने राधा कृष्ण के प्रेम की ऊँचाइयों को शब्द दिए। भागवत परम्परा की प्रेमाभक्ति में प्रेम साधना की आदर्श प्रतीक श्रीराधा हैं। गोपी प्रेम को तो नारद और शाण्डिल्य ने भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। जयाख्य संहिता के अनुसार इस आगमिक प्रेम साधना के निरूपक भारद्वाज, मौंजायन, औपगायन तथा कौशिक आचार्यों में पाँचवें अग्रगण्य मुनि शाण्डिल्य हैं। शाण्डिल्य भागवत भक्ति के आचार्य हैं। वह भागवंत परम्परा के प्रबल समर्थक हैं। श्रीचन्द्र ने प्रेमाभक्ति के लिए इन्हीं को सामने रखा है। सिद्धान्त सागर का एक भावपूर्ण पद लीजिए–

जीवन पति मुर लूटै जीवन कत परदेस सिधायो,
सपना दीन्हों झलक, अपन का रूप स्याम सरसायो ।

राधा विकल विरह दीवानी ।
क्या तुम सोग उपावन हेले कीनी रास कहानी । ।रहाऊ।।
मथुरा कहा कंस के महलन मानें निज अस्थाना,
कुबरी कुबर निकारहिं तेरो जानहु तब भगवाना ।
स्वेत स्याम की प्रीत न जुड़ती षट पद जानहिं मरनो,
देह तेल समजल महि उबटत मालिनि गहे न पानो ।
माधव मनमोहन मुख सोहन बंसी टेर सुनाओ,
श्रीचन्द्र नटवर भौंरे स्यों ताल न ताल बजाओ ।।

यहाँ श्रीकृष्ण पर भ्रमर का आरोप है, अतः कुब्जा रस भोगी भ्रमर कृष्ण को यह उलाहना देना ठीक है कि वह ताल से ताल मिला कर उसका अनुकरण न करे। भागवत की गोपी की दृष्टि में मधुप कितब बन्धु है, उसी के अनुकर्ता श्रीकृष्ण ने रूप माधुरी का पान कराकर फिर सदा के लिए उपेक्षा की अग्नि में तड़पने के लिए उन्हें छोड़ दिया।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा,
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् ।

हिन्दी में भ्रमर गीत की पद्धति के ठेठ निर्गुण वादी कवि श्रीचन्द्र जो परम्परा प्रस्तुत कर रहे हैं, उसका मूल्यांकन कृष्ण भक्त कवियों तथा रीति कवियों के साथ होना चाहिए। सिद्धान्त सागर में यह सर्वथा नवीन प्रवृत्ति है जो प्रारंभ के निर्गुण कवि कबीर, रविदास, दादू आदि में नहीं मिलती। चरणदास तथा अक्षर अनन्य आदि संतों में यह प्रवृत्ति यहीं से गई प्रतीत होती है। वह तो महारास की भी चर्चा करते हैं–

प्रभु त्रिमंगी छैल छबीला, आनंद बिनोदी रंग रंगीला ।
अपनी रास रचाई लीला, पेखत मोही गोपी जीऊ ।।

यह प्रेम कहानी बड़ी अद्भुत है। इस प्रेम के वशीभूत सभी पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पतियाँ तथा नदी नद हैं। वृन्दावन के तो सरोवरों में भी हंस,

सारस तथा कोकिल आदि अन्य विहंग उस श्याम माधुरी को हृदय में बसाए मौन धारण कर नेत्र बंद कर ध्यान में डूबे रहते थे। कृष्णसार मृग अपनी चर्म भी उनके रंग में रँगे डोलते थे। वृक्षों में वेणुनाद सुनकर रोमांच हो आता था। नदियों का वेग भग्न हो जाता था। '*प्रेम प्रवृद्ध उदित:*' उनका प्रेम धनीभूत जो हो गया था। भागवत के वेणु गीत की छाया श्रीचन्द्र जी के इस पद में दिखाई पड़ती है-

सखी री अद्‌भुत प्रेम कहानी ।
फरके अधरन वृक्षन केरे कहिये बिना जबानी । ।रहाऊ।।
श्याम हरिन निज चर्म उतारे ओढ़ायसि त्रैभंगी,
सुनै नाद सोऊ गां दौरी रंगणि रंगयो रंगी ।
कोकिल कूक हूक दै भागी तरू चढ़ टीसी टीसी,
छाया माया लै कर गमन्यो करि करि रीसी रीसी ।
गगन मंडरावति गीधा लम्बी दृष्टि पसारी,
जग जीवन श्रीचन्द्र पिखै है चक्र बांध लिवतारी ।।

गतिधारियों में जड़ता तथा जड़ पदार्थों में रोमांच पैदा करने वाली वंशी प्रेमाभक्ति ही तो है। वंशी की विशेषता उसका पूरी तरह रिक्त होना है। वह स्वसुखी नहीं तत्सुखी है।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्,
निर्योगपाशकृत लक्षणयोर्विचित्रम् ।

यहाँ श्रीकृष्ण और राम में कोई भेद नहीं। एक पद देखिए-

साहिबा तुझ ते बिछुड़ी कूंका मारां धाहां,
जे तूं झलक बिखालीआं क्यों नहिं गहीआं बाहां ।

कबहूं सुनहि पुकार ।
वाली वारस साईआं तूं है अपनी जान समार । ।रहाऊ।।
जपु तपु संयम यतन लख किते न आए काम,
तीर्थ न्हाते दुख सहे अगनि जलाए धाम ।

कंद मूल चुणि खाया सीस सही धूप छाम,
गृह तजि मांगन धाया विचर्‌यो ग्रामहि ग्राम ।
खान पान संयम किया विरखन थाप्‌यो घाम,
अब तौ सह्‌यो न जात है श्रीचन्द्र मिलि राम ।।

विरहिणी का कूक कूक मार कर उन्मुक्त रोना गोपियों की याद दिलाता है जब वह अक्रूर जी के सामने रथ पर बैठे कृष्ण का मार्ग रोक कर जोर जोर से रोने लगती हैं-

विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ।

वह अपने प्रिय तक संदेश भिजवाती है। उसे पता नहीं, उसके प्रियतम किस देश में चले गए हैं- वह शृंगार करे भी तो किसके लिए?

री सखीयो ! देहु संदेश !
सांवल सुन्दर मन मोहन जू गयो कौन से देश । ।।रहाऊ।।
प्रीतम प्यारा घर नहिं आयो किंह हित सुधरों केश,
चोआ चंदन पान फूल सेजा कापड़ भूषण वेश ।
मंदिर सुंदर अंजन अंजन खान पान रस ऐश,
पहिर बसन मन अन्तरि जलिहौं जनु अग्नि परवेश ।
विरह सतायो तापन तप्ती नहिं निरवारत भेष,
काल कर्म को दोष देवती आन न घर उपदेश ।
कौन उपाय यतन है कौनहुं जिंह विध मिटहिं कलेश,
मिलहि प्रिय ज्यों श्रीचन्द्र कहुं सोइ करहु निर्देश ।।

हे सखी ! जब से मेरे प्रियतम बिछुड़े हैं तभी से मैंने श्रृंगार छोड़ कर उदासी धारण की है। मैं भस्म रमा कर रह रही हूँ। अटारी पर खड़ी होकर मैं उनकी राह देखा करती हूँ। कोई है जो मेरे प्रियतम से मुझे मिला दे, मैं उसे अपना सर्वस्व दे डालूँगी।

बिछुरै प्रीतम जबतें माई ।
करन शृंगार न भावत मोको धूरी रही रमाई । ।रहाऊ।।
घरी घरी युग युग सम बीती दिन बिरध्यो अधिकाई,
सभ सखियन गृहभाग सुहागै मोरे ही अधमाई ।
जब तें प्रिय परदेस सिधाये आवन कह सहसाई,
द्रव्यलोभ तें मैंहू कह्यो जाहु सिमरहु सुधि हमराई ।
काग बनेरे बोलत उड़ि हैं औंसी राह जनाई,
मंदिर चढ़ि कै पंथ निहारहुं नयन नीर बरसाई ।
श्रीचन्द्र कवि प्रियवर मिलिहै देहु संदेशा आई,
तन मन धन अरपहुं तिहु आगै जो प्रभु मेले सांई ।।

श्रीचन्द्र की विरहिणी घर की सुनारी है। वह मध्यकालीन संयुक्त परिवार के संस्कारों से ग्रस्त है। उसे ससुराल और मायका दोनों ही अच्छे नहीं लगते। वह तो प्रियतम का प्यार चाहती है। जायसी के पद्मावत में ससुराल और मायके के प्रतीकों से जीवात्मा रूपी वधू के कष्ट का चित्रण हुआ है, वहाँ भी कहा गया है- '*पिय पियार सब ऊपर*'। सास, ससुर, जेठानी, दुरानी, ननंद सबके त्रास को वधू भूल सकती है, यदि उसका प्रियतम उसे मिले और गले लगाले। श्रीचंद्र जी भी कहते हैं-

मोको नाहीं ठाऊं साहुरे पेईए जीऊ ।
तुझ ही संग समांऊ बर रस लेहीए जीऊ ।।

• • •

जबि गए विदेश खबर न आईआ जीऊ,
तन मन भयो बिहाल बिछड़े साईआ जीऊ ।
साईं बिछुड़े दूख धनेरा सह्यो न जाए माई ।
ससुरा सहुरादेवर जेठ ननदि न शांत कराई ।
सभना मन आनंद बधाहड़ा मुहि उर अधिक कलेशा ।
श्रीचन्द्र सहु दरस पियासी भावै नहिं तन वेशा ।
देखि दिरानी संग जिठानी रंग रलआ रस माणा ।

हृदय जल बल कोयला होई श्रीचन्द्र पाषाणा ।
नेड़े हो के प्रीतमा सुनि बेनती मेरीयां जीऊ ।
तुझ बिन प्यारे सज्जना मैं भई मिट्टी ढेरीयां जीऊ ।
तन मन धन चाह गंवाई सगरी जेसाहु मिलहिं तां धीरा ।
श्रीचन्द्र इक प्रीतम बाझहु हरहिं विरह को पीरा ।।

इस विरहिणी स्वकीया के विरह का पटाक्षेप तब होता है जब गुरुकृपा से उसके प्रिय उसके भीतर ही मिल जाते हैं। उसकी विरह की दूभर रात का अन्त हो जाता है।

हे मन प्यारे साजना, त्रिविध भाव प्रगाटये राम ।
हे मन प्यारे साजना, भीतर देह बसाये राम ।
भीतर देह बसाये त्रैविध अधि भौतिक अधि देवा ।
अध्यात्मइक इकै चतुर्दश जान लेहु हृद् भेवा ।
संचन कीने अनिक खजाने इस तन भीतर भाई ।
श्रीचंद्र बिनु गोविन्द नामहिं वृथा सगल अजाई ।।

• • •

हे मन प्यारे साजना रैण सुरैणी आई राम ।
हे मन प्यारे साजना पूरण चंद सुहाई राम ।
चंद सुहाई रैण सबाई चमकहिं कोटिहुं तारे ।
सुधा संचारे ससि बिस्तारे कुमुदन मुख पसारे ।
हुलसि चकोर न भावैअन्तर गुरुमुख हरि हरि जापै ।
श्रीचंद धन धन वह राती आपै रमिअहिं आपै ।।

17वीं शती के उत्तरार्ध में निर्गुण काव्यधारा में '*शृंगार योग*' की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला, यह प्रवृत्ति मूलतः सिद्धान्त सागर में उपलब्ध थी। सहजो बाई, चरणदास, राघौदास निरंजनी, गरीबदास, पानपदास, दूलनदास तथा अक्षर अनन्य की रचनाओं में इस शृंगार योग का भरपूर प्रभाव देखने को मिलता है। कालक्रम की दृष्टि से इस '*शृंगार योग*' के प्रवर्तन

का श्रेय श्रीचन्द्र जी को जाता है। अक्षर अनन्य की 'प्रेम दीपिका' रचना इस दृष्टि से आदर्श है। इसमें भ्रमरगीत शैली में प्रेमाभक्ति का निरूपण हुआ है। एक उदाहरण लीजिए-

दीपक ज्ञान धरै उर मंदिर सेज सतोगुण प्रेम प्रयोगी ।
अक्षर श्री गुरु अक्षर पान खवावत खात महारस योगी ।
बुद्धि वधू मिल केलि करै पर अन्तर खोल धरी न वियोगी ।
नित्त विहार निरन्तर ही इमि जोग संजोग करैं तेइ जोगी ।।

संत चरणदास जी की प्रेमवियोगिनी भी कहती है-

तुम्हारे रूप लुभानी हों ।
जाति बरन कुल खोय कै प्रेम दिवानी हों ।
खान-पान सब सुधि गई और अक बक बानी हों ।
तुम्हारे चरन कमल मन मेरो रहो लिपटानी हों ।
सुन्दर सूरति सोहनी मेरे नैन सभानी हों ।
तुम बिन चैन नहीं दिन राती सुनि पिय बानी हों ।।

संत पानपदास कहते हैं-

कोई लख गया सैन हमारी ओ ।
सैन हमारी जिन लखपाई सोई सखी पिया प्यारी ओ ।
सुभर सिन्धू भरै बिन पानी, जहाँ झमकै अनगिन तारीओ ।
अगम महल को क्किट पंथ है, किन्ही शैया सुधर संवारी ओ ।
कह पानप अकल सेज पर पहुँची, वहाँ मिल गए बाल बिहारीओ ।।

पंचम अध्याय

श्रीचन्द्र सिद्धान्तसागर में संतमत के तत्त्व
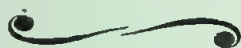
भारत में निवृत्ति प्रधान मुनि परम्परा के स्रोत वेद में उपलब्ध हैं। इसके बाद बहिर्याग की अपेक्षा अन्तर्याग पर बल उपनिषद् काल में दिया जाने लगा। आरण्यकों और उपनिषदों में आत्मा तथा ब्रह्म की चर्चा के साथ जगत् की अनित्यता के सिद्धान्त पर भी बहसें होती दिखाई पड़ती हैं। महाभारत में बाह्य तीर्थों तथा धर्मस्थानों की अपेक्षा हृदयतीर्थ या आत्मतीर्थ की अवधारणा विकसित हुई। तंत्र साहित्य में यह प्रवृत्ति प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है और बाहरी दुनियां के प्रति उसमें पूर्ण निषेध पैदा हो जाता है। बौद्ध तथा जैन मुनियों ने यज्ञ तथा कर्म काण्डीय जटिलता के स्थान पर पवित्र, सरल तथा संयमपूर्ण जीवन चर्या पर बल दिया। ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में नालंदा से सरहपा जैसे सिद्ध सामने आए जिन्होंने कट्टर ब्रह्मवाद, जातिवाद तथा भेदवाद पर करारा प्रहार किया। जाति-पाँति, कर्मकाण्ड तथा बाहरी पाखण्ड का उन्होंने खुल कर विरोध किया। उन्होंने ब्राह्मणों के यज्ञवाद, जैनों के केशोत्पाटन तथा पिच्छी गृहण पर जहाँ व्यंग्य किए वहाँ शास्त्रवाद का भी खंडन किया।

> जई राग्गा बिअ होई मुत्ति ता गुणह सिआलह,
> लोमुपाटणें अत्थि सिद्धि ता जुवई णिअम्बह,
> पिच्छी गहणो दिट्ठ मोक्ख तो मोरह चमरह,
> उच्छ भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ।

• • •

आगम पुराणेहिं, पाणिअ माण वहन्ति,
पक्क सिरीफले अलिअ, जिमि बाहेरीअ भमन्ति ।

इनके उन्मुक्त यौनाचार को छोड़कर भेष, तीर्थ, शास्त्र तथा जातिवाद के खण्डन की परम्परा इन सिद्धों के बाद नाथों ने अपनाई। ब्रह्मचर्य का कठोर अभ्यास तथा हठयोग के साथ अलख पुरुष का ध्यान एवं नाम जप नाथों की विशेषता थी। योगमार्ग, गुरुतत्त्व, कुण्डलिनीयोग तथा पिण्ड में ब्रह्माण्ड वास की धारणा नाथों में विकसित हुई। नैतिक मूल्यों की स्थापना में नाथों की बड़ी भूमिका कही जा सकती है-

काछ का जती मुख का सती,
सो सत पुरुष उतमो कथी ।

नाथ परम्परा ने आक्रामक इस्लाम को भी सँवारने का कार्य किया। इसी बीच मुस्लिम आक्रान्ताओं के साथ सूफी फकीरों का हिन्दुस्तान में प्रवेश हुआ। निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो ने हिन्दुस्तानी भाषा में काव्य रचना कर संस्कृत के वर्चस्व को सिद्धों तथा नाथों के समान चुनौती दी यद्यपि अपवाद रूप में गोरख की रचनाएँ संस्कृत में भी उपलब्ध थीं। खुसरो में इस्लाम के प्रति गहरा लगाव है पर जनभाषा में अपनी बात कहने के साहस के कारण वह उस परम्परा के रक्षक मालूम पड़ते हैं, जिससे प्रेरित होकर आगे कबीर आदि संतों ने जन भाषा में अपने उपदेश दिए। बुद्ध तथा महावीर के अनुयाई तो बाद में परिष्कृत संस्कृत में ग्रन्थ रचना करने लगे पर संत जनभाषा में ही काव्य रचना करना श्रेयस्कर समझते थे। 12वीं शती से 15वीं शती के उत्तरार्ध तक भारत राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से संक्रमण का युग रहा है। इस युग में देशी तथा बाहरी जीवन सिद्धान्तों का संघर्ष हुआ। सूफियों ने टकराने वाले धर्मों (हिन्दू-मुसलमान) में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। शेख अलाई का कत्ल 1545-1552 के बीच तथा सरमद का कत्ल औरंगजेब के समय उनकी उदार धर्म नीति के चलते हुआ था। योग तथा प्रेम का समन्वय इनकी साधना में मिलता है। 14वीं

शती में स्वामी रामानन्द योग तथा प्रेमाभक्ति का समन्वय कर निर्गुण-सगुण दोनों विचार धाराओं के उपासकों को आकृष्ट करते हैं। उपनिषदों की योग-ज्ञान मूलक परम्परा तथा सूफियों की योग-प्रेम मूलक परम्पराओं का समन्वय निर्गुण काव्य धारा अथवा संत मत में हुआ। 14वीं शती में ही बनारस के बाद पण्डरपुर में बारकरी सम्प्रदाय के कारण निर्गुण संत धारा का प्रवाह बह निकला। नामदेव, ज्ञानदेव आदि संतों ने शास्त्रवाद का विरोध कर संतमत को चमकाया। कबीर ने इसे व्यापक फलक दिया और संतमत की प्रायः सभी अवधारणाएँ उनकी वाणी में स्थान पा गई। गोरख और कबीर इस धारा के भास्वर दीप हैं जिन्होंने पूरे संत साहित्य को प्रभावित किया है। इन संतों को निर्गुण शब्द भी श्वेताश्वतर उपनिषद् से मिला। हठयोग के सूत्र भी उपनिषद् से मिले तथा सदाचार तप, संयम आदि का ब्रह्मसाक्षात्कार की भूमिका में योगदान भी उपनिषद् ने बताया। संतों की महत्ता का प्रतिपादन भी भागवत में सर्वाधिक है। कबीर '*भागवत भक्ति*' की बात संत महत्व प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण करते हैं। संत तथा साधु शब्द का प्रयोग समानार्थक है। साधु की महत्ता बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि तीर्थ दीर्घकालीन सेवन से पवित्र करते हैं पर साधु दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं- '*दर्शनादेव साधवः*'। भगीरथ जी ने गंगा जी से कहा था- '*साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मनिष्ठा लोकपावनाः, हरन्त्यघं तेऽंग संगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद् हरिः।*' अर्थात् शांत, ब्रह्मनिष्ठ, लोक पावनसाधु तुम्हारी धारा को अपने स्नान से सदैव पवित्र बनाए रखेंगे। नारद ने कुबेर के पुत्रों से कहा था-

साधूनां समचित्तानां मुकुन्द चरणैषिणाम् ।

साधु समचित्त, सबके लिए समता का व्यवहार करने वाले तथा ईश्वर भक्त होते हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा था, मुझे व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थयात्रा तथा यम-नियमादि से वैसे सहज नहीं पाया जा सकता, जैसा सत्संग करने से पाया जा सकता है-

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः,
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ।

कबीर ने साधु के लिए संत शब्द का प्रयोग किया है, उन्होंने संत का लक्षण भी बताया है-

निरवैरी निहकामत साईं सेती नेह,
विषयास्यूं न्यारा रहै, संतन का अंग एह।

तुलसी भी साधु के लिए संत शब्द का प्रयोग करते हैं-

झूठो है झूठो है झूठो सदा, जग संत कहंत जे अंत लहा है ।

• • •

संत हृदय नवनीत समाना, कहहिं कविहिं पर कहन न जाना ।

इसके बाद तो सभी निर्गुण साधना के साधकों के लिए संत शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा। ग्रंथ साहब के साक्ष्य से '*संतह के परसादा नामा हरि भेंटुला*' नामदेव की सिद्धि पर संतों की कृपा कही जा सकती है। ग्रंथ साहब के संकलन के समय भी निर्गुणिया साधु के लिए संत शब्द का प्रयोग मिलता है। निर्गुण धारा के लिए '*संतमत*' शब्द का प्रयोग परशुराम चतुर्वेदी जी सत्रहवीं शती के किसी चरण में अनुमानित करते हैं। शिव नारायणी वाणी में '*संतपती के शब्द से श्याम वेद कहाय*' जैसी पंक्तियाँ भी गुरु तथा ब्रह्म के लिए '*संतपति*' शब्द का प्रयोग इसीलिए उचित मानती हैं। संतमत शब्द का प्रयोग उत्तरवर्ती हो सकता है पर नामदेव, कबीर, नानक तथा श्रीचन्द्र संत शब्द का प्रयोग प्रारंभ से ही करते हैं। मेरा अनुमान है कि सन्त शब्द '*ब्रह्मसन्त*' का ही बचा हुआ शब्द रूप है। ब्रह्म में निवास करने वाले ब्रह्मनिष्ठ को ब्रह्मसंत कहा जाता होगा जो बाद में सन्त रूप से व्यवहृत होने लगा होगा। श्वेताश्वतर में '*गिरिशन्त*' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ मंत्र का अर्थ है कि हे गिरि में रहकर सुख का विस्तार करने वाले प्रभो, उसी सुखमयी मूर्ति से हमारी ओर देखो। '*गिरिसन्त*' शब्द की ही तर्ज पर '*ब्रह्मसन्त*' का प्रयोग भी आत्माराम में रमण करने वाले साधु करते रहे होंगे। श्वेताश्वतर संत परम्परा के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला उपनिषद् है। इसी

उपनिषद् में साक्षी, निर्गुण, ब्रह्म, माया, महात्मा, सर्वव्यापी, बीज, सांख्य योग, ध्यान, ज्ञान, भक्ति, गुरु आदि संतमत में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग हुआ है।

श्रीचन्द्र जी ने सिद्धान्तसागर में संत शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है- वह संत और साधु को समानार्थक मानते हैं।

संत उदय रवि भयो महान, किरण गिरा पसरी असमान ।
संतन राम नाम ध्वनि लाई, बरखा शांत घटा बरसाई ।
संत भए अविनाशी राम, संत उतर आए पर धाम ।
संत संग बन्धन बिनसये, श्रीचन्द्र भय ते निर्भये ।
संतन संगत पड़दा टूटै, सन्तन संगत हउमै छूटै ।
संत संग माया गई भाग, संत संग लागै हरिलाग ।
संत संग मिलि अकह कहाया, संत संग पूरण हरि पाया ।
साधु न हउमैं तन की त्यागी, प्रेम प्रगासी चकमक आगी ।
साधु दरस से अनुभव फुरत, श्रीचन्द्र सिर चामरढुरत ।
साधु संग जानै सब ब्रह्म, साधु संग बिनसावत भ्रम ।
साधु संग अमरन महिं बसै, साधु संग कलिदोख बिनसै ।।

भागवत के समान संत की महिमा का गान करते हुए श्रीचन्द्र कहते हैं-

चरण धूड़ जन संत की किलविख सब नासै,
अड़सठ तीरथ मज्जनां बड़ पुण्य प्रकाशै ।

संत संग मन की मलखोय ।
हउमैं मेरी माया दूर सगल ही होय । ।।रहाऊ।।
तीर्थराज प्रयाग तहीं संगम तिरबेणी,
मथुरा, काशी, कांची, पुरी, साकेत, उजैनी ।
पुहकर क्षेत्र प्रभास लख नर्वद ओंकारा,
गया गोदावरी द्वारका हरिद्वार, अखारा ।
पावन नदियां सप्त सिन्धु अरु संगम गंगा,
श्रीचन्द्र साधु चरण बसत इक संगा ।।

वह संत धारा को वेदोक्त तथा आगमोक्त मानते हैं। इसलिए जो संत धारा को योगमार्ग की शाखा या गोरख नाथ की देन मानते हैं, उससे वह सहमत नहीं। वह कहते हैं-

गोरख जाग्यो अलख जगाई, सुंनमुंन कीन्हो नाद बजाई,
घण्ट संख धुनी भी महा, भयो कुलाहल खग गे कहां ।
रे गोरख तू क्यों इत आयो ।
ताड़ी लाइ चढ्यो गगनंतर सुन्न सरोवर मेखी तायो । ।।रहाऊ।।
निद्रा गई नैन गवाय, सीतलभवर न तपन बुझाय,
उनमनि बिसर भूचरी भई, अवधि बताई किमि दृढ़ थई ।
बाज बजायो पूरन होय, भीम पर्यो क्यों सुखपत रोय,
छुपि बैठ्यो क्यों दे किवार, योगी भ्रमते द्वारहिं द्वार ।
सिद्ध कहाय मरन न छोड़े, जटा मुण्डाय बनावहिं रोडे,
अगम अगोचर खेल रचाया, श्रीचन्द्र अविनाशी राया ।।

उनके समय श्रुति विरुद्ध अनेक प्रकार की अवैदिक साधनाएँ, पंथ तथा पंथानुयायी थे। तुलसीदास को भी इस बात की चिन्ता हुई थी कि दंभी लोग शास्त्रविरुद्ध अनेक पंथों की कल्पनाएँ कर रहे हैं। स्वानुभव के नाम पर शास्त्रों की खिल्ली उड़ा रहे हैं। श्रीचन्द्र भी ऐसे पंथ प्रवर्तकों को लक्षित करते हुए कहते हैं-

पन्थ बनावत मूढ़न लोग ।
जटाजूट तन भस्म रमावहु दीरघ नखन अपावन भोग । ।।रहाऊ।।
पार्वती रितु रंगे बसनन पहिर लखावत बाणा जोग,
विजया चरस गलोले आफू मद रस मत्त न व्यापत सोग ।
मलमूत्र यूका तन धारऊ हरिपुर प्रविशित अटकन होग,
लिंग दराज नगन होय विचरहु नाम धर्म उपहासी लोग ।
तृप्ति न पावत वीर्य खावत कंथा चीर मलीन सँयोग,
एऊ ये मार्ग वैकुंठहिं श्रीचन्द्र को नरक योग ।।

यहाँ कौल, शाक्त, दिगम्बर, ब्रजयानी सिद्ध, वज्रौली के अभ्यासी नाथों

तथा ऐसे अनेक वामाचारी पंथों का संकेत है जिन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय तथा सदाचार का ज्ञान नहीं है। ऐसे पंथों के स्वामियों तथा अनुयाइयों को वह नरक जाने वाले मानते हैं। आगे फिर कहते हैं-

कर्मकरत अहंकार उपाय, हरि भगति रस नाहिंन आय,
जटाधार सिर पाई राख, भगति हीन नर मारत झाख ।

भेख दिखाए भगति न होय ।
हउमैं अन्तरि महल गवाए अनिक योनि दुख भुगवै सोय । ।रहाऊ।।
मूंड मुंडायो भगवा रंगी, डहकाए सिख साथी संगी ।
सिख बाँधी कटि धोती टिक्का, लव विगुता फिक्को फिक्का ।
दंडधार नगनी अंग होया, टूक टूक को दरदर जोया ।
देवनदी तट छपरी छाई, महामहातम कूक सुनाई ।
लोभ गवायो सभविधि काम, श्रीचन्द्र सिमर्‍यो इकराम ।।

इसमें जटाधारी, मुण्डित, नग्न, गेरुवाधारी, कूक लगाकर जिक्र करने वाले साधुओं का उल्लेख है जो द्वार द्वार पर भीख माँगते हुए घूमते हैं तथा शिष्यों को सच्चे मार्ग से दूर रखते हैं। वह न तो कर्मकाण्डी याज्ञिक से प्रभावित हैं और न हठयोग के अभ्यासी नाथ योगी से। न वह तप-त्यागी संन्यासी से प्रभावित हैं और न किसी अन्य भेष वाले संत से। वह तो उदासीमत को सर्वोपरि मानते हैं-

पण्डित वेदवाद महिं राते, योगी योग पंथ बतराते,
संन्यासी तपत्याग कमायो, उदासी विचरत सुख पयो ।

★ ★ ★ ★

गुरुतत्त्व

निर्गुण तथा सगुण दोनों मार्गों में गुरु की आवश्यकता पर बल दिया गया है। सूफियों में भी पीरपरस्ती का महत्त्व रहा है। उपनिषदों में गुरु का महत्त्व आत्मसाक्षात्कार के लिए जरूरी समझा गया है। मुण्डक में

'*संन्यासयोगाद्यतमः शुद्धसत्त्वाः*' कहकर निर्मल हृदय महात्मा का संन्यास-योग द्वारा ब्रह्म भाव प्राप्त कर लेने का उल्लेख है। '*तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्*' श्रुति के अनुसार जिज्ञासु को गुरुदेव के निकट जाकर आत्मतत्त्व जानना चाहिए। यह जीवात्मा अनादिकाल से अविद्यायुक्त है, अतः इसे स्वयं आत्मज्ञान नहीं हो सकता। कुलार्णव तंत्र में आया है-

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साक्षात् पर शिवोदितम्,
सम्प्रदाय परिच्छिन्नं सदा कुर्यात् गुरुं प्रिये ।

गुरु साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होते हैं। इनकी पूजा-सेवा करने से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है-

अतएव शिवः साक्षाद् गुरु रूपं समाश्रितः,
भक्त्या सम्पूजयेद्देवि भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति ।

गुरु गीता में कहा गया है- '*गुकारश्चान्धकारस्तु, रूक्कारस्तान्निरोधकृत्*' अर्थात् गुरु शब्द में दो अक्षर हैं- *1.* 'गु' तथा *2.* 'रु'। 'गु' का अर्थ अंधकार होता है तथा 'रु' का अर्थ प्रकाश बताया गया है जो अंधकार से प्रकाश, अज्ञान से ज्ञान, पतन से उत्थान तथा मिट्टी से चैतन्य की ओर ले जाए उसे गुरु कहते हैं। कबीर आदि संतों ने गुरुदेव को बहुत ऊँचा स्थान दिया है, एक बार यदि हरि भी रूठ जाएँ तो गुरु शरणागत की रक्षा कर लेते हैं पर यदि गुरुदेव रूठ जाएं तो ऐसे गुरुद्रोही की हरि भी रक्षा नहीं कर सकते। गुरु पारस पत्थर की तरह होते हैं जो लोहे के समान विकारग्रस्त जीव को स्वर्ण बना देते हैं। श्रीचन्द्र जी गुरु वन्दना करते हुए कहते हैं-

आदि सतगुरु पाद मनाय ।
अविनाशी गुरु पुरुष विधाता सदा रहहुँ ताकी शरणाय । ।रहाऊ।।
वेद पुरान सिमरति सब शास्त्र गुरुकृपा ते लहिए,
नारायण गोविन्द स्वामी राम हरी तिंह कहिए ।

आदि जुगादि अनादि सदा प्रभु सद्गुरु दियो दिखाई,
अगम अगोचर अकल कलाधर घट घट रह्या समाई ।
जगदाधार आनंद स्वरूपा छिन महिं थाप उथापै,
सुत वनिता जिंह तात न माता सद्गुरु ते उर जापै ।
श्रीचन्द्र गुरु परम पुनीता नित नूतन हरि देवा,
होत दयाल जाहि नर ऊपर ताहि जनावत भेवा ।।

गुरु स्वयं अविनाशी पर ब्रह्म का द्रष्टा है, अतः ब्रह्मविद् होने से वह ब्रह्म स्वरूप होता है। वह गुरु शब्द की निरुक्ति से प्राप्त होने वाले अर्थ का मूर्त रूप है। हृदयस्थ ब्रह्म को वही प्रकट करता है। वही अविद्या जन्य क्लेश तथा विकारों को नष्ट कर शिष्य को वैकुंठ पहुँचा देता है। वह सर्वत्र व्याप्त परमतत्त्व का साक्षात्कार कराता है, वह आगम-निगमोक्त परमतत्त्व का व्याख्यान करता है। मात्रा शास्त्र में अगम निगम का खेल रचाने वाले जिस अविनाशी गुरु की चर्चा की गई है, वह सिद्धान्तसागर में भी उसी रूप में प्रस्तुत हुआ है।

अविनाशी गुरु पूरा ।
आगम निगम सुझावत गुरुमुख पार ब्रह्म भरपूरा ।
घट घट माहीं राम रमिरह्या आदि न अंत गुसाईं ।
अन्तरयामी सब कछु पेखे जंह जंह जंतु कमाई ।
सगल धरामहिं एको जोती करत अँधेरा नासा ।
राम गुप्त घट घट महिं रहता सद्गुरु ते परगासा ।
गुह्य कला शशिधर की प्रगटत चरण कमल परतापै ।
नींच ऊंच महिं तेज समायो गुरु दिखलावै आपै ।
तीन ताप अरु पंच कलेसा पंच विकार नसावै ।
पाद कंज श्रीचन्द्र गुरु के पुर बैकुंठ पहुँचावैं ।।

परिपूर्ण गुरु की सेवा से शिष्य का पूरी तरह रूपान्तरण हो जाता है, वैसे ही जैसे चन्दनवृक्ष के संग खड़ी वनस्पतियाँ सुवासित हो जाती हैं, लोहा पारस से छूकर स्वर्ण बन जाता है-

भाई रे हउमैं गरब निवार ।
गुरु पूरे की सेवते पाइए अगम अपार । ।।रहाऊ।।
चन्दन बास बनास्पति सगरी महकपरी,
पारस के संग भेंट के लोहो रूप हरी ।
जीवन मुकुत दयाल प्रभु सद्गुरु परम सुजान,
दासन दासा होय कै पावत जन कल्याण ।
नारायण गोविन्द गुरु घट घट जहां प्रकास,
साधु संग हरि नाम जपु श्रीचन्द्र सदरास ।।

हृदय की कोठड़ी में रहने वाले परमेश्वर को दिखाने की विद्या उसी को आती है। उपनिषद् में इसे दहर विद्या कहा गया है। हृदयस्थ ब्रह्म ज्ञान के प्रकाश में ही दीख सकता है। श्रीचन्द्र जी एक सुन्दर रूपक द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं-

ताला दीनों सतिगुरु खोल ।
वज्र कपाट जड़े अनमोती दृढ़ साँकल कुंजी नहिं कोल । ।।रहाऊ।।
भ्रम की छाति भीति संशय की अनथिति मंदिर अंदर पोल,
दहदिसि अंधकार बिन ज्योति डर डर मरत भूत के ढोल ।
ओम शब्द डारि स्रवननमहिं श्रीमुख वाक्य बरवान्यो बोल,
अनहद सहज ध्वनी पंचन मिल राग नादनृत कीन निरोल ।
हउमैं दुविधा दूर विनासी दीपक बाल्यौ तेल बिनौल,
तखते छूटे लह्यो प्रकाशा श्रीचन्द्र मणिरत्न अमोल ।।

गुरुदेव नामदान करते हैं और हरिनाम संकीर्तन तथा जप ही कलियुग में कल्याणकारी है। अतः नाम दान अथवा दीक्षा के लिए गुरुदेव की शरण में जाना कल्याणकारी होता है।

सब विधि सब सुख पाइए, सतगुरु ते हरिनाम,
रिधि सिधि नवनिधि का प्रभु चरन महिं ठाम ।

जप मन राम नाम सुख होय ।
पूरा गुरु ही देवता हरि की सच्ची सोय । ।।रहाऊ।।

माया मोह विसरजया टेक धरी गोपाल,
आतम अंतर प्रगटिओ प्रभु प्रीतम नंदलाल ।
ज्ञान चरागै चानणै सूझत है तिनि लोअ,
दूजा भाउ विसारिआ एक जोति रहहि होअ ।
धरम ध्यान गुण प्रगटै मन को मेट अन्धार,
श्रीचन्द्र पहि अति कृपा गुरु अविनासी धार ।।

गुरु की सच्ची सेवा का फल तुरंत मिलता है-

गुरु का सेवक सदा ही सुखीआ, गुरु का सेवक आत्मरुखीया ।
गुरु का सेवक आत्मज्ञानी, गुरु का सेवक ब्रह्म ध्यानी ।
गुरु का सेवक भवसमद्रष्टा, गुरु का सेवक शांति वृष्टा ।
गुरु का सेवक जन्म न मरै, श्रीचन्द्र गुरु रख्या करै ।
गुरु सेवक गगनन्तर चढ़िआ, गुरु सेवक उड़ता मन फड़िआ ।
गुरु सेवक अनहद ध्वनि पाई, गुरु सेवक परिहरी लोगाई ।
गुरु सेवक रंग लाल सुहाया, गुरु सेवक दुतर तर पाया ।
गुरु सेवक गुरु माहिं समाय, श्रीचन्द्र तिस परसत पाय ।

संतों के निरन्तर उपदेश से मन के बर्तन पर चढ़ने वाली वासना की धूल झड़ती रहती है। कबीर साहब ने कहा था यदि आत्मदर्शन चाहते हो तो मन रूपी शीशे को गुरु उपदेश द्वारा माँजते रहो। सत्संगति इस साधना में सहायक होती है। भागवत में भी सत्संग की महिमा गाई गई है। विदेह ने नव योगेश्वरों के आगमन पर कहा था, एक क्षण का सत्संग भी इस संसार में मनुष्य के लिए अक्षय खजाने के समान है-

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम् ।

श्रीचन्द्र जी भी कहते हैं-

आवहुमीत पियारियो गाइए हरि प्रभु नाम,
साधु संगत बास कै निहचल सब सुख धाम ।

कामधेनु सत्संग ।
पार ब्रह्म की मिहिर ते खीरपिये हरिरंग । ।रहाऊ।।
जहाँ जाणतें औण नहिं तम बिनसे बिनु सूर,
दह दिसि लोकालोकला घट घट सत भरपूर ।
नितनूतन उज्जल महा शांत मयंक सुहाय,
शीतल परमल सरद रितु मंद बहेती बाय ।
दुख भूख प्यासा हरै आसा मनसा चूर,
मानापमान समान गुण श्रीचन्द्र रस मूर ।
अविनासी सदगुरु प्रभु चरण कमल लिवलाय,
पार परत भव सिंधु ते जनम मरन बिनसाय ।।

गुरु के वाक्य को परमेश्वर के वाक्य की तरह प्रमाण मानना चाहिए। वह वेद की तरह प्रभु की वाणी है, शब्द प्रमाण है तथा उसी शब्द की चोट से उसका अहं नष्ट हो सकता है। गुरु मुख शिष्य भी पूरे गुरु की तरह होता है, वह तत्त्ववेत्ता हो जाता है। गुरु मुख धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का दाता होता है, वह ब्रह्मज्ञानी होने के कारण जीवन्मुक्त होता है-

गुरुमुख वेदवाक्य व्याख्यान, गुरुमुख पाठ पुराण कुरान ।
गुरुमुख ततवेत्ता अवदात, गुरुमुख वस्तु निखुट न दात ।
गुरुमुख ब्रह्मदृष्टि लिवलागा, गुरुमुख निसिदिन सिमरत जागा ।
गुरुमुख चार पदारथ दानी, श्रीचन्द्र गुरुमुख ब्रह्मग्यानी ।।

मध्यकालीन संतों ने निगुरे की निन्दा की है, गुरु के बिना मुक्ति नहीं मिलती तब जो गुरुहीन हैं वह मुक्त कैसे हो सकते हैं? श्रीचन्द्र जी भी कहते हैं-

निगुरे संग न कीजै मेल, निगुरा देतो अनल धकेल,
निगुरा उष्ठर बेमुहारा, निगुरा सूकर विष्ठाहारा ।
निगुरे को गुण नाहिंन कोई ।
गृह गृह भरमत मांगत टूका लोक परलोक लहै नहिं दोइ । ।रहाऊ।।

निगुरा बहु परपंच कमाया, निगुरा नर बंचन हित धाया ।
निगुरा वैश्या पूत जमाया, निगुरा चर कूकर हरकाया ।
निगुरा सगलै धर्म धिकारा, निगुरा प्रभु के दरौं किनारा ।
निगुरा भोगै लख चौरासी, निगुरा के गर अन्तक फाँसी ।
निगुरे ते सुकचित निरकुंभी, निगुरा कै पर मीना चुंभी ।
श्रीचन्द्र निगुरै मुखलाय, इत उत लहिए दूख सवाय ।
गुरुकरुणा ते जानिआ, अन्तर ब्रह्म विचार ।।

श्रीकृष्ण ने सुदामा जी से कहा था कि गुरु के रूप में वह स्वयं होते हैं। जो शिष्य गुरुसेवा करता है, उससे वह परम प्रसन्न होते हैं– '*तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरु श्रुश्रूषयायथा*'। सचमुच गुरुकुल में गुरु की सन्निधि में ही शिष्यों को अपनी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान होता है जिसके द्वारा वे अज्ञानान्धकार से पार हो जाते हैं–

कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः,
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ।

श्रीचन्द्र भी कहते हैं–

जिनि जिनि नाम ध्याया, साधु संग लिबलाय,
हऊमैं गरब निवारि कै, प्रभु महिं रहै समाय ।

★ ★ ★ ★

नाम स्मरण

श्रौत तथा आगमिक सिद्धान्त शास्त्र में नाम निष्ठा का बड़ा महत्व है। निर्गुण-सगुणवादी गुरुतत्त्व के बाद यदि सहमत हैं तो नाम स्मरण को लेकर ही। ऋग्वेद में (3/37/3) '*नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्गिरिमहे*' तथा गीता में '*यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि*' जैसे कथन नाम जप की महिमा का कथन करते हैं। छान्दोग्य की श्रुति '*ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ*' भी उक्त कथन का पोषण करती हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में (12/3/51) में

शुकदेव जी ने कहा है कि राजन् कलियुग असंख्य दोषों का भण्डार है पर इसका एक महान् गुण यह है कि परमेश्वर के नाम संकीर्तन से मनुष्य को सहज मुक्ति मिल जाती है-

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः,
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ।

विष्णुपुराण भी (6/2/39) उन्मुक्त भाव से घोषणा करता है-

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः,
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ।

आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय का कथन है कि नाम के उच्चारण मात्र से ही पवित्र कीर्ति भगवान् के गुणों का सद्यः ज्ञान हो जाता है, जिससे साधक का चित्त उसमें रमने लगता है। नाम स्मरण का यही परम उद्देश्य है। भगवान् के निश्छिद्र गुणों में अपने-आप को लगा देना और तदुपरान्त आनन्दरस का आस्वाद लेना। अन्य फल गौण हैं, यही तो मुख्य फल है। भगवान् में उनके गुण, लीला और स्वरूप में रम जाने का एकमात्र सुलभ साधन है, नाम स्मरण, भागवत में आया है-

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिः,
तथा विशुद्धयत्यघवान् व्रतादिभिः,
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलंभकम । (6/2/11)

श्रीचन्द्र जी ने मात्रा शास्त्र में नाम जप का निर्देश किया है-

अलख पुरुष का सिमरहु नांव ।
तथा
सोहं जाप सचु माल पिरोती ।

अन्य संतों से नाम-स्मरण में उनका एक भेद गायत्री जप का निर्देशक होना भी है। श्रीचंद्र जी गायत्री जप के समर्थक हैं-

सिखा गुरुमंत्र गायत्री हरि नाम ।

सोहं संतों का प्रिय मंत्र है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कथित- '*आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष: विध: सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहम् अस्मीत्यग्र व्याहरत् ततोऽहं नामाभवत्*' पंक्तियों में '*अहमस्मि*', '*सोऽहम्*' श्रुति वाक्य कहे जाते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में '*योऽसावषौपुरुष: सोऽहमस्मि*' कथन '*सोहम्*' का समर्थन करता है। प्राण तोषिणी तंत्र में कहा गया है-

उच्छवासे चैव निश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्,
तस्मात् प्राणस्तु हंसात्मा आत्माकारेण संस्थित: ।

योग शिखोपनिषद् के प्रथम अध्याय में आया है कि '*ह*' शब्द करता हुआ श्वास बाहर जाता है और '*सकार*' ध्वनि करता हुआ अन्दर आता है। इस प्रकार हंस शब्द का जप सहज होता रहता है। यह '*अजपागायत्री*' है जिसे सूफी '*जिक्रे खफी*' कहते हैं। इसे दिन-रात में जीव इक्कीस हजार छह सौ बार जपता है। जब गुरु के आदेश से इसे उलटा कर सुषुम्ना में ले जाया जाता है तब हंस शब्द सोहं में बदल जाता है। प्राण वायु पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में चलने लगती है। उस समय सोहं में से सकार छूट जाता है तथा ओ ध्वनि रह जाती है, फिर हं का ह छूट जाता है और म ध्वनि रह जाती है। ओ तथा म ध्वनियाँ मिलकर ओम् शब्द का रूप ग्रहण करती हैं। यही प्रथम संन्यासियों का प्रिय मंत्र है, मात्रा में इसे ही गुरुमंत्र कहा गया है-

ह कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन:,
हंसेति परमं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा,
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशति:,
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी,
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जप:,
सोऽहं सोहमिति प्रोक्तो मंत्रयोग: स उच्यते,
प्रतीति मंत्र योगस्य जायते पश्चिमे पथि ।

सिख गुरुओं ने भी सत्संग और नाम स्मरण को महत्व दिया है-

सत्संगति कैसी जाणीए,
जिथै एकै नाम वखाणीए ।

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं-

तहाँ बैकुंठ जहाँ कीरतनु तेरा ।

गुरुनानक ने कहा- प्रभु का नाम मेरा दीपक है जिसमें दु:ख रूपी तेल डाल दिया है। नाम रूपी दीपक के प्रकाश ने दु:ख रूपी तेल को सोख लिया है और यमराज से मिलाप भी समाप्त हो गया है। लोगों, मेरी बदनामी मत करो। देखते नहीं, अग्नि की एक चिंगारी लकड़ियों के ढेर को जला कर राख कर देती है। ऐसे ही नाम के उच्चारण से पापों का ढेर जल जाता है। केशव ही पिण्ड और पत्तल है और करतार का सच्चा नाम ही क्रिया है। लोक और परलोक में मेरे आगे-पीछे नाम का ही आधार चलेगा-

दीवा मेरा एकु नामु, दु:खु विचि पाइआ तेलु,
उनि चानंण ओहु सोखिआ, चूका जम सिंउ मेलु ।

रहाउ लोका मत को फकड़ि पाइ ।
लख मड़िआ करि केसउ किरिआ सचु नामु करतारू,
ऐथै औथे आगे पाछे ऐहु मेरा आधारू ।

गीता में श्रीकृष्ण ने '*प्रणवः सर्ववेदेषु*' तथा '*ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म*' कहकर ओंकार की महत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार श्रुति और योग तंत्र में ओंकार जप की ही श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। प्रश्नोपनिषद् में आया है कि जो पुरुष त्रिमात्र विशिष्ट 'ऊँ' इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से परम पुरुष की उपासना करता है। वह तृतीय मात्रा रूप होकर तेजोमय सूर्य लोक में स्थित हो जाता है। जैसे सर्प केंचुली से छूट जाता है वैसे ही वह उपासक निश्चय ही सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है फिर तो वह सामश्रुतियों के द्वारा ऊपर की ओर ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है, इस

जीवन से उत्कृष्ट, हृदय में स्थित परम पुरुष का दर्शन करता है-

य: पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत् स तेजसि सूर्ये सम्पन्न:। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त: स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीव धनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवत:।

ओंकार रूप परमेश्वर के नाम स्मरण का निर्देश यजुर्वेद की श्रुति '*ॐ क्रतोस्मर*' में मिलता है। श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

ओम् जाप सुखपाइयै, दिनस राति परभाति ।
सदा सहाई सर्वथां उपजावत उर शांति ।
ॐ आदि मंत्र भगवान, ॐ जपीये लाये ध्यान ।
ॐ जपते सभ सुख पाये, ॐ जपते निर्मल थाये ।
ॐ जपते कमल प्रकास, ॐ जपते कमलादास ।
ॐ जपते अग्रज सूझै, श्रीचन्द्र प्रभु ओम बूझै ।
ॐ जपते सहज समाये, ॐ जपत ऊंच पद पाये ।
ॐ जपते ब्रह्मज्ञान, ॐ जपते पूर्ण ध्यान ।
ॐ जपते अग्नि निवास, ॐ जपीये सांस गिरास ।
ॐ जपते निर्मल मना, ॐ जपते आनंद घना ।।

यह ओम् जप योग क्रिया द्वारा सहज सम्पन्न होता रहता है-

णणंकार ध्वनि शून्य की सुरती सुनन संयोग,
रुणझुणकार सुहावई श्रीचन्द्र गुरु योग ।

नाम स्मरण का महत्त्व बताते हुए श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

एको नाम ध्याइयै कलि महि परवाना,
अवर न दूजा सिमरियै जन्मै मर जाना ।
सर्व शिरोमणि सिमरन राम ।
हलत पलत मुख उजला दरगहि आवहि काम । ।।रहाऊ।।

देव देवालय तीर्थी रट रट दुखपाये,
भन बर्फ जल सेवया बिरथा कष्टाये ।
बन बन फिर ढूंढत थके कछु हाथ न आया,
भरी विगार विगारीयां सिरभार उठाया ।
राम नाम बिन फोकटै साधन दुख मूला,
श्रीचन्द्र चित हेरकर हरि हरि अनुकूला ।।

परमेश्वर के नामों में अलख, निरंजन, शिव, राम, कृष्ण, नरसिंह, रमारमन, शार्ङ्गपाणि, हरि, नारायण, गोविन्द, पारब्रह्म, करतार, प्रभु, अविनाशी, बनमाली, वंशीधर, सारंगधर, चक्रपाणि, दामोदर, गोपाल, अनन्त, अकाल, नटवर, त्रैभंगी, मनमोहन, नरहरि, व्रजवल्लभ, जननायक तथा गिरिधारी का प्रयोग श्रीचन्द्र जी ने किया है। हरिस्मरण करने के लाभ भी गिनाए हैं-

हरि सिमरन ते मिटत जंजाल, हरि सिमरन काटे जमकाल ।
हरि सिमरन से छूटे लेखा, हरि सिमरन से छुटके भेखा ।
हरि सिमरन पापा मल धोय, हरि सिमरन मन निर्मल होय ।
हरि सिमरन ते हउमैं मारी, हरि सिमरन ते अनुभव तारी ।
हरि सिमरत नहिं व्यापै काल, श्रीचन्द्र हरि सिमरन भाल ।
हरि सिमरत भवै मीठी बानी, हरि सिमरत पद चतुरथ ध्यानी ।
हरि सिमरत पावत निर्वाण, हरि सिमरत अपरम्पर मान ।
हरि सिमरत अद्भुत रस पाया, हरि सिमरत की पलटी काया ।
हरि सिमरत अभिमान बिलाय, हरि सिमरत निजरहिहै समाय ।
हरि सिमरत सिर सूखा सूख, श्रीचन्द्र का रही न भूख ।।

• • •

प्राणी सिमरहु गुण गोविन्द, पार ब्रह्मकर्ता बखसिन्द,
सर्वघटा महिं रह्या समाय, ऊणी कतहुं नाहीं थांय ।

नारायण जप होहिं पुनीत ।
प्रतिपारक सन्तन का मीत । ।।रहाऊ।।

चिन्त अँदेसा परि हरि काये, एकहु सिमरहु हरि हरि राये,
मोह अँधेरा सगल बिनासै, हरि हरि नाम जगत प्रकासै ।
काम क्रोध बिनसै अहमेव, राम नाम जप पावै भेव,
गुह्य वस्तु प्रगटै परतख्य, पारब्रह्म साखै लख्य ।
निरभउ होय भजहु भगवान, जन्म मरण के बन्धन हान,
गुण गोपाल गोविंद ध्याय, श्रीचन्द्र दहदिसि सदछाय ।।

★★★★

संसार की अनित्यता

श्रीचन्द्र जी संसार को क्षणभंगुर मानते हैं। कबीर आदि सन्तों ने भी इसे सेमल के फूल या मृग तृष्णा के समान निस्सार माना है। '*रहना नहिं देस बिराना है*' जैसी उक्तियों के आधार पर वह प्रभु भजन को ही जीवात्मा के लिए एकमात्र वरणीय साधन मानते हैं। श्रीचन्द्र जी भी कहते हैं-

सुर असुरन महिं कोउ न रहै, नर बपुरै की का कछु अहै,
बड़े बड़े करामाती पीर, काहु न बाँधी यह जग धीर ।

सर पट चलना जाग अयाने ।

काहे कऊ कूड़ीं लपटाने । ।रहाऊ।।
सुन्दर मन्दिर महल अटारी, चित्र विचित्रित चित्र सुधारी,
मंडप छाए चँदोए तान, खाली हवै है खान दीवान ।
षोड़ शृंगार शृंगारी नारी, चुन चुन फूल सेज बिस्तारी,
सिंहासन कंचन रूचिमान, सुंने रहिहैं बड़ उपधान ।
बाग बगीचे पुहपन बारी, झरने झरत अनेक प्रकारी,
अश्वस्यन्दन नागरुयान, श्रीचन्द्र तज चला निदान ।।

यह जीवात्मा कितना अज्ञानी है कि साथ न चलने वाले संसार और उसके पदार्थों में गहरी आसक्ति के साथ फँसा हुआ है-

मिथ्या संग रह्यो लपटाय, रूपा कंचन गौरवकाय ।

धन यौवन दारा सुत नेह, पाप पोट सिरधारी खेह ।
चतुरंग सेना संग चलन्त, सभा बिराजै मंत्री मंत ।
बैठे सिंहासन हुकुम चलाय, श्रीचन्द्र कोउ संग न जाय ।।

मलिक मुहम्मद जायसी नें भी जीवन और जगत् की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करते हुए इस संसार की वास्तविकता को समझ लेने की बात कही है। मृत्यु बोध ही वह तत्त्व है जो सहज वैराग्य को जन्म देता है। रँहट की घड़ी की तरह पानी से भरना और फिर से रीत जाना ही तो कालचक्र है-

मुहमद जीवन जल भरन रँहट घरी के रीति,
घरी सो आई ज्यों भरी ढ़री जनम गा बीति ।

इसी काल बोध को रेखांकित करते हुए श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

चार दिनन का जीवन भाई, विनस जायगो छाई माई,
थंभा पवन श्वास ठहिरांवा, चलत फिरत मन्दिर छावां ।

भजमन राम नाम नर हरी ।
सुन्नी देह रहेगी परी । ।।रहाऊ।।
बिन दृष्टि के नयन रहे हैं, कोउ न रसना रसन गहे हैं,
कर विन कर्म पगन बिन चाला, बिन श्रोत्रन के श्रवन न आला ।
गन्धबिन घ्राण त्वचा अस्पर्शी, मुख द्युती बिना सोग अनहरसी,
न्हाना खाना दूर परायो, भला बुरा कहु कहि न सुनायो ।
बसन पहिरवौ परिहरि दूर, कफन ओढ़ायो तन पर पूर,
अन्त की बार पुकारी धाह, श्रीचन्द्र जग ऐवैं स्वाह ।।

अब जब निश्चय हो गया कि सम्पूर्ण दृश्य लुप्त हो जाने वाला है, जादूगर का खेल है, ऐन्द्रजालिक की कपट रचना है, पानी की दीवार है या प्रातः कालीन ओस की पत्ती पर पड़ी बूँद है, तब इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है–

छाड़ै दैरे छाड़ दैरे जगत झूठो पाज है ।
मातुपिता बन्धु साक अन्तकाल रहहिं झाँक ।

कोऊ न उबार सकहिं जैहैं दूजि भाज है ।
नाहीं सुत सुता भैण संग साथी सरना सैन ।
परम सनेही सभी काढ़ने को साज हैं ।
काय को नवाय धोय नूतन वसन पोय ।
श्री चन्द्र चिता धरि अगनि उपराज है ।।

जब यह शरीर छूटता है, तो धन रखा रह जाता है, पशु धन गोष्ठ में बँधा रह जाता है। भार्या घर के दरवाजे तक ही जा पाती है, कुटुम्बीजन, परिवारीजन तथा इष्ट मित्र श्मशान घाट तक जाते हैं, देह चिता पर ही जल कर राख हो जाती है, जाता है तो कर्म का भार लिए केवल जीवात्मा – '*कर्मानुगोगच्छति जीव एकः*'। यम की पाश में बँधे जीव की सहायता उसका धर्म ही कर सकता है। अन्त समय में उसे उसके कर्म ही याद आते हैं। श्रुति कहती भी है – '*ॐ कृतं स्मर*'। इसे ही श्रीचन्द्र जी चित्रगुप्त द्वारा लेख दिखाना कहते हैं –

जो जो कूड़े कर्म कमाने चित्रगुप्त लिखराखे,
अन्तकाल श्री चन्द्र लखाये दै दै सब विधिसाखै ।
मुकरयो जाय न मूल, धर्म दुआर् या जीऊ,
बहु विध सहयो सूल दुखित पुकार्या जीऊ ।

अज्ञान या अविद्या के कारण ही जीवात्मा असत्य को सत्य, मिथ्या को यथार्थ तथा अनित्य को नित्य मानता है। वह पापकर्मों से हटता नहीं, उसकी इन्द्रियाँ अशान्त रहती हैं, उसका चित्त स्थिर नहीं रहता, वह भोगों को ही सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति शरीरासक्त होने के कारण उस परम पद को नहीं प्राप्त कर सकता, वह तो जन्म-मरण रूप संसार को ही प्राप्त होता है। कठ की श्रुति है – '*न सतत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति*'। श्री चन्द्र जी भी भोगी पुरुष के अविवेक का चित्रण करते हुए कहते हैं –

खेल गंवाय अवस्था बाल, दौड़त कूदत चालत चाल,
युवा लागि मंचन धन भारी, नित प्रति जोहत संगकुमारी ।

अज्ञानहिं लागि जन्म गवायों ।
दीनानाथ सर्व प्रतिपालक दुख भंजन कभी मन न बसायो ।
अनिक प्रकारी कीनहि पाप, दुख सुख बांध्यो तृष्णा घ्राप ।
मानअपमान अनेक सहारै, इकट्ठे कीनै द्रव्य भण्डारै ।
चूने गज गच महिल अटारी, हवादार सुन्दर बर बारी ।
पुत्र कलत्र संग रस रचिआ, मोह गरत महि अन्धा पचिआ ।
होय वृद्ध उठि चल्यों पराई, परिवारह बड़ धूम मचाई ।
बन्ध्यो जात काल कै जालै, श्रीचन्द्र नहिं राम सम्हालै ।।

जायसी जैसे सूफी कवियों की उक्ति '*पुनि किछु हाथ न लागई, मूसि जाएँ जब चोर*' की तरह श्रीचन्द्र भी कहते हैं –

शनै शनै खिस जायगो जेतो है भव भोग भण्डारा,
जब तें स्वास पर्‌यो तन माहीं तब तें बह्‌यो जात परनारा ।

काहे नर नहिं करत उबारा ।
बैठें खावत खावते जायो जावत निखल भंडारा । ।।रहाऊ।।
परे चोर गृह मूस रहे है नाहिन पाहरू करि हट कारा,
अन्ध निसावधु सगरी हरसी सोय रह्‌यो मदमत्त गवारा ।
दूर देश मग अति गाखड़ो पोट उचाई भारी छारा,
अश्व स्वास बह भागहि लाद्‌यो थाक परै किहु चलै न चारा ।
यन्त्र मंत्र औषधि रस धातु महारोग को नहिं उपचारा,
सभ संतन इक राम नामे हि श्री चन्द्र धुनि ऊँच पुकारा ।।

अतः इस असत्य से मुक्त होकर सत्य की प्राप्ति के लिए परमेश्वर रूप संत की शरण में जाना चाहिए।

परमेश्वर संतन का संगी, संत सदा परमातम अंगी,
ओतपोत हरिजन हरि आप, आपहिं आप जनावत आप ।

नित्य अक्तार हरि के संत ।
हरि गुण गावत गुणी रमंत । ।।रहाऊ।।

आपन आप जनावत काजा, संतहोत सब जग का राजा,
आपहिं जानत अपना मेव, आप सिखावत है गुरुदेव ।
मन कऊ मांज सवारैं आप, बीच थिरावै हरि हरि जाप,
प्रकटावै उर ज्ञानहिं मान, महा अन्धतम हरत अज्ञान ।
शीतल चन्द्र सुधा बरसंत, कृषि सुरस युत गुणगुणवन्त,
महानाद संतन मुख गावा, श्रीचन्द्र मनमृग बन्धावा ।।

संतों ने पवित्राचरण पर बल दिया है, पाप कर्म से बचने का निर्देश दिया है। मनुष्य को अपने किए का फल स्वयं भोगना पड़ता है, उसमें कोई और भागीदार नहीं होता। अतः श्रीचन्द्र भी कर्मफलसिद्धान्त पर कई रूपों में प्रकाश डालते हैं। उनका निष्कर्ष है –

बुरे कर्म का फल बुरा भोगहि गा प्राणी ।
श्री चन्द्र जप राम नाम संग साधु सुजाणी ।
कीता पाइये आपणा क्यों बुरा कमाइयै ।
साथ न काहू देवणा क्यों कर पछताइए ।।

★ ★ ★ ★

शृंगार योग

सुरति को प्रेमिका मानकर शब्द पुरुष से कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया द्वारा ब्याहने की भावना शृंगार योग कही जाती है। सूफी कवि कुतबन ने मृगावती में सर्वप्रथम इस शब्द की चर्चा की।

पहिले ही ए दुइ कथा अही, योग सिंगार विरह रस कही ।

इसी भाव से प्रेरित होकर कबीर ने कहा –

चंद सूर दोइ खंमवा, बंकनाल की डोर,
झूलैं पंच पिआरियां, तहँ झूलै पिय मोर ।

गुरु रामदास कहते हैं –

बीआहु होआ मेरे बाबुला गुरुमुखे हरि पाइआ,
अगिआनु अँधेरा कट्ठिआ गुरु गिआन प्रचंडु बताइआ ।

दादूजी का कथन है –

सून्यहि मारग आइया, सून्यहि मारग जाइ,
चेतन पैंडा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ ।

दरिया जी का वचन है –

बेवाहा के मिलन सों नैन भया खुसहाल,
दिल मन मस्त मतबल हुआ गूंगा गहिर रसाल ।

मलूकदास कहते हैं –

कह मलूक सुन जोगनी रे तनहिं में मनहिं समाय,
तेरे प्रेम के कारने जोगी सहज मिला मोहि आय ।

बीरू साहब के इस पद में हठयोग की पृष्ठभूमि पर श्री कृष्ण रूप सुरति का चित्रण देखने योग्य है –

त्रिकुटी के नीर तीर बाँसुरी बजावै लाल ।
भाल लाल से सबै सुरंग रूप चातुरी ।
यमुना अरु गंग अनहद सुर तान संग ।
फेरि देखु जग मग को छाँड़ि देवै कादरी ।
वायु प्रचंड चंड बंकनाल मेरुदण्ड ।
अनहद को छाँड़ि दै आगे चलु बावरी ।
ओंकार धार बास इनहूँ का है विनास ।
खसम को साथ करु चीन्ह ले तू नाहरी ।
जन बीरु सतगुरु शबद रकाब धरु ।
चल सूर जीत मैदान घर आवरी ।।

गुलाल साहब का अनुभव है –

गगन मंडल में रास रचो है, सेत सिंहासन राजी ।
पुलकि पुलकि प्रभु सो भय मेला प्रेम जगो हिय भागी ।
कह गुलाल घर में घर पायो थकित भयो मन पाजी ।।

राम सनेही सम्प्रदाय के संत रामदास की वाणी है –

गिगन मंडल में रामदास अनहद धुरिया नाद,
रूंम रूंम साईं मिल्या, सिकरण पाया स्वाद ।

संत चरणदास जी कहते हैं –

निजवृन्दावन देखिया नित अखंड जहँ रास,
पिया प्यारी विहरत जहाँ पहुँचे ह्वै दास ।

शृंगार योग की इस परम्परा के सूत्र सर्वप्रथम सिद्धान्त सागर में उपलब्ध होते हैं। पिंड – ब्रह्माण्ड की एकता के बाद कुण्डलिनी जागरण संतमत का प्रमुख सिद्धान्त है। वर्णन देखिए–

गंगा उतरी गगन ते विंग तिडंगी,
मीन चलै ऊरध दिशा सुरसिद्धि भिडंगी ।

नेम आधार विचारा ।
सर्पिणी कुण्डल परहरै टपकै अमृतधारा । ।रहाऊ।।
खिड़की खोले परसीये आलै बथुपाई,
प्राण गुरुप्रकाशिया गति अगम लखाई ।
त्रिकुटी छटे परसीयै निर्मल उजियारा,
लख बिजलीयां चमकई झिलमिली नजारा ।
अनहद ध्वनि आनन्द रस मन मगन समाना,
श्रीचन्द्र गुरुकृपा तें दर दसम खुलाना ।।

इस दसवें द्वार की चर्चा सूफियों ने भी की है। जायसी का कथन – '*नौ पँवरी पर दसँव दुआरू*' प्रसिद्ध है। विद्युत प्रकाश के समान ज्योति के दर्शन का समर्थन तंत्रोक्त इस पंक्ति से '*ते सर्वे चिन्मया भान्ति तड़ित्*

वत्तत्क्षणे भृशम्' से हो जाता है। कुण्डलिनी जागरण के बाद जिस जिस पदार्थ में साधक की दृष्टि पड़ती है, उसमें उसी क्षण विद्युत् के समान ज्योति प्रकट हो जाती है। विचित्र नाद सुनाई पड़ने लगते हैं –

रवि बारह की ज्योती रूप, तपत बिलानी सीत अनूप ।
हा हा हू हू तवंरुनाद, किन्नर गंधर्व वादितवाद ।
शची उर्वशी मेनक नाच, पद पद ठुमुक ठुमुक रंगराच ।
सुरति हिरानी उन्मद थाट, धग धग धृकट धृकट गरराट ।
सिंधु पंचानन वारिद गाज, नभ ध्वनि घोर दमामन साज ।
किंकण नूपुर झांझ नफीर, सात सहज बहु शब्द गँभीर ।
नाद निनादत तबला ताल, घेरी घेर बिखाय कमाल ।
साधु गए पेखे निज नैन, श्री चन्द्र रस आतम लेन ।।

• • •

आ मिल साहिब आय मिल आ मिल मेरे साईंया,
अरवीं तारा श्री चन्द्र उठीयां नभ चाईयाँ ।

द्वैतनाश तथा अद्वैत की सिद्धि इस '*शृंगार योग*' का फल है। श्रुति कहती है कि जो संत जन अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस सर्वात्म दर्शन के कारण ही किसी से घृणा आदि नहीं करता। जिस काल में अथवा जिस आत्मा में सर्वात्मदर्शन के कारण तत्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण प्राणी आत्मा हो गए, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखने वाले को कभी शोक, मोह या दुःख नहीं हो सकते।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।
यस्मिन्सर्वाणी भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

इस सर्वात्मदर्शन या सर्वेश्वर वादी दर्शन का प्रभाव सिद्धान्तसागर के

अनेक पदों पर देखा जा सकता है। इनमें द्वैत बुद्धि का नाश, अद्वैतनिष्ठा तथा जीव ब्रह्म की एकता का भाव पुष्ट हुआ है –

साधु संगति पाइये हरि हरि जप जाप,
आपा आप मिटाइये तब सूझै आप ।

प्रभु मेरा सब नीं थाईं,
गुरुकृपा से जानिये घट घट सहज समाई ।
शब्द सच्चे मन बेधिया मिटिया अन्धियारा,
सब घट अन्तर रब रहिया हरि अगम अपारा ।
वन तृण त्रिभुवन व्यापिआ कोउ थांऊ न ऊणी,
पशु पक्षी चर अचर महि प्रज्वलित सो धूणी ।
पर्दा दूई दूर कर संग संत समाइए,
हरि हरि हरि हरि हरि हरे श्रीचन्द्र अलाइए ।।

यहाँ एक तो परमेश्वर को धूनी कहा गया है, गीता में भी भगवान् ने '*अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः*' स्वयं को अग्नि रूप से प्राणियों के हृदय में विद्यमान माना है। दूसरे '*दूई का पर्दा*' अर्थात् द्वैतवाद का आवरण दूर करने का निर्देश दिया गया है। हृदयस्थ ब्रह्म और परब्रह्म में भी श्रुति कोई भेद नहीं मानती। छान्दोग्य में शाण्डिल्य का कथन- '*एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः*' पिण्ड–ब्रह्माण्ड में स्थित ब्रह्म में अभेद का संकेत देता है। तैत्तिरीय में भी '*स य एषोऽन्तर्हृदयः आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः*' आया कथन ब्रह्म का उपलब्धि स्थान हृदयाकाश को बताता है। श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

सागर बूंद मिलाय कै नहिं भिन्न करेई,
अस्ते सूर्य किरण को नहिं कोय लहेई ।
पार ब्रह्म जो मिलि रहै नहिं जना मरेई,
एकोएक बरवाणियै दूजा नहिं कोई ।
पवन पवन को मेल ह्वै अन्तर बहि रेई,
आत्म आत्म श्रीचन्द्र मिलि भये मुक्तेई ।

कोई न दूजा दीसै भाई, पार ब्रह्म सब माहिं समाई,
करते कारण कीने जोई, तीनों लोकन होयो सोई ।

• • •

साध जना रस पाया मत चढ़ी खुमारी,
बन्धन छूटै मनहुं ते माया परिवारी ।
निसि अंधियारी मिट गई प्राची उजियारी ।
चुहचानी चिड़ियाँ घनी कमलन खिलवारी । ।रहाऊ।।
रवि रश्मि प्रकाशिया चक्रवाक पुकारी,
उडु मंडल गगनै छिपै चन्द चन्द्रिकी हारी ।
कुमुद मूंद मुख मूधड़े षटपद गुंजारी,
नित्त कृपाल श्रीचन्द्र जहिं हरि लागी तारी ।।

भगवान् भक्त की जाति नहीं देखते, वह तो उसका प्रेम देखते हैं, विद्या, जप, तप, सौन्दर्य, ज्ञान, ध्यान नहीं देखते, समर्पण देखते हैं–

जाति न पूछति हरि प्रभु प्रेम पदारथ सार ,
नेहु प्रवाना पाय कै जावत प्रभु दरबार ।

भगवान् ही भक्त के एकमात्र आश्रय रूप होने चाहिएँ। उनके लिए संसार की हर वस्तु, हर सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण सर्वस्व का परित्याग कर देना चाहिए। गीता में भगवान् ने कहा है– '*तद् कुरुष्व मदर्पणम्*'। श्रीचन्द्र जी भी कहते हैं–

तज सुत मात पिता बन्धु मीत, राम नाम सों कीजहि प्रीत ।
गुरु तजि बली नारायण लागा, हरि किय द्वारपाल नित जागा ।
प्रह्लादहिं पिता त्यागन कीना, जल अग्नि हरि ने किय छीना ।
बन्धुत्याग आयो प्रभु शरण, भगत विभीषण लंकाधरण ।
कैकेयी मात त्याग कर भरतै, राम चरण रति बान्धै सरतै ।
पतित त्याग गह्यो यदुनाथा, सब विधि गोपी भई सनाथा ।
प्रभु हित लाग रविदास कबीर, सर्वप्रकार पाई धीर ।

नारायण सद सद बखसंद, निज दासन के काटत फंद ।
सब तज गही शरण रघुराई, श्रीचन्द्र जग फिरी दुहाई ।।

बलि ने गुरु शुक्राचार्य, प्रह्लाद ने पिता हिरण्यकशिपु, विभीषण ने रावण, भरत ने माता कैकेयी, गोपियों ने अपने पतियों तथा रविदास और कबीर ने अपना सर्वस्व प्रभु के लिए समर्पित कर दिया। इस विराट् समर्पण के बिना हरि को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भक्त का हर कार्य हरि प्रीत्यर्थ होना चाहिए। भागवत में कहा भी गया है-

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्,
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ।

* * * *

पाखण्ड खण्डन

संत साहित्य सदाचार, ब्रह्मचर्य तथा वैराग्यपूर्ण निश्छल जीवन यापन को महत्त्व देता है। इसीलिए शास्त्र, तीर्थ, मन्दिर-मस्जिद, वेद, पुराण, कुरान, व्रत, उपवास, रोज़ा, नमाज, भेष, चन्दन, छापा, तिलक, नारी, यज्ञ, दान आदि बाह्य क्रियाओं का खण्डन सभी संत कवियों ने किया है। गोरखनाथ, सरहपा, कबीर, रविदास, नानक सभी संत पाखण्ड विरोधी रहे हैं। गोरखनाथ ने कहा था-

हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत,
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत ।
हिन्दू आषै राम को, मुसलमान खुदाइ,
जोगी आषै अलष को, तहाँ राम अछै न खुदाइ ।

चर्पटनाथ ने कहा था-

मन नहिं मूंड़ैं मूंड़ैं केस, केसा मूंड्या क्या उपदेस ।
मूंडैं नहिं मन मर्दक मान, चरपट बोलै तत्त गियान ।

बाकर कूकर किंगरि हाथ, बाली भोली तरुणी साथ ।
दिनकर भिख्या रात्यूं भोग, चरपट कहै बिगोवैं जोग ।
जटा विटंवन आंगैं छार, मोटी कंथा बहु विस्तार ।
विचित्र बानी अंगा चंगा, बटुआ सीवै बहुविधरंगा ।।

नाथों से पूर्व बौद्धसिद्धों ने जाति-पाँति, वर्णाश्रम धर्म तथा बाह्याचार का खंडन कर दिया था। उन्होंने अपने से पूर्व चले आ रहे हर वैदिक-अवैदिक मार्गों का भी तिरस्कार कर दिया था। धर्म तथा ईश्वर के बीच आने वाले पण्डित, काजी, मुल्ला भी उनके लिए तिरस्कार के योग्य थे, उन्होंने सहज-निरंजन की भक्ति का रास्ता अपनाया। संत नामदेव ने कहा-

हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमान मसीत,
नामैं सोई सेविया जहँ देहुरा न मसीत ।

श्रीचन्द्र जी ने भी कुरीतियों से ग्रस्त हिन्दू-मुसलमान दोनों का खण्डन किया। कुछ उदाहरण लीजिए-

काजी मुल्लां एकठे ठाट जमाती संग,
मुच्छां कटाईयां मुंह स्यों लिंग कटाया अंग ।

चढ़हिं मसीतीं मुनारे धाम ।
ऊंची बांग पुकारई जुम्मैं इकट्ठ कराय। ।।रहाऊ।।
मुस्लिम जाय बहिश्त महिं अग्नि जलावै हिन्दु,
मूर्ख मन डहकावई मृतक तन कहि जिन्द ।
काबै हज्ज प्रवाण है जम जम नीर प्याय,
नाम खुदाय भुल्लिया असवद संग चुमाय ।
पत्थर मारे खोलियां मनमहिं रह्या शैतान,
नाम बिहूणै श्रीचन्द्र लहहिं न कहूँ अमान ।।

हिन्दुओं को फटकारते हुए उन्होंने कहा-

इन विधि भगति न होय ।
तिलक जनेऊ धोतियां जख जट वेष कियोय । ।रहाऊ।।

लमी दाढ़ी जाल रचि फांसत लोग शिकार,
सदाबरत देवालयाँ वेदैं पाठ विकार ।
बाहर यति संदावदे अन्दर नारी प्रीति,
भगति करति निसि जागई ऊंचे गावत गीत ।
ठगण हित उपदेश ते मज्जन कीजै कुण्ड,
राम नाम बिन श्रीचन्द्र रंग रंग चुलुंभ ।।

• • •

हथीं केस मुचांयदे सिर छार पावाई ।
जटा जूट बड़ धार्या नख बड़े बढ़ाई ।
मुंद्रा कानी फटक की पदुमनि पहराई ।
दर दर जोहत श्वान ज्यों कबि तृप्ति न पाई ।।

• • •

बिना उदास उदासी डोलै, बिनु बैराग बैरागी बोलै ।
बिना न्यास संन्यासी बकते, बिना भक्ति के फिरतै भकतै।
मूंड मुँडाए भगवाधार, गृह गृह भोजन माँगत द्वार ।
मन्दिर मस्जिद पाकी ईंट, गारे मढ़ी मठ पापी छींट ।।

भव महिं पाथर भा भगवान ।
मोहन भोग नैवेद न तृप्तयो तुलसी भोगत अचरज मान । ।रहाऊ।।
विश्वनाथ परकूप डुबाना, अजहूँ दंभी नर भरमाना ।
गोविन्द राम मसीती दुरे विप्र मनई घावत गहि छुरे ।
आप न न्हाय सकै रत्नाकर, काठ गढ़ाई मूरति आकर ।
स्वर्ण मुकुट ता को पहिराय, लोक दिखावै परिहैं पाय ।
श्रीचन्द्र कलि वग्गी वाय, संत त्याग जम के घर जाय ।।

इस पद में विश्वनाथ मन्दिर का टूटना, शिव का कूप में निवास पाना, राम मान्दिर के स्थान पर मस्जिद निर्माण, जगन्नाथ पुरी की काष्ठ प्रतिमा आदि घटनाओं का उल्लेख कर बाह्य पूजा का निषेध किया गया है। उनका कथन है कि हृदय में ज्ञानाग्नि के जले बिना पापों से छुटकारा

नहीं मिल सकता–

तीर्थन्हाय न मन मल धोई, दुरमति दुविधा संतन खोई ।
पाहन पूजन शांति न पाई, एक छोड़ि कोटिन पर पाई ।
अन्तर अगनि न बिनसी धूणे, पाप उचाय सिर पर दूणे ।
तीर्थ अड़सठ के इस्नान, त्रैकालिक संध्या सन्धान ।
टिक्का धोती पहिर दिखावा, बन बेहड़ कंटक लपटावा ।
होम यज्ञ बहुकर्म कमाहि, तज गृह बास भ्रमै अनथाहि ।
मन महिं शांति न मुक्त पदार्थ, श्री चन्द्र बिन नाम अकार्थ ।।

• • •

लूट खसोट द्रव्य करि एकतु यज्ञ अनल प्रजलाई,
ब्रह्मा रित्विज उद्‌गीथीआ ऋचा उचरि सुनाई ।
धन की ध्वनि रहि दह दिसि छाई,
निर्धनते को विप्र न तोषे नरकहि लहहि सजाई ।।

• • •

सूतक पातक कवनै भाख्यो,
ज्ञान पुराण कुरान न जाना लोभ लहर की साख्यो ।
मेदनि उपजै सूतक होई भिन्न होय तो नासै रे,
पातक महि पातक कस ख्वैहै मुख ते वाक्य उभासै रे ।
चतुर लुटेरे मुगधन लूटैं कूड़ी बात बनाई रे,
चक्रचलायो सूतक पातक कौ तौ फासहि आई रे ।
सभितजि कर्म भरम कै धंधे देह छलांग उछाली रे,
श्री चन्द्र इक सिमर राम मन टूटहि सगरी जाली रे ।।

अर्थात् पुराण कहते हैं कि पृथ्वी मधुकैटभ की मज्जा से बनी है फिर तो यह अपवित्र हो गई। इस अपवित्र घरती पर जो भी पैदा होगा, वह अपवित्र पैदा होगा। फिर पैदा होने पर सूतक तथा मरने पर पातक कैसा? उसकी शुद्धिकी क्रियाओं की कल्पना चतुर धूर्त धर्म के लुटेरों ने की

है और भोली जनता उनके चक्कर में फँस रही है। श्रीचन्द्र जी इस कर्मकाण्ड के जंजाल को जाल मानते हैं, माया से छूटने का सरल मार्ग तो हरि नाम का स्मरण ही है। भेख का पूर्ण निषेध करते हुए वह कहते हैं –

भेख दिखाये भगति न होय ।
हउमै अन्तर महिल गवाए अनिक योनि दुःख भुगवै सोय ।
मूंड मुंडायो भगवारंगी डहकाये सिख साथी संगी ।।

सच्चा धर्म क्या है? इसकी व्याख्या भी श्रीचन्द्र जी ने की है –

गुरुमुख सत सन्तोख व्रत धर्म कर्म रस ज्ञान,
आतमदेव पछाणिआ पारब्रह्म लिवध्यान ।

संचालन धर्महि प्रभुकाम ।
काटि कलेस निवार विघ्नगण सदा समारन राम । ।।रहाउ।।
सत, संतोख शीलव्रत पूजा परसन तीरथ थान,
जप, तप, संयम, दया सुकृति मति नाम दान इस्नान ।
वेदपाठ गुण ज्ञान ध्यान युत बुद्धि विवेकहिं धारण,
अर्चा देवन गो गरीब रख हेतु धरनि उपकारन ।
शांत दांत सतगुण प्रतिपारन स्मृति दरसन संगा,
अष्ट दसान पुरान अख्याना सांगोपांग खटंगा ।
उपनिषदन गीता के गीतन ओम शबद निधाना,
श्रीचन्द्र ए धर्म प्रभू जू थप्यो जीव कल्याना ।।

यह वह सिद्धान्त है जिससे वह सभी निर्गुणिया संतों में अलग प्रस्थान वाले सिद्ध होते हैं। इसमें दैविक गुणों के साथ वेद, पुराण, उपनिष्द, गीता, ज्योतिष, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि प्रमाण ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। देवार्चन, गो सेवा तथा निर्धन सेवा की भी अनिवार्यता बताई गई है। प्रभु के अवतार का प्रयोजन भी इन सिद्धान्तों की स्थापना करना है। धर्मरूप प्रभु धर्म का संचालन करते हैं, संत क्योंकि उनके प्रतिनिधि हैं, अतः वे भी समाज में इनके प्रचार-प्रसार के लिए संलग्न रहते हैं।

सत्य अहिंसा शील तप दया क्षमा मृदुदान,
शुद्ध विचार अरु तोषणा श्री चन्द्र धर्म पहचान ।

निम्न आचारण वाले लोगों को वह न धार्मिक मानते हैं और न उनके क्रिया कलाप को ही धर्म की परिधि में स्वीकार करते हैं –

ऊर्ध पुण्ड त्रिपुण्ड तिलक सजाया,
गोपी चन्दन लाय अंग बाराया ।
तुलसी माला मेलभगत कहाया,
झांझ परवावज तार विपंची गाया ।
ताण विताण सुरंग चँवर ढुलाया,
कथा बरवाण पुराण कुराण अलाया ।
छन्द वन्दरस रंग कवित्त सुणाया,
श्रीचन्द्र बिन नामैं दंभ बधाया ।।

• • •

धरि धरि नारी बेस नाच नचाया,
ढ़ोलक ताल मृदंग बाद बजाया ।
नूपुर घुंघरु घंटि छैण छणाया,
वेणु वीणा बंस बंझलि बाया ।
रासि अखड़े मंड भगति कमाया,
श्रीचन्द्र बिनु नामै धूड़ि उड़ाया ।।

★ ★ ★ ★

कलियुग का प्रभाव

पुराणों में कलियुग के प्रभाव का व्यापक चित्रण हुआ है। कलियुग समस्त बुराइयों की जड़ है। वह द्वैत का विस्तार करता है, धर्म का वास्तविक रूप उसी के कारण तिरोहित हो जाता है। पाखण्ड तथा मिथ्याचरण में लोगों की रुचि बढ़ जाती है। माया ठगिनी की बन

आती है, वह त्रिगुणात्मिका पाश में जीवों को बाँधने के लिए घूमती रहती है। सारी धरती पापाक्रान्त हो जाती है–

अघ ओधन धरणी सब छाई ।
गर्ज–गर्ज तड़िता सम कड़कत महिसी रंक प्राण बिनसाई ।
मदमत्त लोभी भरी कचहरी कड़कन पक्का खेत गवाई ।
वसन बिहून प्रजाभय भीती भाग भाग चाहत लुकठाई ।।

• • •

धन हेती हलकाये कुत्ते भौंकत काटत दह दिसि दौरे,
भई अदालत द्रव्यवान की न्याय न पिखियत धरणी टोरे ।

• • •

राजा कूड़ो परजा कूड़, कूड़ो कूड़ रहिआ भरपूर,
कूड़ो काजी करतो न्याय, कूड़ो विष्ट कूड़ सिखराय ।

• • •

अन्ध धुंध बरती चंहु ओरा ।
रात्रिकालमहा अँधियारी कहूँ न चानण दीखत भोरा ।
राजे प्रजा लड़ावत आपहि आपहि मेल करावत जोरा ।
आपहिं धन दै मंदिर थापहिं आप बेअदबी हित चित लोरा ।
आपहिं हिन्दू तुर्क बनावत आपहिं करत विवाह अजोरा ।
आपहि राजे तस्कर साजहि आपहि वरजित चढ़कर घोरा ।।

• • •

कुत्ते मुंह कलि आयो घोरा ।
जटाजूट सिर डार विभूती अन्तर लोभ विषम झकझोरा । ।रहाऊ।।
तन सगरे पर रोम न कोऊ पावक काम जरित मन कोरा ।
भगवां पहर भगत बन बैठो सभा कांमनी रस चित बोरा ।।

• • •

भव भीतर सुख है किंहु ठांऊ,
हिन्दु दुखीये मुस्लिम दुखीये घर-घर पेखियत सगले गांऊ ।

• • •

गुरुमुख वेस बणाया व्यभिचारिन पागी,
आशा तृष्णा कूकरी भौंकत मुख झागी ।
भंग चरस आभिष सुरा पोस्त गांज अमल,
काजी जोगी पडितां मसजिद देवस्थल ।
चोरी, जारी, पान मद व्यभिचारी के थांऊ,
मन्दिर तीरथ मसजिदी बसे घुघ गिराऊ ।
कलि वरतारा बरतया दहदिसि अन्धयारा,
राज कुम्हार गदहा प्रजा करि लादस मारा ।
डंड डंड चलायंदा कुरके घर बारा,
जन चिन्ता पुर पेट की हाकम डकरारा ।
दृष्टीं रक्त निचोड़्या की डोर पुकारा,
लाय दुकान मुकद्दमी बढ़ी रुजगारा ।
पुत्त धी बेच न न्यायलहि उलटागयो मारा,
श्री चन्द्र कुत्ते हलकियाँ हरि ही उपचारा ।।

भागवत के कलियुग वर्णन में राजा और प्रजा के सम्बन्धों की कटुता का उल्लेख है, मध्यकालीन कवियों ने रहस्यात्मक शैली में कलियुगी राजाओं के शोषण, त्रास तथा विषमतापूर्ण राज्यव्यवस्था का भयावह चित्र प्रस्तुत किया है। व्यापक युद्ध, निरीह जनता की दुर्दशा, समाज के सामंती वर्ग की विलासिता तथा धर्माचार्यों की भोगवादी पवृत्ति कलियुग का प्रभाव कही जा सकती है। मनुष्य-मनुष्य का भेद और धर्माडम्बर दो कलयुग के बड़े दोष हैं। निम्न वर्ग के लोग सब तरह का कष्ट सहन करने के लिए विवश थे। जाति-पाँति के कारण भी वे सामाजिक न्याय से वंचित थे। श्रीचन्द्र जी ने अपने समाज का यथार्थ चित्रण किया है।

उन्होंने मनुष्य मात्र की बराबरी का प्रश्न उठाया। हिन्दू मुसलमान की एकता की बात की तथा वर्ग विषमता और वर्ण विषमता के दोषों पर प्रकाश डाला। आचार और नैतिकता को सर्वोपरि माना तथा बाह्याडम्बर का खण्डन कर सीधे सादे जीवन यापन की श्रेष्ठता बताई।

हिन्दू मूस्लिम एकारूप सदा विगास सानंद स्वरूप ।
हरि कीरति रस परम अनूप, संतन संग निवासा जीऊ ।
दहदिसि चौदह भुवन महिं एका जोति मुरार ।
पशुपक्षी वनतृण सकल एकाकार पुकार ।।

• • •

सर्व जोति एकहि भगवान, रामनाम रस अन्तरमान,
पूरणपारब्रह्म परगास, घटघट महिं प्रभु एक निवास ।
पूर्व पश्चिम उत्तर दक्खिन सगले जीव तुम्हारे,
जिहं चाहहिं तिंह सेव लगावहिं चाहहिं तिसहि विगारे ।
भाव भगति स्यों मति गति पूरी नर नारी जैकारा,
श्री चन्द्र हरि नाम दिवायो ब्राह्मण शूद्र चंडारा ।
कर्म धर्म सुच शील व्रत जप सन्तन चाला,
ओर निहारत श्रीचन्द्र प्रभु परम कृपाला ।।

★ ★ ★ ★

सिद्धान्तसागर की शैली

सिद्धान्तसागर ग्रन्थ साहिब की शैली की रचना है, प्रतिपाद्यगत वैविध्य तथा सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से वह गुरुवाणी से भिन्न पद्धति की रचना है पर शैली की दृष्टि से उसमें गुरुवाणी से साम्य दिखाई पड़ता है। ग्रन्थ साहिब के सम्पादन की अपनी परम्परा रही है पर सिद्धान्तसागर अपने अविकल रूप में विद्यमान है उसके सम्पादन का प्रयत्न महन्त अनन्तानन्द जी उदासीन से पूर्व नहीं हुआ। उन्हें यह ग्रन्थ

जिस रूप में प्राप्त हुआ, उसी रूप में सिद्धान्त मंजरी के साथ प्रकाशित करा दिया। पहले मात्राशास्त्र फिर 11 दोहे फिर सिद्धान्त सागर तथा अन्त में 40 दोहों के साथ पूरी रचना 13 सितम्बर 1994 को छपकर जनता के सामने आई। आचार्य श्री चन्द्र जी की यह दुर्लभ वाणी संगलवाला अखाड़ा अमृसर में सुरक्षित थी।

सिद्धान्तसागर में राग गौड़ी गवारेरी, गौड़ी वैरागणि, गौड़ी मालवा, राग संकर, राग श्री, श्रीराग छन्द, राग आनन्द, राग भैरव, राग बिलावल, राग कमल कुसुम, राग चम्पक, राग खउखट, राग काफी तथा राग धनासरी का प्रयोग हुआ है। श्लोक, पौड़ी, अष्टपदी तथा सबद शैली में वाणी की रचना की गई है।

बारह मासा लिखने की परम्परा अपभ्रंश से ही प्रारंभ हो गई थी। आदिकाल के हीरानन्द नामक कवि ने नेमिनाथ बारहमासा तथा घूलिभद्र बारहमासा की रचना की थी। [1] गुरुनानक, गुरु अर्जुन देव तथा गुरुगोविन्द सिंह ने निर्गुण परम्परा में बारहमासा की रचना की। सूफी कवि जायसी पद्मावत में बारहमासा लिख चुके थे। गुरुनानक और गुरुअर्जुन देव के बीच आचार्य श्री चन्द्र ने बारहमासा की रचना की। षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासा की रचना भी की। गुरुगोविन्दसिंह ने भी दो बारहमासा लिखे।

पंजाबी काव्य की दूसरी विशेषता '*बार रचना*' कही जाती है। कहते हैं सर्वप्रथम अमीर खुसरो ने बार की रचना पंजाबी में की थी। डॉ0 हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने आदि ग्रन्थ में संगृहीत आध्यात्मिक रंगों से परिपूर्ण बाईस वारों का उल्लेख किया है। [2] गुरुनानक ने माझ, आसा एवं मलार शीर्षक तीन वारों की रचना की। गुरु अमरदास ने गूजरी, मुही, रामकली और मारु - चार वारों की रचना की। गुरुरामदास ने श्रीराग, गउड़ी, विहागड़ा, बडहंस सोरठि, बिलावल, सारंग एवं कानड़ा - आठ वारों की रचना की। गुरुअर्जुन देव ने गउड़ी, गूजरी, जैतसिरी, रामकली, मारु एवं

1. *आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध - डॉ0 हरीश, पृष्ठ 404*
2. *गुरुगोविन्द सिंह और पंजाब का हिन्दी वीर साहित्य - पृष्ठ 19*

वसंत – छह वारों की रचना की। गुरु अर्जुन देव जी ने पउड़ियों के साथ श्लोक अंकित कर नया रूप दिया है। गुरुवारों की विशेषता यह है कि इनमें सार श्लोक में निहित होता है तथा उसकी व्याख्या पउड़ी में रहती है।

यह बड़े सुखद आश्चर्य की बात है कि श्री चन्द्र वाणी में संकर की वार रागआनन्द की वार तथा राग बिलावल की बार नामक तीन वारें श्लोक तथा पऊड़ी के साथ उपलब्ध होती है। गुरु अर्जुन देव जी ने भी इसी शैली में अपनी बातें कही हैं। इनकी बार– रचना अनूठी है।

संकर की वार से एक उदाहरण लीजिए –

श्लोक : रंग मजीठी गुरुमुखी सूर्य चढ़ै उमंग,
तन्द–तन्द महि रवि रह्या सिरदे वै अंग संग,
धड़धड़ केरी दोस्ती सिर सिर संग सुहाय,
गुरु सिख सच्ची आशकी तजि नहीं कतहूँ जाय ,
सिर दित्ता गुरु अपने सत्गुरु भी सिर दीन,
एको एकी जापणे पीसे पीस महीन ।

पौड़ी : रंगण रंगे एक न दूजा जाणया,
दुख सुख भाणे विच सहज समाणया ,
प्रभु प्रीतम दरबार सिरधड़ लाणया,
दूजा थांऊ न होय कदम टिकाणया ,
ज्यों रखे त्यों राख आपण भाणया,
श्री चन्द्र कुरबान गुरुमुख राणया ।

राग आनंद की वार से भी एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है –

श्लोक : स्वाति बूंद कहुपाय कै सीप धंसै घर माहिं,
मरियां मोती निकस है हरि हरि नाम रमाहिं ,
नाम रमै नहि निकस है, लगै समाधि अगाध,
राम सुधा जब पाइयै तब मरणो साध ,

मरिये बिन जीवन नहीं, जीवन मरणे होय,
राम राम में रम रहै, रमणो जानै सोय ।

पौड़ी : नारायण समुहाय न पाछै परतीये,
जीवन पदवी पाय बारी मरतीये,
सन्तन सैन मझार भरीये भरतीये,
जीवन मर वै संग सगाई शरतीये,
पहले सीस उतार आपन करतीये,
पाये प्रभु दरबार रचाये नरतीये,
एको एक आधार दूजा हरतीये,
श्री चन्द्र हरि रंग रचावन ररतीये ।

इसके अतिरिक्त नाथ परम्परा में पक्ष, मास, बार, तिथि तथा वर्णमाला शीर्षक से लिखने की परम्परा रही है। गोरख बाणी में इस शैली की रचनाएँ संकलित हैं। श्री चन्द्र जी ने सिद्धान्त सागर में इन शीर्षकों से भी काव्य रचना की है। नाथ बानी, सिद्धबानी तथा कबीर बानी की तरह उन्होंने हठयोग के पशु, पक्षी, पुष्प, नक्षत्र, दिन-रात, गृहस्थ सम्बन्ध तथा संख्यावाचक क्लिष्ट प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया। यहाँ बारहमासा तथा षट्ऋतु वर्णन के कुछ भावपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत कर श्री चन्द्र जी की रागात्मिका संवेदना को उद्घाटित करते हैं। यह बारहमासा चैत से प्रारंभ होता है, क्योंकि भारतीय परम्परा में नव वर्ष का प्रारंभ चैत शुक्ला प्रतिपदा से माना गया है। सूफी कवि बारहमासा आषाढ़ से प्रारंभ करते हैं क्योंकि वर्षाकाल उद्दीपन के लिए अधिक उपयोगी माना गया है। गार्हस्थिक प्रेम की सान्द्रता तथा लोक जीवन की यथार्थता यहाँ साधना की आग में तचकर और प्रभावी बन पड़े हैं। सावन का वर्णन लीजिए–

सावन जल घन बरसाया जीव जंतु सरसाये राम,
चहुँदिशि नर आनंदमय धान जमाये राम,
धान जमाये आनंद छाये गोधन चढ़ी खुमारी,
हरियावलि घर मई सवाई शांत बुठी नर नारी,

पाक खरीब रब्बी की आशा धर्म कर्म मन भाए,
श्री चन्द्र सावन सर पूरे जल थल साधु समाए ।

माघ का वर्णन करते हुए कवि ने त्रिवेणी स्नान का शिलष्ट प्रयोग किया है। इस प्रयुक्ति में इड़ा पिंगला सुषुम्ना रूप त्रिवेणी स्नान तथा प्रयाग स्थित त्रिवेणी स्नान का संश्लिष्ट संकेत है –

माघ प्रयाग नहाये संतन संग पुनीता राम,
वेणी पाप हए यश कीरति गीता राम ।
कीरति गीता परम पुनीता नाम निधाना पाया,
माया मोह उपाधि विसर जी ब्रह्म समाज समाया ।
दुविधा दुरमति कूड़ विनासी काम क्रोध लोभ जीता,
श्री चन्द्र गुरु वेणी न्हाते राज्य स्वर्ग का लीता ।।

षट्ऋतुवर्णन बसंत से प्रारंभ किया गया है तथा समाप्ति शिशिर वर्णन से कराई गई है। जीवन का प्रारंभ वसंत है तथा अंत शिशिर द्वारा उपमित किया गया है। जीवन की क्षणभंगुरता की व्यंजना ही षट्ऋतु वर्णन का अभिप्रेत है –

पख दिन मास ऋतु संवत अनंत गए,
श्री चन्द्र शुद्ध नाहि आयु अंत पाई है ।

वर्षा ऋतु का वर्णन मनोहारी है –

प्रावृट वारिद वर्षा बन सरसाने,
तड़िता तड़ित औ बलाक पंत सोहती ।
वाम मिलि गावत झुलावत चण्डोल दोल,
पति के आगम को स्वकीया पंथ जोहती ।
नाचत मयूर भूर कूकत सरूर स्वर,
गावत मल्हार मेघ गन्धन सो बोहती ।
श्री चन्द्र गुरु वाक्य काक जो बरवानै उड़े,
पति प्रभु पाय तें आनंद मुख मोहिती ।।

सिद्धान्तसागर में पहला बारहमाहा राग रामकली में तथा दूसरा बारहमाहा राग बिलावल में लिखा गया संकलित है। इसका मार्गशीर्ष वर्णन देखिए-

मार्गशीर्ष हरि जापीयै संत चरण संग लाग,
मृगसिर अमृत संचया बिनसै कालख दाग ।
जलन बुझी सीतल भये कामिनी बिझवी आगि,
अन्तर चानण होया बलया ज्ञान चिराग ।
पंथ सुहावा गुरुमुखी गुण गावत बैराग,
सिंह अज्ञान दहाड़या उबरे बन ते भाग ।
पंच चोर घर तज गए गुरु पुकारे जाग,
शब्द लष्टिका हनि हता अन्तर बैठा नाग ।
गुरु प्रसादी प्रगटया श्रीचन्द्र सिर भाग,
मार्ग सिर हिम उरझरी मंगल अनंद सुहाग ।।

पंच चोर से तात्पर्य काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह से है। नाग से तात्पर्य अहंकार से है। गुरु का सबद ही लाठी है। इसी प्रकार कार्तिक स्नान का प्रतीकात्मक सौन्दर्य लीजिए-

कतक कर्म कमाइयै प्रातः न्हावण नीर,
निर्मल कायां उज्जली हरि जपीयै मन धीर ।
अगिनि निवारी कामिनी राम नाम रम सीर,
दुर्मति दुरति विनास भये हउमैं निवरी पीर ।
दीवा हरि हरि नाम का चानण लहिआ शरीर ।
सति गुरु बाले नहिं बुझहिं नाहिन लागै तीर ।
दरगाह सदा सुहावणे होत नहीं दिलगीर ।
गुरुशब्दी मुख उज्जला जप तप गहिर गंभीर ।
सुच साचा धन संचया श्रीचन्द्र लहि खीर ।
कत्तक दुर्मति नाश ह्वै दुर्मति डारी चीर ।।

कत्तक का प्रयोग यहाँ कर्तृक या काटने वाले अर्थ में किया गया है। दुर्मति को चीरने का कार्य उज्ज्वल कर्म की कर्तरि या कैंची ही कर

सकती है। हरि नाम का दीपक जल उठा है, हृदयाकाश की अँधेरी छँट गई है। तीर या तीरगी भी इसे बुझा नहीं सकती। सद्‌गुरु ने यह हरिनाम का दीपक जला कर दिया है। गुरु शब्द से मुख उज्ज्वल हो उठा है। निर्मल मन से जप हो रहा है। परम पद या परमेश्वर का स्थान दमकने लगा है। इस परमपद के लिए '*संत महल*' शब्द का प्रयोग हुआ है। '*सचुखण्ड*' की तरह है '*संतमहल*' जिसके प्रकाशित होने पर आवागमन छूट जाता है-

संत महल प्रकाशया बहुरि न आवन जान;
माघ सु परम पवित्र मन सतिगुरु शब्द पछान ।

कार्तिक, माघ आदि मासों में सूर्योदय से पूर्व स्नान कर पुण्य अर्जित करने की परम्परा पौराणिक है। स्कन्दपुराण इसका समर्थन करता है। श्रीचन्द्र जी ने इसीलिए यह वर्णन किया है।

★ ★ ★ ★

सप्तवार वर्णन

सप्तवार वर्णन अष्टपदी में किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक दिन शुभ है यदि परमेश्वर का नाम स्मरण होता हो। गोविन्द के नाम से विहीन दिवस अमंगल है, अशुभ है। कहा भी गया है-

विपदोनैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः,
विपदं विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ।

अर्थात् विपत्ति और सम्पत्ति या सुख विषयक विचार व्यर्थ हैं, भगवान् के नाम का विस्मृत हो जाना ही विपत्ति है और नारायण के नाम की स्मृति का बना रहना ही सुख सम्पत्ति है। तुलसी दास जी का भी कथन है-

कह हनुमंत विपति प्रभु सोई, जब तब सुमिरन भजन न होई ।

श्रीचन्द्र जी का भी कथन है-

सभे बार सुहावणे सति गुरु शरणाई ।
कालख माया ऊतरी गुरु ज्ञान दिढ़ाई ।
गुण गावत गोविन्द के सद सूख सभाई ।
श्रीचन्द्र नरहरि जपै दिन रैण सुहाई ।।

आदित्यवार को वह भक्ति का संदेश वाहक, सोमवार के अहंकार निवारक, मंगल को आत्म पहचान का सूचक, बुध को सद्बुद्धि का प्रेरक, बृहस्पति को गुरुनिष्ठा का सूचक, शुक्र को कर्मफल मोचक तथा शनि को अष्ट ज्वर एवं विपत्ति निवारक के रूप में वर्णित किया है। दिन-रात के रूप में राग बिलावल अष्टपदी की रचना हुई है। दिन को अश्याम अर्थात् पिंगला और रात को श्याम या इड़ा के रूप में रेखांकित किया है। एक सत प्रधान है और दूसरी तम प्रधान। एक गंगा है तो दूसरी यमुना। एक पराविद्या है तो दूसरी अपरा। उल्लेख के माध्यम से वर्णन देखिए-

भज नारायण प्यारिया सफल होंहि दिनराती,
श्याम अश्याम दुभाग करि सीव अखर प्रभाती ।
सत तम दोनों जातियां देव दैत्य किय भाऊ,
इड़ा पिंगला धार महिं गंगा यमुन बहाऊ ।
अपरा परा अनन्त कहि भिद्य अभिद्य बरवान,
निद्रा अपर सुखोपती (सुषुप्ति) जल-अग्नी संधान ।।

यहाँ शकुन शास्त्र के उस मत का खण्डन है कि शुभ कार्य के लिए कुछ विशेष दिन निर्धारित हैं अतः कार्य की सफलता के लिए निर्धारित दिनों का ही चयन करना चाहिए। उदाहरण के लिए मंगल को नई दुकान नहीं खोलनी चाहिए। नौकरी के लिए सोम, बुध, बृहस्पति तथा शुक्रवार शुभ हैं। नालिश अर्जी के लिए मंगल तथा शनि शुभ हैं। श्रीचन्द्र जी भक्त के लिए सभी दिन शुभ मानते हैं।

पक्ष वर्णन

मास में दो पक्ष होते हैं- 1. कृष्ण पक्ष तथा 2. शुक्ल पक्ष। गीता में कृष्ण ने कृष्ण मार्ग से जाने वाले पुण्यात्माओं के स्वर्गादि लोकों को भोगने के बाद लौटने की बात कही है। जो जीव शुक्ल मार्ग से ब्रह्मा जी के लोक में जाते हैं, वे वहाँ रहकर महाप्रलय के समय ब्रह्माजी के साथ ही भगवान् में लीन हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्,
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मब्रह्मविदोजनाः,
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्,
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।

शुक्ल पक्ष का तात्पर्य शुक्ल कर्म या पुण्य से है तथा कृष्ण पक्ष का अर्थ कृष्ण कर्म या सकाम कर्म या स्वर्गादि की प्राप्ति रूप कामना से है। श्रीचन्द्र कहते हैं-

सतिगुरु मिलिए शुकल होय उज्जल कर्म कमाया,
नाम दान इन्सान दृढ़ त्रैविधि चूकै माया ।
आपण कीता पाईयै कर्म कुकर्मी वेश,
गुण टुकड़े हित भौंकया दर बैठा दरवेश ।
गुरुमुखस्यों मनमुख मिलै उत्तम पद लहि सोय,
उज्जल काला परखीयै हरि दरगाहे लोय ।।

★ ★ ★ ★

वर्णमाला

वर्णमाला राग बिलावल में श्लोक और अष्टपदी के साँचे में बाँधी हुई रचना है। अष्टपदी में सोलह पंक्तियाँ तथा श्लोक (दोहा) में दो पंक्तियाँ होती हैं। 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक के अक्षरों से क्रमशः श्लोक तथा अष्टपदी की रचना हुई है। यहाँ भी सिद्धान्त वाक्य श्लोक

है तथा अष्टपदी में उसका विस्तार है, जैसे-

श्लोक : आदि अनादि अगम अज अविनाशी अनगंज,
अनन्त अपार अगोचरा श्रीचन्द्र अनरंज ।

अष्टपदी :

आदि पुरुष सब अन्तर्यामी, घट घट व्यापक अखंड अधामी ।
अविनाशी प्रतिपालन करता, अलष देव दुख दूखन हरता ।
जिनि जिनि ध्याया तिनि तिनि पाया, अनुभव एक अगोचर आया ।
आप न जाप सदा सदसंगी, तीन काल इकरस सर्वंगी ।
अगाध अबाध अनवद्य अव्याधा, आधि उपाधि विनासत साधा ।
अरूप अरंग अभेख अरेखा, एक अनेक एक अवरेखा ।
अनन्त अपार अकाल अपाला, अनाम अकाम अधाम अजाला ।
आदि अन्त जिंह पार न वारा, सर्व ठौर जिंह सम बरतारा ।
सब ते ऊंच सर्व ते नीचा, जां के भीतर खीच न भीचा ।
आसत नासत बीच समाना, सर्वलोक पूरण भगवाना ।
अगुणी गुणी जीव का दाता, आदि युगादि अनंद समाता ।
अभेद अछेद अखेद अदेव, निर्लेपी व्यापी निर्भेव ।
अकाल अघाल त्रिगुण उपजायक, दुष्टदैत्य दोषी गण घायक।
साध संग आपन महि बैसा, गुरु बरताये तैसो जैसा ।
मन बस आवै संत संगारे, अपरंपर उर अन्तर धारै ।
अमाय अकाय सदा लिवलाय, श्रीचन्द्र तिस माहि समाय ।।

श्रुति में ब्रह्म को '*स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्*' कहा गया है। उक्त अष्टपदी इस भाव का विचार करती हैं। वर्णमाला में वारकरी सम्प्रदाय द्वारा स्थापित भगवन्नाम '*बीठला*' का प्रयोग नामदेव आदि संतों की परम्परा की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। 'ध' से प्रारम्भ होने वाला श्लोक लीजिए-

धरणीधर भगवान बीठला सब घट रह्यो व्याप,
धार मना शुभ गति लहहिं श्रीचन्द्र हरि जाप ।

'म' से मनमोहन मुकुन्द, 'र' से राम, 'व' से वासुदेव, 'श' से शंकर, 'ष' से षटचक्र, षट्शास्त्र 'से' से संतसमागम, 'हे' से हरि, 'त्र' से त्राण और शरणागति, 'ज्ञ' से आकाश गमन, प्राणायाम साधना तथा निर्विकल्प समाधि की चर्चा मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य है। वर्णमाला का समापन इस सिद्धान्त-वाक्य से होता है-

आदि अन्त सब एक रस सर्वथान भरपूर,
गुण निधान आनंद धन श्रीचन्द्र सब मूर ।

★ ★ ★ ★

काव्यत्व

ज्ञान तथा योग प्रधान होने के कारण सिद्धान्तसागर में दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता देखी जाती है। यही कारण है कि पंजाबी, व्रजी तथा खड़ी बोली का सम्मिश्रण उनकी भाषा में जहाँ संत परम्परा की झाँकी प्रस्तुत करता है, वहाँ उसमें बौद्धिकता के कारण शास्त्रीयता का भी आग्रह देखा जा सकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुरता में मिलता है। काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग खुसरो के बाद श्रीचन्द्र जी ने ही किया। मात्रा शास्त्र की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। सिद्धान्तसागर में भी खड़ी बोली का प्रभाव पद-पद पर दिखाई देता है-

सतगुरु पूरे राख लिया,
जन्म जन्म का विछुड़ा प्राणी पार ब्रह्म संग मेल दिया ।

ब्रज तथा पंजाबी मिश्रित प्रयोग भी देखने योग्य हैं-

दसमीं दसवैं द्वार समाये सति गुरु भये सहाई,
दस अवतारी हरि भव पायो आपन आप जनाई ।

• • •

हवै है सोय विधाता रची दूजी अवर न भाँति,

जोय करावन सोई करन हुकमहिं झूलै पात ।

• • •

हे जन मेरे प्यारिया विचहुँ भरम गवाए जीऊ,
तेरे हत्थ वसि कछु नहिं जाहीं जित्यै लै जाए जीऊ ।

• • •

पति भेटहुं पत रहहिं हमारी ।
जन्म मरण के संकट मेटहुं बहुड़ि पावहु भवजल बारी । ।।रहाऊ।।

संस्कृत निष्ठ शब्दावली अवलोकनीय है-

कंदर्प पावक हृदय दग्ध जन, कृपा वृष्टि कर सीतलताई ।
घृत सम मज्जा अग्नि जलाय ।
परम धाम अविचल नित्य प्राप्ति ।।

भाव प्रधान रागात्मिका भाषा लिखने में श्रीचन्द्र जी सिद्ध हस्त हैं। हृदय और बुद्धि का मणिकांचन संयोग उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। यद्यपि संतकवियों में उन्होंने केवल कबीर तथा रविदास जी का उल्लेख किया है पर गुरुवाणी और उसमें संकलित नामदेव आदि संतों की वाणी से भी वह भली भाँति परिचित हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत तथा संत वाणी के वह मर्मज्ञ हैं। उन्होंने संतकाव्य की आधारभूमि का सम्बन्ध वेद से जोड़ कर अनूठा कार्य किया। ज्ञान-योगधारा की शुष्कता इसीलिए उनमें नहीं मिलती। प्रियतम के दर्शन के बिना शृंगार धारण करने वाली सुन्दरी का महत्त्व ही क्या है? यदि परमेश्वर की प्राप्ति की तड़प कविता में न हो तो वह काव्य कोरा वाणी विलास ही रहेगा। परमेश्वर विहीन जीवात्मा ऐसी ही अभागी सुंदरी है, उसका शृंगार उसका भार बन गया है-

अंग राग तन साज कै, नयनी अंजन अंजै,
मांगी पाय सिन्धूर को सिहजा शुभ गंजै ।
मल मल न्हावै साबुनी कापड़ पट साजै ।

पान सुपारी मुंह डारै मस्तक बिन्दु राजै । ।रहाऊ।।
सुगन्ध कपूर स धूप कै फूलन की माला,
लेपण लेप सवारया मंदिर बड़ आला ।
चन्द्रमुखी रसनामधुर गृह काज सियाणी,
श्रीचन्द्र इक कन्त बिनु निसि दूख विहाणी ।।

गुरु द्वारा उपदिष्ट बिरहिणी जीवात्मा जब पूर्णतया प्रेम की आग में तच जाती है। तब उसकी जिक्र साधना तथा स्मरण साधना शुरु होती है। हरि से लगी हुई प्रीति उसे एक क्षण स्थिर नहीं रहने देती, वह पुकार उठती है- उसे अपनी लघुता और प्रिय की गुरुता का बोध सालने लगता है-

मोहना तुझ बिनु खरी उडीणी ।
गहि बहियां निज उर सों लाई बहुरि तजी क्यों वीणी । ।रहाऊ।।
तू अति दीरध सीस अकासी मैं मधुरी अति हीणी,
उत्तम जाति तुम्हारी प्रीतम हउ सभ विधि ते छीणी ।
लम्बी दृष्टि पितामह ऊपर धरणि पिखंती झीणी,
चालन की कछु सकति मोमहि दूर गमन तुम कीनी ।
करहु कृपा निज दर्शन दीजो उर नहिं राखो मीणी,
रिकत न कोऊ तुम ते गमन्यो श्रीचन्द्र मैं रीणी ।।

जगत् की असारता तथा जीवात्मा की अनित्यता का चित्रण वह निर्वेद की सिद्धि के लिए करते हैं। '*हे मन प्यारे साजना*' तथा '*वणजारे मन प्यारिया*' शीर्षक रचनाओं में उन्होंने शम की भावना को जीवंत बना दिया है। जीवात्मा बणजारे की तरह बनज करता है और फिर बनज कर चला जाता है, लौट कर नहीं आता। जीवात्मा का सारा व्यवहार बनजारे की ही तरह है-

चलणहारा जगत सब नहि किसही मुकाम,
गोयल आया गोयली रूंधहि बहु ठाम ।
दिन दोय चार बिताय कै उठि चलहि तमाम ।

झूठ पसार पसारिआ नाहीं किंह काम । ।।रहाऊ।।
बणजारा जग आया लाहा हरि नाम,
खेप अपनी तां लहहि थिर संतन ग्राम ।
झूठा बणज बणज कर होइये बदनाम,
साचा सौदा श्रीचन्द्र इक सतगुरु धाम ।।

कबीर वाणी में तो '*चितावणी कौ अंग*' नाम से अचेत जीव को प्रबोध देने के लिए बहुत सी सखियाँ उपलब्ध हैं। श्रीचन्द्र जी ने भी ऐसी चेतावनी लिख कर वैराग्य भाव की सृष्टि की है-

दिन पल घड़ी मुहूर्तन आयू बिनसावै,
केस गहे कर काल ने निसि दिन फहरावै ।

जीवन है दिन चार ।
अजहुं समझ मन माहि नर भज मुख नाम मुरार । ।।रहाऊ।।
संग न काहू जाय है कंचन अरु रुपा,
धन व्यर्थ संचन किया सहि सीत अरु धूपा ।
जिन कारण दुख सहि धना रचि ऊंच अटारी,
मिलि सगरै लै जाहि हैं मरघट असवारी ।
सोच समझ उर पेखलै कोऊ नहिं तेरा,
श्रीचन्द्र आखर भवहि जंगल मँह डेरा ।।

• • •

यह जग नहीं मुकाम ।
मनु नल अज दिलीप युधिष्ठिर गये सकल तज धाम । ।।रहाऊ।।
बारह योजन छत्र झूलहि चक्रवर्ती बड़ होय,
ग्यारह अक्षौहिणी सेन संग महि मढ़ी न दिसिहै कोय ।
देव लोक जीत्यौ दै दुन्दुभि अमृत कर महि पाय,
फैलकुश सुत शाह सिकन्दर रहण न पायौ थांय ।
योगी यती तपी ब्रह्मचारी बादशाह सुलताना,
श्रीचन्द्र उठ अग्र सिधाये रह्यो न नाम निशाना ।।

इस पर भी यह जीवात्मा भोगों में फँसा रहता है, मर्कट, नलिनी का दाना, गर्दभ, मृग, पतंग, भ्रमर, हाथी, मछली, गंधर्व नगर, तमाशा, मृगतृष्णा आदि के उदाहरण देकर आचार्य श्री ने जीवात्मा की अज्ञान दशा का प्रभावी चित्रण किया है। दृष्टान्त के माध्यम से वर्णित बंधन और आसक्ति रूप वस्तु की व्यंजना इन पदों में सुन्दर ढंग से हुई है-

कपि न त्यागै चनन को सब आयु दुखारा,
नलिनी दाना चाहकर शुक पिंजर डारा ।
मोह कुटुम्ब की फाँसी फाँस ।
गर्दभ भारै लदया डंडा पीठ सहास । ।।रहाऊ।।

• • •

करत करत श्रम थक परा आसा नहिं पूरी,
लाख कोटि अरब खरब ते रहू अधूरी ।
ज्यों ज्यों आवहि द्रव्य कर त्यों आधिकी तृष्णा,
इन्द्र राज कोउ पाय कै पुन चाहै जिशना ।
भोग भोग के खप रह्या अगानि अधिकाई,
श्रीचन्द्र भज रामनाम सुख लहहिं महाई ।।

• • •

खाही भंभल भूसे मनसुख लख चौरासीह फेरे,
तेली संदा बलद न पावै अन्त कोल्हूं के घेरे ।
गंधर्व नगरी को धाया कहु किंह कंचन पाया,
श्रीचन्द्र कल्लर जल हित मृगमनि प्राण गँवाया ।।

• • •

पवन अकासै गंढ़ चलाई अद्भुत खेल रचाया,
तन मंदिर मारुत के थंभै इत उत विचरत धाया ।
आवण जाणा थिरत न काहूँ जीवन एक लखावै,
श्रीचन्द्र जादूगर जादू रचि रचि कै बिरमावै ।।

• • •

चक्रघुमियार भंवाया इक एक टिकाऊ ।
तेली संदे बलद कउ फेरा हट बाऊं ।
नलिनी पाउन पकड़ीयां सुक कउ छुड़वाऊं ।
तेलक शाखा मृग गृहित अब रैण मुकाऊं ।
झिल्ली कंटक बाँधिया किल्ली उचवाऊं ।।

• • •

मृग काले लग वाड़ीये गल फाही पाई,
लोभ मांस को खाण हेत मंछि कुंड फहाई ।
बेधिया रस फुल वासनै भवरै मृत्यु आई ।
गिल्ली रोड़ी चख कै मक्खी पछताई । ।।रहाऊ।।
दो दाणै नलिनी पिखै सूए की धाई,
चणक लागि कपि नहि छुटहि गृह नाच नचाई ।
कागज हथिनी पेख कै गज कुंड सहाई,
श्रीचन्द्र रस कस विधे मनमुख दुःख जाई ।।

• • •

गुणमय, दोषमय, पाप मय, पुण्यमय, सुखमय, दुखमय तथा नित्य-अनित्य में से सार की पहचान विरल संत ही कर पाते हैं, दृष्टान्तों द्वारा श्रीचन्द्र जी ने इस स्थिति का सटीक चित्रण किया है-

रत्न जवाहर माणका विरला पहिचानै,
पुहपन अनिक सुगन्धियां गन्धी कै खानै ।
नाग समाणै चन्दनै रहहिं लपटानै ।
कमलवास भँवरा लहै जिन्दड़ी करहानै । ।।रहाऊ।।
दीपक देख पतंगड़ा भुलजात टिकानै,
पाणी मीन पछाणया निज जीवन दानै ।
धरती गाहक जाणया पाये खलिहानै,
श्रीचन्द्र साधू जना गोविंद गुण जानै ।।

कविता का गुण है उसका असाधारण कथन या वक्रतापूर्ण उक्ति होना।

रूपक निर्माण तथा विनोक्तिपूर्ण कथनों से कलात्मक निर्माण की भी अपूर्व क्षमता है कवि में। शब्द सुधा में संगृहीत एक रूपक लीजिए-

आत्म अहेड़ी घण बन आयो ।
सबद की धनुही मिरग मनु बेंध्यो हाँका नादु लगायो ।
माया भीलड़ी भई जोगणी भगति प्रपत्ति जिवायो ।
अपथ पंथ तजि निरभौ नगरी ऊरधि हाट सजायो ।
चित मृग छाल नाद की सिंगी करब बिसाहुण लायो ।
चेतनु कोटवाल हकु माँगे चोर दुआर लखायो ।
त्रिकुटी कुंभ दाखमद भरिला ताली सुरत जमायो ।
श्रीचंद भवाटवी जनि भरमो गुरुप्रसादि सचु पायो ।।

अर्थात् आत्म ज्ञानी रूपी शिकारी संसार रूपी घने जंगल में आया हुआ है। निरन्तर आत्मदर्शन का अभ्यासी जब इस एक कर्म में लीन हो जाता है, तब उसे निषिद्धकर्म भोगवासनादि लिप्त नहीं करते। शब्द के धनुष से मन रूपी मृग को बेंध दिया है। दिव्यनाद का हाँका लगाकर मन रूपी हिरण को पकड़ा गया था। माया रूपी भीलनी मुझसे विरत हो गई है। भक्ति और शरणागति ने जीवात्मा को उसके प्रभाव से बचा लिया है। संसार का रास्ता छूट गया है। निर्भय ब्रह्म की नगरी में उसका प्रवेश हो गया है। सहस्त्रार चक्र की दुकान खुल गई है। चित्त की मृगछाला, नाद की सिंगी का यहाँ बिसाहुणा या व्यापार हो रहा है। मात्रा में चीत चितम्बर मन मृग छाला कहा भी गया है। चेतन साक्षी कोटपाल की तरह अपना हिस्सा माँग रहा है, उसने चोर दरवाजा (ब्रह्मरन्ध्र) दिखा दिया है। त्रिकुटी के घड़े में ध्यान की मदिरा भरी है। सुरति उसे पीकर समाधि में पहुँच गई है। श्रीचन्द्र जी कहते हैं कि मेरे मन रूपी शिकारी तू इस संसार के जंगल में मत भटक जाना। इसमें रास्ता मिलना कठिन है। वास्तव में सत्य की प्राप्ति यदि हो सकती है तो केवल गुरुकृपा से ही। गोरख ने भी कहा है- अमृत दाखी भाटी भरिआ। भागवत् में भी जड़ भरत रहूगण को भवाटवी का उपदेश समझाते हुए कहते हैं कि जीव

समूह नाना प्रकार के कर्मों में भटकता-भटकता संसार रूप जंगल में पहुँच जाता है, जहाँ उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती।

> दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो,
> रजस्तमः सत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
> स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्,
> भवाटवीं याति न शर्मविन्दति ।।

कुछ अन्य उदाहरण लें –

(1) माया निसि अंधियार अमावस सतिगुरु शब्द चन्द्र परगास ।

(2) निशा अविद्या घनी अँधेरी, दिनपति उदय भये दोउ जाम ।
भांडा कच्चा ह्वै है पक्का भठे सह पावक की घाम ।।

(3) परम चलूला सतगुरु चाढ्या दरगह प्रभु की आवहि काम ।
जन्म मरण की पाण उतार, रंगणी भगती डोब्यो चार ।
धूप तपस्या खूब सुकायो, नाम चोलना पाय बचायो ।
संत सहेली सावन आया, आनंद मंगल झूला झुलाया ।।

(4) प्रभु जी महि तुम केवल ओटा ।
चौपड़ चार चुसार चतुर दिसि भव नर भ्रमतो गोटा । ।रहाऊ।।
परै न दाव पौबारह सतगुरु तिनकाने व्यभिचारा रे,
अव्याकृत संमुख प्रतिखेलक तांते सारहि जाउंमारा रे ।
राम नाम की एहो बारी जो करि आवहिं हाथों रे,
तब पहुँच पाए निर्वाणहिं निर्भव होवहिं साथों रे ।।

(5) महाबली सूरे हरि संत ।
पंचरिपुगढ़ जीत कै गदगद विकसंत । ।रह[illegible]
राग द्वेष वश मोहकर ब्रह्म फांसी डा[illegible]
काम क्रोध की सैन व्यूह भगति शक्ति प्रहारी ।
ब्रह्म लक्ख्य नेजा चलै आशा त्रिख मारे,
दुन्दुभि ध्वनि ओंकार की हरि शत्रु विकारे ।
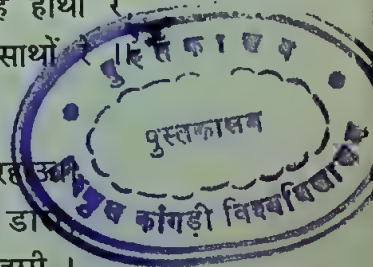
हउमैं ममता भागणी तसकर रिपु नारी,
पारब्रह्म गढ़ फतहि कर श्री चन्द्र हुलारी ।।

(6) अज्ञान अँधेरा पसरिया निसिकाल मंझार ।
चंद ज्ञान को होत नहिं कतहू चमकार ।।

(7) करणी धेनु सबेरड़ी, दूध ध्यान हरिराय ।
लग संतोख तृप्तिए भूख प्यासा माय ।
प्रेम बिरछ पतिपाया चित चेतत गहि छांय ।
पाप धूप ते जलत जन शांत शील लहि थांय ।।

(8) गुरु अविनाशी आया दै धर्म नगारा,
शब्दबाण धन बुद्धि ते कीनयो प्रहारा ।
पंच दूतन को बेधया रणभूमि मंझारां ।
पंची इमदादी पड़े तन सुधी बिसारा । ।।रहाऊ।।
शक्ति गवाई शक्ति की रवग दियो बिडारा,
तम अज्ञान नासयों रविहि उदयो भिनसारा ।
विजय भई तिंहु लोक महिं भये जय जयकारा,
श्री चन्द्र कलि घोर मंहि होयो उजियारा ।।

(9) नाम की पाखर पवन का घोड़ा, निहकर्म जीन तत्व का जोड़ा ।
निर्गुण ढाल गुरु शब्द कमान, अकल संजोह प्रीत के बान ।
अकल की बरछी गुणों की कटारी, मन को मार करो असवारी।।

(10) नाच अखाड़े भीतर पाया, भुज ठोकत द्वैताला ।
पहलवान पँच मार पछाड़े, कै कै दाव निराला ।
बजन ढोल ढमके घोरी, चहुं धाई मललत्थे ।
फेरी फेर फिरै गर्जाई, करि करि हत्थ पलत्थे ।
गुरु अविनाशी थापी दित्ती, उतरयो आय ढढ़ोटा ।
दाव घाव कर पाव जमायो, यत का बाँध लंगोटा ।
बांह पकड़ घर काम गिरायो, द्विबी मोह बगाया ।
ऊच दुआला श्री चन्द्र का जगत खेत लहराया ।।

(11) फारत वारिद तम भये, तड़िता ज्ञान कड़ाक ।
मग पायो हरि नाम का, श्री चन्द्र बनधाक ।।

(12) जंगल जग दुख कंट वृक्ष मन अंधेर मग नाहि ।
चिन्ता बाघ डरावणा हरि बिन कापहि प्राहि ।।

(13) सुत्ता मन उठ जागिया निसि मोह विहानी ।
ऊंची ध्वनिकन्नी पड़ी संखी शब्दी बानी ।
ज्ञान सूर्य प्रकाश करि तम गया पलाई ।
उर बड़ संशय मिट गई हरि राम दुहाई ।।

(14) दुविधा नदी दुहेलड़ी मन बुद्धि किनारे,
निश्चय तरुवर मूल स्यों युत वेग उखारे।

★ ★ ★ ★

उलट बाँसी

संतकाव्य शैली में उलट बाँसी कहने की भी परम्परा रही है। सिद्धों, नाथों की बानी में ही नहीं वैदिक काव्य में भी उलट बाँसियां मिलती हैं। श्री चन्द्र जी ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है गोरखनाथ ने इस गूढ़ वाणी को '*उल्टी चर्चा*' कहा है। कबीर उलट वेद कहते हैं।

है कोई जगत गुरु ग्यानी उलट वेद जो बूझे,
पाणी में अगिनी जरै, अँधेरे को सूझै ।

विरोध मूलक उक्तियों या साम्प्रदायिक प्रतीकों के माध्यम से गुह्य ज्ञान और साधना को प्रकाशित करने तथा उन्हें अनधिकारियों से बचाने के लिए ही संतों ने इस शैली का उपयोग किया है तभी तो तुलसी साहब कहते हैं –

उलटी चाल संत की बोली, बिन परचै को पर्दा खोली,
अस उलटी उन कही अगूढ़ा, पंडित भेष न जानें मूढ़ा ।

इन कथनों में जहाँ अभिधेय अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार रहता है, वहाँ अद्भुत् तत्व कथन की विवक्षा भी होती है, असंगति, अतिशयता, विरोधाभास तथा योगानुभूति इनके मुख्य तत्व होते हैं। कबीर का एक पद देखिये –

कैसे नगर करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचखन नारी ।
बैल बियाय गाई भई बांझ, बछरा दूहैं तीन्यूं सांझ ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।
मूसा खेबट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरुआ ।
नित उठ स्याल स्यंध सूं झूझै, कहैं कबीर कोई बिरला बूझै ।।

श्रीचन्द्र जी भी उलट बाँसी की परम्परा में गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करते हैं पर इस अर्थ को पण्डित भी बिना गुरुकृपा के नहीं प्राप्त कर सकता। सिद्धान्तसागर के कुछ अंश लीजिए –

(1) गरधब नाचै चोला पहिर, हाथी कर तन्ती बहि बहिर,
बैल बजाया बोल मृदंग, कौए गायन तान तरंग ।
कलूभगत के साज बनाए ।
खण्ड लपेटे विष के लड्डुआ समझ बूझकर नरहरखाए
पान लगाय भायानक शेर, बीड़े घीस लियावे ढे़ ।
मंगल गाए मूसी मेल, शंखधनी सू कूरम पे ।
स़से शृंग की शृंगी साज, पूत बांझ की ऊँची ज ।
चींटी पर्वत गई डकार, पाथर लेफ निहाली धार ।
कछुए अचरज बात बनाई, सीत मिटाई अनत। जराई ।
लागै लोभ कलू नरदंभ, श्री चन्द्र धँसि नारक कुंभ ।।

(2) चींटी पेट न अजहूं भरयो, हाथी सकल डकार लयो ।
लीनि डंगोरी पग थरराते, पर्वत मेरु अपार थयो ।।

(3) पंच नदी इक डूमड़ा भरि भरि कंधी ढाहि ।
गहिवर सुक बन लग रहि दावा तरुवर दाहि ।।

(4) जहर प्याला अमृत होवै ब्रह्मणी होय चंडाली ।
अग अंगारै धड़धड़ दमकै फूल बिछाये माली ।।

विनोक्ति के द्वारा भी कवि ने अपने कथन को प्रभावी बनाने की चेष्टा की है। इन कथनों में गति और प्रवाह भी देखने योग्य है –

बिनु अनुराग न सोभई भाई सों भाई ।
बिनु बसंत ऋतु लत्तिका जावत कुंभलाई ।
बिनु चन्द्रमा के यामिनी पग पग डरपाई ।
निर्धन गृह के माहि जन आवन न सुखाई ।
बिनु पंकज सरवर सुभर सोभा न सुहाई ।
बिना भृंग के मालती विरथो गन्धाई ।
बिना कमठ के लच्छ पर नहिं विशिख पुजाई ।
श्री चन्द्र बिनु साधु संग अविगत नर जाई ।
बिन प्राची पिथरी परै नाहिंन भुनसारा ।
बिनु अरविन्द मिलिन्द भी सोभित गुंजारा ।
बिना चाँद नहिं चन्द्रिका कोटिहुं धुवतारा ।
बिनु बेड़ी पावस नदी नहिं होवत पारा ।
नयन बिहूना नहिं लखै रंग रूप अपारा ।
हाथ तुपुक जिंह नहिं गही सरदूल न मारा ।
पग बिनु नाहीं चालणा बिनु कर नहिं कारा ।
गुरु साधु बिन श्री चन्द्र नाहीं हरि द्वारा ।।

विभावना के माध्यम से भी कुछ उक्तियाँ कही गई हैं –

बिन शब्दै कै शब्द हैं बिन दृग दरसाये ।
बिन जिह्वा जो जापियै को जानै नामा ।
बिन नयनन जंह पेरवणा को रूप ललामा ।
बिना श्रवण सुण हर्षई को वरणभिरामा ।
घ्राण बिना जिहं गंध लई को कुन्द सुजामा ।

कर बिन जाहि कमाइयै को ऐसो कामा ।
पग बिन जाही स्पर्श है को वस्तु सुआमा ।
बिन मन को फुरनो जिसहि को मणीयै शामा ।
बिन बुद्धि के बोध जिंह को मासत तामा ।
पार ब्रह्म श्री चन्द्र प्रभु पूरण विश्रामा ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में '*अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्*' विभावना का ही उदाहरण है, ब्रह्म की महिमा का गान करते हुए यहाँ कहा गया है कि वह हाथ पाँव से रहित होता हुआ भी अत्यन्त वेग वाला तथा सबको ग्रहण करने वाला है। नेत्र रहित होकर भी देखता है, श्रोत्र रहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्य वर्ग को जानता है पर उसका जानने वाला कोई नहीं है। उसे यतियों ने सबका आदि कारण, आश्रय स्थल और महान् कहा है, श्री चन्द्र जी उसे पूर्ण विश्राम कहते हैं। तुलसीदास भी '*पायो परम विश्राम*' कहकर इस स्थिति का संकेत करते हैं। हठयोग के परम्परित प्रतीकों का प्रयोग भी प्रायः देखने को मिलता है, जैसे–

उलटिकमल प्रकासिया भंवरा रस लीरां,
बाजै बजे चहुंयुगी हरि भेटया तीरा ।

• • •

संच्च नगारा बाजिया धुनि महाभयारी,
आया तखत अकास ते हूरन परिवारी ।

• • •

गगन मंडल ते ऊतरे घट देवन लीया ।
जोती प्रकासी अन्दरहुं सब चानण थीया ।
दहिदिसि हरियावल धनी मन कमल खिड़ीया ।
अमिय सरोवर साधु संगि दुर्मति विनसीया ।।

• • •

आपन आप ऊपाइयै आकाशी वर फूल,
धनुष चढ़ायो ससे शृंग बाँझ सुतहिं गहि तूल ।

• • •

फन फैलाय फणी सिर ढोरत स्रोत बिहानी बीनहिं साद,
टकटकी बाँध चकोर निहारै ससि रस भाती रंग अल्हाद ।

• • •

कुण्डली छाट भुजंगम ठाढ़ी मेरुदण्ड खिड़की खुलवाई,
ज्योती आले भीतर चमकत गंगा उतर अकासहुं धाई ।

• • •

अन्त में, निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि आचार्य श्रीचन्द्र की वाणी में संत मत के सभी मूल तत्व अपनी कथ्य शैली के साथ उपलब्ध होते हैं। उन्होंने वेद-उपनिषद् के चिन्तन और कथन शैली को तो अपनाया ही है, संतों की शैली का भी निर्वाह किया हैं अपने समय के सभी संतों का पावन स्मरण कर जहाँ उन्होंने हरिनाम की महत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ संतमत के प्रति भी श्रद्धाव्यक्त की है। संतों की वाणी का संकलन अलग बात है और अपनी वाणी में पूर्ववर्ती या सम सामसयिक संतों का उल्लेख अलग बात है। जिन संतों का उल्लेख श्रीचन्द्र जी ने किया है उनकी वाणी गुरुग्रंथ द्वारा भी समादृत है। इस आत्म स्वीकारोक्ति के साथ इस प्रकरण को पूर्ण करते हैं-

इक मन ह्वै जिंह जन चित लायो परिहर अवगुण निखिल विकारा।।रहाऊ।।
कोटि कोटि नीच भये ऊँचे धर्मराज लौं चरण जुहारा,
जगनायक गोविंद ब्रजवल्लभ पावन धरि पावन भंडारा ।
गणका ते को अधमा नारी राम भनत शुक हेतु संवारा,
अजामल विखलीपति पापी गयो प्रभु पुर मुक्त द्वारा ।
सघना, सेन, कबीर सो धन्ना पावन गया रविदास चमारा,
नामदेव छीपा जग जानै श्रीचन्द्र हरि लह्यो द्वारा ।।

षष्ठ अध्याय

मानवतावाद और आचार्य श्रीचन्द्र

आचार्य श्रीचन्द्र निर्गुणधारा के वह प्रमुख संत कवि थे जो स्वामी रामानन्द की तरह ज्ञान-भक्ति की ऐकान्तिक साधना की अपेक्षा लोकाभिमुख सामूहिक साधना को श्रेयस्कर मानते थे। भागवत भक्ति में व्यक्ति के आचरण और शील को महत्त्व दिया गया। प्रह्लाद ने भागवत में कहा था कि प्रायः देवता और मुनि निजी मुक्ति की कामना से एकान्त साधना में लीन रहते हैं, वह मौन धारण कर एकान्त वन-वास करते हैं ताकि समाज से असम्पृक्त रहें, उनमें परार्थनिष्ठा या परमुक्ति का भाव ही उदित नहीं होता।

> प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा ।
> मौनं चरन्ति विजने न परार्थ निष्ठाः ।
> नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको ।
> नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ।।

प्रह्लाद ने भगवान् नृसिंह से प्रार्थना की, वह किसी एक को भी छोड़ कर अकेले मुक्ति की कामना नहीं करते। व्यष्टि हित तथा समष्टि हित में उन्होंने समष्टि हित को ही चुना था। उन्होंने सर्वप्रथम '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' के श्रौत सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया। वह प्राणिमात्र को एक परमतत्त्व की संतान स्वीकार करते थे। उन्होंने धर्म, जाति, वर्ण, रंग और देश के भेद को अवास्तविक तथा कृत्रिम माना। वह प्राणिमात्र की एकता

के हामी थे। हिन्दू समाज अपने वैदिक आदर्शों को छोड़कर उन रूढ़िवादी विश्वासों में ऐसा जकड़ गया था कि वह छिन्न-भिन्न होने के कगार तक पहुँच गया। भारत को धार्मिक सहिष्णुता और विभिन्न उपासना-प्रणालियों का देश कहा जाता है, यहाँ कभी ऐसे धर्मयुद्ध नहीं हुए जैसे ईसाई और इस्लामी देशों में हुए हैं। आर्थिक वैषम्य से प्रताड़ित होते हुए भी इस देश के लोग धर्म को सर्वोपरि मानते रहे। व्यवसाय और धन्धों के आधार पर छोटे बड़े का भेद होते हुए भी धर्म के सूत्र ने उन्हें पिरोए रखा। ईसाई, इस्लाम तथा हिन्दूधर्म के अनुयायी श्रीचन्द्र जी के समय देश में मौजूद थे। इस्लाम इनमें शासक का धर्म था अतः मुख्य टकराव हिन्दू और मुसलमानों के बीच था। हिन्दुओं की दुर्बलता उसके वर्णाश्रम धर्म में देखी जा रही थी। शूद्रों को उनका यथोचित सामाजिक भाग न मिलना ही उन्हें ईसाई तथा मुसलमान होने के लिए बाध्य कर रहा था। शासक की तलवार धर्मान्तरण करा रही थी। कबीर ने हिन्दु और तुर्क की एकराह का उपदेश दिया। समस्त प्राणियों को एक ज्योति से उत्पन्न बताया। देह के स्तर पर भी सबकी एकता प्रतिपादित की-

एक बूंद एक मलमूतर एक चाम एक गूदा,
एक ज्योति ते सब ऊपना कौन बाम्हन कौन सूदा ।

श्रीचन्द्र जी ने वैदिक आधार पर बताया कि समस्त प्राणियों में एक आत्मदेव का निवास है, अतः जहाँ पंचभूतों से निर्मित होने वाले देहों में समानता है, वहाँ आत्मिक स्तर पर भी सब समान हैं। आत्मदृष्टि तथा देह सृष्टि की समानता के बाद असमानता की बात करना अनुचित है-

सव मांहि एको पसरिया दूजा कोई है ना,
क्षत्रिय ब्राह्मण शूद्र वैश्य बौद्धी और जैना,
हिन्दू मूस्लिम पूजई एकै रंग रैना ।

वह हिन्दू-मुसलमान की ही एकता प्रतिपादित नहीं करते। देश के सभी धर्मानुयाइयों की धार्मिक सहिष्णुता की बात भी उठाते हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। स्त्री तथा शूद्रों की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

उबारने में संत एकनाथ का बड़ा योगदान है। संत नामदेव ने उत्तर भारत में विशेष कर पंजाब में आकर यह संदेश दिया। यद्यपि विद्वानों ने आचार्य शंकर के ज्ञान को एक दुरूह पद्धति बताया है पर यह सर्वमान्य तथ्य है कि उनके द्वारा प्रचारित आत्मवाद के सिद्धान्त ने इन सभी संतों को प्रभावित किया। जीव और ब्रह्म की ज्ञानानुभूति के कारण जीव तुच्छ नहीं महान् समझा गया। श्रीचन्द्र जी ने '*सब में वह एक व्यापक है*' - यह सिद्धान्त निश्चित कर मनुष्य को हीनता के बोध से शंकर की ही तरह मुक्ति दिलाई। एक भरोसा बँधा। इतिहासकारों का यह निरीक्षण महत्त्वपूर्ण है कि भारत वर्ष के मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत् आने की पूरी अवधि में मुसलमानी शासकों का दृष्टिकोण अपनी हिन्दू जनता की ओर सदैव असहिष्णुता और विरोध का रहा है। इस्लाम के आगमन से लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मुस्लिम शासकों की यह पक्की धारणा बन गई थी कि तलवारों के बल पर वह भारत को वैसे ही इस्लामी क्षेत्र बना देंगे जैसे खलीफाओं की फौजों ने फारस और पश्चिमी प्रदेशों को इस्लामी बना दिया था। बाबर तक यही धारणा बनी रही। डा0 ईश्वरी प्रसाद ने कहा है कि तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में पंजाब, काश्मीर, दक्षिण, पश्चिमी प्रदेश और पूर्वीय क्षेत्रों में धर्म प्रचार का कार्य बड़े उत्साह के साथ होता रहा। उस समय पंजाब में बहाबुलहक, बाबा फरीदउद्दीन और अहमद कबीर (मखदूम जहानियान) जैसे व्यक्तियों को अपने प्रयत्नों में दत्तचित्त पाते हैं। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर प्रदेश में सैयद अली हमदानी ने धर्मप्रचार का कार्य किया। कहते हैं कि वह अपने साथ सात सौ सैयदों को लेकर आया था और उन्होंने समस्त देश में अपने स्थान बना लिये थे। सुदूर दक्षिण भारत में भी सैयद मुहम्मद गीसू दराज और पीर महावीर खमदायत के कार्य चौदहवीं शती से प्रारम्भ हो गए थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में समस्त देश में, विशेषतया सिन्ध और पश्चिमी भारत में इन मुसलमानों का कार्य बड़े वेग से फैला, जिनमें सैयद यूसुफुद्दीन और पीरसदरूद्दीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन धार्मिक मिशनरियों में कुछ ने तो

अपनी विद्वत्ता एवं दयाभाव के कारण, अन्यों ने अपने चमत्कारिक प्रयोगों से और बहुतों ने हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों की निन्दा करने के माध्यम से इस्लाम का प्रभाव व्यापक बनाने की चेष्टा की। पन्द्रहवीं शती के अन्त में जौनपुर के मीर सैयद मुहम्मद ने महदी आन्दोलन का सूत्रपात् करते हुए स्वयं को मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी घोषित किया। वह चमत्कारी संत था। शेरशाह सूरी के काल में दूसरे महदी इस्लाम शाह शेख अलाई ने भी इस पंथ की शिक्षाओं को प्रसारित करने में योग दिया पर उलेमाओं ने इस कार्य को अधार्मिक घोषित कर दिया तथा शेख अलाई को दण्डित किया। इसका एक फल यह निकला कि भारतीय इस्लाम में नये सुधारों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। सूफी विचारधारा इसी आवश्यकता की पूर्ति थी। बाबर का पुत्र हुमायूँ, अकबर इसी विचारधारा के कारण उदार निकले। बाबर सुन्नी मुसलमान था, वह मदिरा सेवी तथा स्त्रियों का प्रेमी था, उसने मंदिर तुड़वाए और हिन्दुओं के सिरों से मीनार बनवाए। यों जहाँगीर उदार था पर उसने पुष्कर का मंदिर तोड़ा तथा आगरे में बना पुर्तगालियों का गिरजाघर बन्द करा दिया। शाहजहाँ ने 1633 ई0 में बनारस के इलाके में 73 मंदिर तुड़वाए तथा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के लिए एक अलग विभाग खोला जिसके अध्यक्ष मिर्जा लाहौरी और मुहिब्ब अली सिंधी थे। औरंगजेब में यह धर्मान्धता चरम सीमा पर पहुँच गई।

श्रीचन्द्र जी ने भारत की यह दुर्दशा अपने नेत्रों से देखी थी। उनके अन्तर्धान होने से 11 वर्ष पूर्व ही शाहजहाँ ने बनारस के मंदिर तुड़वाए थे। श्रीचन्द्र जी ने इसीलिए सगुण-उपासना पर कटाक्ष किए-

> **विश्वनाथ पर कूप डुबाना, अजहूं दंभी नर भरमाना,**
> **गोविंद राम मसीती दुरै, विप्र मनई धावत गहि छुरै ।**

बाबरी मस्जिद में राम का छिप जाना तथा कूप में विश्वनाथ जी का डूब जाना इस्लामी अंधता का संकेत देता है। श्रीचन्द्र जी ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के धार्मिक अंध विश्वासों पर चोट की।

साधु संग भ्रम खोय अयानै, अन्तर आतमराम पछानै,
पत्थर कावै राख्यो पूज, चंद मनायो उपज्यो दूज ।

शैतां केरो थाप मुकाम ।
कंकर रोड़े फैंकत मूरख, अन्तरमल अलह नहिं नाम । ।रहाऊ।।
बुत्त बिनासै बुत्तहिं थाप, दरगाहे लहिहैं संताप।
परम भूल लग फिर फिर लेख, सो कुरान किमि भनै अलेख ।
शरक गरब जँह पढ़ी नमाज़, सोऊ दोजख पाय अजाव ।
भूले लोक लोभ लुट मारै, कियो पैगंबर दीन बिगारै ।
श्रीचन्द्र मण्डल जेऊ मूढ़, लहहि साधु आशय किमि गूढ़ ।।

• • •

दुर्गा नाहिन प्रगटी कोय, दई मूरती गुरुजन खोय ।
सोमनाथ नाच्यो नहिं आप, कस मुकतै है तुमतें पाप ।
भूलै पत्थर पूजत लोग, कारण करता है भी होग ।
पार ब्रह्म की जेऊ कला, मानुस मन प्रगटावत भला ।
श्रीचन्द्र यहि जनहु खेड़, शेर स्वांग रचि बैठी भेड़ ।
पाहन पूजत शांति न पाई, एक छोड़ि कोरिन पर पाई ।।

श्रीचन्द्र जी ने मस्जिद, देवालय, वेद, पुराण, कुरान, शंख ध्वनि तथा बांग-नमाज़ में एक पूर्ण ब्रह्म का निवास माना। उन्होंने हिन्दू-तुरकों को सावधान करते हुए कहा-

सतगुरु पूरे शब्द सुनायो ।
पारब्रह्म पूर्ण सब थांई घटि घटि एक समायो । ।रहाऊं।।
वन पर्वत जल थल महियल हरि, ऊन न कोऊ थाना,
मस्जिद देव देवालय मांही वेद पुराण कुराना ।
बांग नमाजा संख अवाजां एकै ही गुण गावै,
हंस काक माखी मच्छर गो तृण तरु एकहि ध्यावै ।
एक अनेक व्यापक सगरे सरगुण निरगुण सोई,
धर्म अधर्मन कर्म कुकर्मन श्रीचन्द्र इक ओई ।।

• • •

परम पुरख भगवत परमेश्वर बिन संतन कहूं नाहिं,
मक्का मदीना गंग गोदावरी श्रीचन्द्र पिखि आहिं ।

श्रीचन्द्र जी का मानना था कि उपासना के मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं पर उपासना का लक्ष्य एक होना चाहिए। भक्ति के क्षेत्र में प्रपंच, दिखावा, आडम्बर, भेष उन्हें सह्य न था। उन्होंने अपने समय के प्रचलित हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई मतों का उल्लेख करते हुए कहा-

योगी, यती, सरेवड़े, वैरागी, उदासी,
भगति भगौती संयमी मित नांही रामदासी ।
पण्डित पांधे ज्योतषी काजी मुलां शेख,
पोप पूज्य नरव जटाधर मुण्डित भगवे भेख ।
दत्त दिगम्बरादि नाथ लौं परी बहीर अपारा,
श्रीचन्द्र अविचल अविनाशी पारब्रह्म करतारा ।।

यहाँ योगी से तात्पर्य शैव-शाक्त मतावलम्बी साधुओं से है, यती नाथ संत है, सरेवड़े जैन साधु हैं वैरागी वैष्णव साधु हैं। काजी मुल्ला मुस्लिम धर्म प्रचारक हैं तथा पोप ईसाई धर्म के प्रचारक हैं। दत्त दिगम्बर दशनामी संन्यासी हैं। संत कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक एकता की चर्चा तो की है पर ईसाई संतों की चर्चा नहीं की। केवल श्रीचंद्र जी पोप या ईसाई धर्मप्रचारक की चर्चा करते हैं। प्रश्न होता है कि क्या श्रीचंद्र जी के समय ईसाई उत्तर भारत में धर्म प्रचार का कार्य कर रहे थे। गोवा में तो उनका केन्द्र था, बड़े पैमाने पर धर्मान्तरण का कार्य भी वहाँ किया गया था पर उत्तर भारत में धार्मिक संवाद के लिए उन्हें अकबर ने सर्वप्रथम आमंत्रित किया। फतहपुर के धार्मिक विवाद में 1575 ई0 में उसने हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई तथा मुसलमान आदि विभिन्न धर्मों के पण्डितों और विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया था। मुस्लिम पक्ष के विद्वानों में शेख मखदूमुल्मुल्क, शेख अब्दुन्नवी, हिन्दू धर्म के पुरुषोत्तम पण्डित, जैन धर्म के हीर विजय सूरि, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय तथा जिनचन्द्र, पारसी के दस्तूर मेहर जी तथा ईसाई

धर्म के पादरी रोडोल्फ ने इस विचार गोष्ठी में भाग लिया था। डा0 ईश्वरी प्रसाद जी ने लिखा है कि बादशाह ईसाई धर्म में भी बड़ी रुचि रखता था। उसने इस धर्म की शिक्षा के लिए गोआ से ईसाई पादरियों को बुलाया था।[1] श्रीचन्द्र इस विवाद से परिचित जान पड़ते हैं, इसलिए पोप का उल्लेख करते हैं।

श्रीचन्द्र जी ने मातृभाषा के महत्त्व को उजागर किया है। वह श्रुति-स्मृति के लिए संस्कृत का महत्त्व स्वीकार करते हैं पर मातृभाषा का महत्त्व वह इससे भी बढ़कर मानते हैं। वह अपनी देश्यभाषा को शासकीय म्लेच्छ भाषा से बेहतर और पवित्र मानते हैं जो उसे छोड़कर उर्दू, फारसी, अरबी अपना रहे हैं, शासन कें उच्च पद पा रहे हैं, उन्हें वह अच्छा नहीं मानते-

अपनी भाषा परिहर वाणी रदत मलेछ,
पुण्यधाम भ्रष्ट आचरणी भरे अन्तर सोद्वेष ।

संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी श्रीचन्द्र जी ने लोकभाषा को महत्व दिया। उन्होंने वेदभाष्य तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण आचार्य परम्परा की रक्षा के लिए संस्कृत में किया पर बुद्ध, महावीर तथा कबीर, नानक की तरह जनोपयोगी शिक्षाओं का निरूपण लोकभाषा में किया। समाज के परिष्कार के लिए यह आवश्यक था। आचरण और शील की शिक्षा उन्हें जनभाषा में ही देनी थी। अपने अनुभव को उन्होंने लोकभाषा में ही व्यक्ति किया। वह जनसामान्य से इसीकारण जुड़े। लोक का मांगलिक निर्माण और पाखण्ड का निरसन उनकी जनवाणी में ही प्रभावी हो सका। संत तो संस्कृत को कूप जल मानते रहे हैं। जिसे श्रमपूर्वक खींच कर ही प्यास बुझाई जा सकती है पर संतों की वाणी बहते जल की तरह है जो गुरुकृपा से सहज सुलभ हो जाता है-

संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर,
भाषा सतगुरु सहित है, संतमत गहिर गंभीर ।

---

1. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास - पृष्ठ 348

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच,
काम जो आवै कामरी, का लै करे कमांच ।
वेद सु वाणी कूप जल, दुख सूं परापत होई,
पद साखी सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोई ।।

संतों की काव्यभाषा प्रवाह प्राप्त थी, उसमें व्रज, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, मराठी, खड़ी, गुजराती, सिंधी तथा अरबी-फारसी के शब्द घुल मिल गए थे। यह प्रवाह प्राप्त भाषा जयदेव, सधना, बेनी, ज्ञानेश्वर, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, कबीर, नानक, रविदास के काव्य का माध्यम थी। स्वामी रामानन्द की एक रचना का नमूना लीजिए-

पछिम दिसा धुन अनंहद गरज अमिरस झरै उपजै ब्रह्मग्यानं ।
आकासे उड़ध न अंचवै आतम तत्त विचारी ।
नरसी जल मैं घर करै मनसा चढ़ै पहाड़ं ।
गगन गरजै हीरा नीपजै घंटा पड़ै टकसालं ।
जो कोई दास कबीर से पारखी कोई नर भये ऊतर पारं ।।

• • •

है हरि बिनां कूंण रखवारो, चित दै सिवरौ सिरजणहारौ ।
संकट मैं हरि बेह उबारी, निसि दिन सिंवरौ नाम मुरारी ।
नांम निकेवल सबतें न्यारा, रटत अधर घट होय उजारा ।
रामानंद यूं कहै समुझाई, हरि सिमर्‌यौ जम लोक न जाई ।।

संत परम्परागत प्रवाह प्राप्त इस बोली को श्रीचंद्र जी ने '*गुरुमुखी*' कहा है। यह कोई एक लिपि में लिखी गई भाषा नहीं, क्योंकि गुरुमुखी बोली विशेष संदर्भ में गुरु अंगद देव से प्रारम्भ हुई पर जब उनसे पूर्व श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

अकाल खिंथा, निराश झोली,
युक्ति का टोप, गुरुमुखी बोली ।

तब गुरुमुखी बोली का यही तात्पर्य मालूम होता है। शुक्ल जी जिसे सधुक्कड़ी कहते हैं, कबीर ने जिसे पूरबी कहा था, श्रीचन्द्र जी ने उसे

गुरुमुखी कहा है, क्योंकि यह बानी गुरुमुख से निर्गत है, अतः गुरुमुखी है, संत अतृप्त होकर इसका पान करता है, इसके तीन गुण हैं- 1. अकथ कथा का वर्णन अर्थात् परम तत्त्व का विचार 2. अनुभव का कथन तथा 3. युक्ति पूर्वक उस परम सत्य का रसीली बानी में प्रकाशन। श्रीचन्द्र जी कलात्मक अभिव्यक्ति का समर्थन करते हैं। उनके काव्य में रूपकयोजना, प्रतीक कथन तथा भावपूर्ण कथन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। सिद्धान्तसागर में वह लिखते हैं-

अकथ कथा अनुभव युक्ति सत्यमधुर रसीली बानि,
सुधापीत जन होत न तृप्ती सारद रहिवै थानि ।

ऐसी ही वाणी को वह सच्ची मानते हैं तथा ऐसी वाणी का नित्य संकीर्तन करते रहने का आदेश देते हैं-

गावहु गावहु अमृत वाणी ।
परमानन्द समाधि साध हरि हरि नाम समाणी । ।।रहाऊ।।
दर्शन डीठा पारब्रह्म नयन सिरानै सीर,
मन मंहि आया सहज रस सकल बिलानी पीर ।
दह दिसि चौदह भवन मंहि एका जोति मुरारि,
पशुपक्षी बण तृण सगल एकंकार पुकारि ।
अनहद वाणी ऊपजी सुन्न समाधि समाय,
श्रीचन्द्र मन उज्ज्वला पाया प्रीतम राय ।।

श्रीचन्द्र जी ने इन रूहानी संतों की तरह 'अनुभव' को तो महत्त्व दिया ही है, श्रुति-स्मृति-पुराण तथा आगम शास्त्रों के वाक्यों को भी प्रमाण मानने की सलाह दी है। सिद्धों, नाथों तथा कबीर आदि संतों ने इस शास्त्र-प्रमाण का निषेध किया है। श्रीचन्द्र जी शास्त्र-प्रामाण्य के पक्षधर हैं, यह उनका भिन्न प्रस्थान है जिसके कारण वह संत मत से भिन्न दर्शन का समर्थन करते हैं। शास्त्र की पुनः प्रतिष्ठा में विवेक मुख्य है, संत का अनुभव क्योंकि समाधि के स्तर पर होता है, अतः उसमें व्यापकता होती है और यही व्यापकता उसे सार्वकालिक तथा

सार्वदेशिक रूप प्रदान करती है। वह कहते हैं-

चतुर्वेद छे अंग उपांग,
लहै ज्ञान जन सांगोपांग ।
भाष्य नीति पथ धर्म निहारै,
हदीस कुरान अंजील बिचारै ॥

• • •

वेदपुराण सिमरत सब शास्त्र, गुरु कृपा ते लहिये,
नारायण गोविंद स्वामी राम हरि तिंह कहिये ।
अविनाशी गुरुपूरा,
आगम निगम सुझावत गुरुमुख पारब्रह्म भरपूरा ॥

श्रीचन्द्र जी का विश्वास था कि '*आचारहीनं न पुनन्तिवेदाः*', आचरण हीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। उनके वचनों में सदाचार, नैतिकता तथा सामाजिक समानता की बात पग-पग पर उठाई गई है। लोकधर्म यही है कि समाजोपयोगी व्यक्ति का निर्माण हो। ऐसे व्यक्ति को श्रीचन्द्र जी गुरुमुख कहते हैं। गुरुमुख वह आदर्श व्यक्ति है जो परिष्कृत समाज का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। कबीर ने भी व्यक्ति की श्रेष्ठता की कसौटी आचरण को ही माना था-

सीलवंत सबसे बड़ा, सब रतनन की खानि,
तीन लोक की संपदा, रही सील मैं आनि ।

श्रीचन्द्र भी कहते हैं-

गुरु का सेवक सदा ही सुखीआ, गुरु का सेवक आत्मरुखीया,
गुरु का सेवक आतमज्ञानी, गुरु का सेवक ब्रह्म ध्यानी ।
गुरु सेवक सद ही पतवंता, गुरुसेवक आतम धनवंता,
गुरु सेवक गुण ज्ञान सपूर, गुरु सेवक कसमलगण चूर ।
गुरु सेवक सद ही संतोषी, हरि सिमरण रचि काया पोखी,
गुरु का सेवक निर्मल देह, गुरु सेवक भवजानत खेह ।

गुरु सेवक रतनन की खान, गुरु सेवक भा जान अजान,
सतगुरु सेवे ऊंच बड़ाई, श्रीचन्द्र गुरु सेब महाई ।।

शास्त्र की चर्चा उन्होंने विवेक विहीन नहीं की। यदि शास्त्र केवल कथन, वाणी या उपदेश में है और वह आचरण का विषय नहीं बन सका तो ऐसा शास्त्र अमोघ होते हुए भी व्यर्थ हो जाता है। वह व्यावहारिक नैतिकता पर बल देते हैं, आचरण के अभाव में ज्ञान की भाषा का कोई अर्थ नहीं होता।

श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

मार्गवेद न मन गहै मुख ऋचन उबाचा,
चित्तहुं काल बिसारिआ कांचै संग माचा ।
चारवेद दस अष्ट पढ़ि खट खट अंग समेत,
सगली स्मृति श्रवणी सुन लहित न गुरु बिनु भेत ।
चार कतेव हदीस बहु फिक्का नाम दीवान,
पढ़ै गुणै मत्सर धरहि दोजख अगनि तपान ।
मढ़ीयां कवरन टोलिये अड़सठ तीरथ नहाय,
काबै पाहन थापि कै गुरुदोखी भरमाय ।।

परमेश्वर की प्राप्ति गुरुमुख को ही होती है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे तथा तीर्थों की धूल छानने से ईश्वर नहीं मिलता। श्रीचन्द्र जी उपनिषद् के सिद्धान्तानुसार '*हरिकृपा*' को कारण बताकर मनुष्य के पुरुषार्थ जन्य अहंकार पर चोट करते हैं। '*यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः*' श्रुति को ध्यान में रख कर ही वह कहते हैं-

कई कोटि काशी मंहि मरते,
कई कोटि गया पिंड भरते ।
जिंह जन पर प्रभु दृष्टि पसारी,
श्रीचंद्र तिंह मिलि गिरधारी ।।

साधक को तो ब्रह्मार्पणभाव से कर्म करते रहना चाहिए। फलदान का

कार्य परमेश्वर का अधिकार क्षेत्र है। इसी गीतोक्त सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए वह कहते हैं-

सदगोविंद ध्याइयै सब विधि जाकै हाथ,
मानुख कर्म कमावना सफल नारायण हाथ ।
पारब्रह्म भगवान प्रभु करन करावन योग्य,
नर उर जानत कछु नहीं किह विधि भोगत भोग ।।

जैसा कि कहा जा चुका है, विवेक तथा विचारपूर्वक ही शास्त्र के आदेश का पालन निष्ठा के साथ करना चाहिए। कबीर ने कहा था-

मैं कहता औं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सरुझावन हारी तू राख्यौ अरुझाइ रे ।

इसके समानान्तर श्रीचन्द्र कहते हैं-

गुरुमुख धाय विवेक, ज्ञान बान धनु ध्यान कै,
तान चलायो एक, मार विषयादि पंच दिय ।

सद्गुरु की महिमा का कथन समाज के '*आदर्श पुरुष*' के रूप में व्यक्त हुआ है। '*आदर्श पुरुष*' ही समाज का नायक हो सकता है। व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति तथा समाज और बूंद तथा समुद्र के मिलाप की भूमि उसे ही तैयार करनी है। श्रीचन्द्र को ऐसे प्रतीक पुरुष की प्राप्ति हो गई है, वह चाहते हैं, समाज का पुनर्निर्माण करने वाले लोग निरन्तर ऐसे ही व्यक्ति की तलाश का सिलसिला बनाए रखें।

आयो भर आयो भवगुरु अविनासिया ।
दीनो नाम दान न्हान पायो दृढ़ ज्ञान ध्यान ।
संयम जप ताप सत नित्य सुख रासिया ।
गगन चढ़ ज्योति पाय नाद अनहद बाय ।
राग अगम गीत गाय नृत्य परकासिया ।
श्रीचन्द्र मानलीन प्रणव जाप मांहि लीन ।
ममत अलमसत होय चिदानंद बासिया ।।

श्रीचन्द्र जी ने वेदान्त के अद्वैतभाव को विचार, वस्तु तथा आचरण के स्तर पर व्याख्यायित किया। इन्हें भागवत में क्रमशः इच्छाद्वैत, द्रव्याद्वैत तथा क्रियाद्वैत कहा गया है। प्राणिमात्र की एकता के विचार सूत्र इच्छाद्वैत कहलाते हैं, जैसे–

एकहिं सूत परोये मणीयां रत्न जड़ाऊ माला,
एको एक सर्व जग व्यापा ।

हर वस्तु में ब्रह्म की स्थिति मानकर उस पर से एकाधिकार की भावना का हटा लेना द्रव्याद्वैत कहलाता है, जैसे–

जो जो दीसै सो सो तूं है निरंकार आकारा,
श्रीचन्द्र सब घट घट पट पट एकोएक पसारा ।

त्यागपूर्वक भोग तथा प्राणिमात्र की हर संभव सेवा क्रियाद्वैत के अन्तर्गत् आती है। श्रीचन्द्र जी ने इसे ही सच्चा धर्म बताया है।

पेख गरीबन मिहिर कर आगै पुण्य हेरा,
नंगे को कुछ कपड़ा दीजै बिन बेरा ।
जीवन दान अनाज का पैहै बड़ ढ़ेरा,
दयादान श्रीचन्द्र लहि कुल फूल फुलेरा ।।

सच्चा धर्म क्रिया द्वैत है। भूखे को रोटी, नंगे को वस्त्र, अरक्षित को जीवन दान तथा पीड़ित और प्रताड़ित पर दया करना ही क्रियाद्वैती की पहचान है। शासन, सत्ता, धन, विद्या, अहंकार तथा बल के गर्व से त्रस्त सामंती समाज में इस घोषणा ने एक प्रबल सामाजिक विश्वास तथा न्याय का अधिकार पैदा किया। जनजीवन के टूटते विश्वास को उन्होंने जोड़ा। आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि विषमता में समता, पाप में पुण्य, अविश्वास में विश्वास तथा अंधकार में प्रकाश लाने की चेष्टा में निहित है। अपने से हटकर दूसरे के लिए जीने और परिश्रम करने से वासनाओं का रूपान्तरण होता है। मानवीय प्रेम की संवेदना जगाना ही अध्यात्म का लक्ष्य होना चाहिए–

हरि प्रभु किआ कहानिंआ रस प्रेम सुहाईया,
अक्खर एकै प्रेम का नित देण दुहाईयां ।

मानुष तन दुर्लभ लह्यो राम नाम जप चीत,
साधु संग बैसण मिलै सच्चे सच्ची प्रीत ।

क्रोध लोभ सब तज गए चोर पहरुए आग,
मन सुत्ता श्रीचन्द्र का संत संग उठ जाग ।

प्रभु जी दया करहु मेरे प्रीतम सतगुरु मेलहु पूरा,
जां ते प्रेम तुम्हारा पावहु श्रीचन्द्र सुख मूरा ।

गरब बड़ाई हर्ष सुख मान महत गुण पूज,
प्रेम पदार्थ श्रीचन्द्र एकहि एक अदूज ।

प्रीतम मिलहि कि नांहि कवि नहिं चाह सरीरा,
श्रीचन्द्र लोभी खुशी प्रेमी दहि हीरा ।।

श्रीचन्द्र जी गुरु को एक ऐसे महापुरुष के रूप में देखते हैं जो व्यक्ति और समाज का मार्ग दर्शन करने की पूर्ण क्षमता रखता है। लोक कल्याण तथा आत्म कल्याण क़ा वह संतुलित मार्ग उद्घाटित करता है। स्व का संस्कार तथा व्यक्ति का संतुलित जीवन उसका लक्ष्य होता है। संसार की संकीर्ण भावनाओं से व्यक्ति को ऐसा महापुरुष ही ऊपर उठा सकता है। श्रीचन्द्र जी गुरु को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं-

मोको सद्गुरु पार लगाया ।
चिन्तासागर महि मन बोहिथ तृष्णावायु बहाया । ।रहाऊ।।
तरंग भयानक अपकरमन की सिमरन करि दुख पाता,
केवट कोय न रह्यो खिवैया पेखणि परै अत्राता ।
केनिपात अम्री अरू सेचन हाथन त्याग परानै,
अतिनु पार परे बूड़त लखि तरगीजुल निरगमाने ।
पर्‌यो आवर्त किलाल गँभीरे महत सुलाल उठंती,
पुलिन निकट पिखियंत न कोऊ मकर कुंभीर मांहती ।
अवहारन कच्छप गन झुंडत पेख हृदय दहलायो,
श्रीचन्द्र गुरु सुनी पुकारा सगरे विघ्न मिटायो ।।

संसार के समुद्र में चिन्तित मन का जहाज तृष्णा और वासनाओं के तूफान से बह निकला। अपकर्मों की भयानक तरंगें उसे उछालने लगी। कोई केवट या मल्लाह नहीं रहा। चप्पू-डाँडे लगाने वाले छोड़ चले गए। भौतिक सौन्दर्य की पिपासा के भँवर तेज़ हो गए। पुत्रकुल तथा बांधवादि का आकर्षण मगरमच्छ बन गया। मोह-माया के कछुए निगलने के लिए तैयार हो गए। किनारे दूर हैं, उन पर भी काई सहायक नहीं दीखता। केवल गुरुदेव के चरणकमल ही ऐसे में एकमात्र आश्रय दीख पड़ते हैं, उनका सहारा लेकर ही इस संसार सागर से पार जाया जा सकता है। प्रसिद्ध भक्त आचार्य श्री कुलशेखर ने मुकुन्दमाला में इसी आशय का एक सुन्दर श्लोक लिखा था-

तृष्णा तोये मदन पवनोद्धूत मोहोर्मिमाले ।
दारावर्ते तनय सहजह ग्राह संघाकुले च ।
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां न स्त्रिधामन् ।
पादाम्भोजे वरदभवतो भक्ति भावं प्रदेहि ।।

यह मात्र एक फन्तासी या कल्पना नहीं है। उस युग का यथार्थ है, व्यक्ति स्तर पर भी और समाज के स्तर पर भी। संसार मार्ग के प्रलोभन उसे अन्दर-बाहर से दुर्बल करते रहते हैं। श्रीचन्द्र प्रपत्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को '*विघ्न*' कह कर पुकारते हैं। यहाँ रहने का सूत्र मरजीवा बन कर रहने में है। मरजीवा या गोताखोर सागर में डूबता रहता है पर गहरे तल में पहुँच कर वह निराश नहीं होता, मोती निकालता है। वह एक खोल या कवच पहन कर जाता है ताकि समुद्री जीव-जन्तुओं से बच सके। ऐसे ही व्यक्ति को ज्ञान का वेश्म या खोल पहन कर संसार समुद्र में रहना चाहिए। मरने की स्थिति में पहुँचकर भी उसकी जीवनेच्छा नष्ट नहीं होती। वह भागता नहीं। वह अपनापन खोता है पर विराट् से उसका सम्पर्क छिन्न नहीं होता।

मारियां बिन जीवन नहीं जीवन लोड़े मर,
जरियां बिन जर धर्म नहीं जरियां लोड़े जर ।

जगत् के इस यथार्थ को स्वीकार करना चाहिए कि संसारी पुरुष स्वार्थ के पुतले हैं यहाँ शक्तिहीन, अनाथ, निराश्रित, कमजोर तथा दलित शोषित और पिछड़े का कोई सम्बल नहीं। इसी निराश्रित अकिंचन की पीड़ा को वाणी देते हुए श्रीचन्द्र कहते हैं-

ढूंढ थक सब जगत महिं आसर को नाहीं,
संग त्याग करि भाग गए पिखियन नहिं छाहीं ।
माता पिता हित नहिं रहा जन अपर कहाहीं,
सुख प्राप्त नित्त बांछते सुख प्रापत नाहीं ।
पहिरण खावण लोचते फाके न रहाहीं,
सब संपद के मित्र जे आपद तजि जाहीं ।
नारायण गोविन्द बिनु बिनती कहु काहीं,
मयानिधी श्रीचन्द्र परि निज दृष्टि वगाही ।।

श्रीचन्द्र निवृत्ति मार्गी आचार्य संत थे पर मानवीय और सामाजिक चेतना उनमें कूट कूट कर भरी हुई थी। वह दया, मैत्री, मुदितादि गुणों को व्यक्तित्व की कसौटी मानते थे। नैतिकता समाज की वास्तविक पूंजी होती है। व्यक्ति का शील और आचरण ही उसे महान् बनाता है। कुल, विद्या, वर्ण, जाति तथा धन उसे महान् नहीं बनाते। उन्होंने एक सद्धर्मी व्यक्ति की यह पहचान बताई है और यही उनके प्रचारक का लक्ष्य भी है-

नाम, दान, इस्नान करि प्रभु भक्ति दृढ़ावों,
कर्म, धर्म, सुच, संयमा जत सत सिखलावों ।
तीरथ व्रत सुशील दया, यम, नियम कमावों,
करुणा, मुदिता, मैत्री उर में ठहिरावों ।
दुख न देवो किसे जिये सब नर गललावों,
साधु चरण नित सेव करि सुख सहिज समावों ।
गोविन्द मधु सूदन हरी माधव मुख गावों,
मया तुम्हारी श्रीचंद्र अत्यन्त लखावों ।।

इसमें मुख्य बात है- '*दुख न देवों किसे जिये, सब नर गल लावों*' अर्थात् किसी भी जीव को मैं दुःख न दूँ तथा प्रत्येक प्राणि को बिना किसी भेदभाव के गले से लगाऊँ। यही लोकवृत्ति है और यही उनके उपदेश की प्रासंगिकता है। बाह्य जीवन की यात्रा में यही उदार चेतना सहायक होती है और इसी से उसके जीवन में प्रवहमानता या गतिशीलता बनी रहती है। नामदेव जी ने त्रिलोचन जी से कहा था-

नामा कहै त्रिलोचन मुखा राम संभालि,
हाथ पाँव कर काम सब चित्त निरंजन नालि ।

अर्थात् हाथ-पाँव से श्रम करते रहना, आत्मनिर्भर होकर जीना, मन को परमात्मनिष्ठ बनाए रखना तथा मुख से राम नाम का स्मरण करते रहना ही मुक्ति का साधन है। बाह्याडम्बर रहित जीवन ही संत का लक्षण है। पलायनवादी, निष्क्रिय तथा लोकधर्मविहीन जीवन को संतों ने सर्वथा त्याज्य माना है क्योंकि उनके पास वाणी उच्चारण के लिए है, जीवन में उसका व्यावहारिक रूप देखने को नहीं मिलता।

योगी भूखा होया कन्न फड़ाये जाय,
घर घर माँगे भीखया लाज लगाई नाय ।
गावत गीतन मन्दिरीं पंडित भूखे पेट,
अधिक पदारथ पायकै रहे गधे सों लेट ।
मुसलमान भूखा भया घर महिं ठठी मसीत,
मुल्ला बांग नमाज सों बन बैठे विपरीत ।।

श्रीचन्द्र जी का यह भी विश्वास है कि काल प्रधान देव है, वह पुतली नचाने वाले की तरह संसार के प्राणियों को नचा रहा है, वह सबको देखता है पर उसे कोई नहीं देख पाता। मकड़ी जाला फैलाती है, उसमें सब कीट पतंगों को फँसाती है और फिर उसे समेट कर चट कर जाती है, इसी तरह काल जगत् को, विभिन्न पदार्थों और प्राणियों को, उनकी विभिन्न वृत्तियों को पैदा करता है, फिर प्रपंच का विस्तार कराता है और अन्त में सब कुछ समेट लेता है। अतः ज्ञानी, मूढ़ या प्रमादी जनों को

दोष देना व्यर्थ है, इससे तो निराशा और निष्क्रियता, क्षोभ तथा असंतोष की ही वृद्धि होगी। आवश्यकता है, इस तथ्य के प्रकटीकरण और जीवात्मा के प्रबोधन की। इस यथार्थ को स्वीकार करके ही वह जगत् में कमल की तरह असंग और निर्लिप्त होकर रह सकता है। यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर ही आदर्श की झाँकी देखी जा सकती है। काल को इसीलिए वह नियामक तत्त्व मानते हैं–

सर्वशिरोमणि केवल काल ।
जिंह चाहै तिंह अधिक दुखावै जिंह चाहै तिंह करत निहाल ।।

• • •

शाह बादशाह खान सुलतान, त्याग सिधारै महल मकान ।
रंकरु धनी अमीर वजीर, सगल सिधारे त्याग सरीर ।
रहि न पायो जगमंहि कोउ, राम नाम बिनु साथ न होउ ।
घड़ी पहर पल मूरत काल, छिन छिन काया छिजत विहाल ।
बाल अवस्था खेल गवाई, तरुण भये तरुणी हित लाई ।
राम नाम नहिं राख्यो चीत, अन्त समय जो तेरे मीत ।
बिरध भये हू लेवत खाय, कालदाड़ हाड़न कट काय ।।

• • •

हे मन प्यारे साजना पुतलीकार नचाई राम,
हे मन प्यारे साजना पुतलीगर न लखाई राम ।
पुतलीगर नहिं लख्यो कदाहूं पुतली चाहै पेखा,
इस आशया का कौन सो स्वामी अद्‌भुत रेखी रेखा ।
तंती तंत पसारै आपै आपहिं तिंह बिनसावै,
श्रीचन्द्र लख कोटि ब्रह्मै कल्प कल्प कल्पावै ।।

इस काल ने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, नल, बलि जैसे महापुरुषों के जीवन को भी झकझोरा है, अतः काल को सर्वोपरि मानकर व्यक्ति को धैर्य धारण करना चाहिए। ऋग्वेद में कहा गया है– '*कालो अश्वो वहति,*

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः।' अर्थात् कालरूपी महाबली घोड़ा चल रहा है। यह सब संसार को खींचे लिए जा रहा है। तुच्छ मनुष्यों की इसके सामने कोई गणना नहीं है। इस महावेगवान् अश्व की सवारी वे ही ले सकते हैं जो ज्ञानी हैं। पल-पल, क्षण-क्षण का सदुपयोग करने वाला ही काल के शीश पर पाँव रख कर खड़ा हो सकता है। कबीर आदि संतों ने '*काल कौ अंग*' शीर्षकबद्ध बानियों में काल को क्षणभंगुरता की व्यंजना का आधार माना है, वह जगत् के प्रति अनासक्ति उत्पन्न कराना ही इस वर्णन का लक्ष्य मानते हैं पर श्रीचन्द्र काल की सत्ता से परिवर्तन शील जगत् की हर स्थिति को सत्य तथा यथार्थ मानकर उसके सही उपयोग की रचनात्मक प्रेरणा देते हैं। काल की यही वैदिक अवधारणा है और इस दृष्टि से श्रीचन्द्र भिन्न दृष्टिकोण के पक्षधर हैं। वह काल की वैदिक मान्यता को स्वीकार करते हैं। अथर्ववेद का मंत्र है-

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्,
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने काल में ही होती है। जिस कार्य का, जिस बात का उचित काल नहीं आया है, उसके लिए यत्न करना, उसकी आशा करना निरर्थक है, मूर्खता है। अतः हमें अपना प्रत्येक कार्य उचित काल में ही करना चाहिए। हमें तप करना हो, इन्द्रिय निग्रह करना हो, ज्येष्ठत्व पाना हो, समाज का नेतृत्व करना हो, ज्ञान प्राप्त करना हो, राष्ट्र परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ना हो, चाहे जो कुछ भी करना हो व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर, यह सब हमें कालानुसार ही करना चाहिए। देखो, परमेश्वर भी अपना सब कुछ नियत काल में करते हैं। वह समय पालन में भी परिपूर्ण आदर्श रखते हैं। वह इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए अपना ज्ञानमय तप नियत समय में करते हैं। ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियत काल में प्रादुर्भूत करते हैं और ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश भी नियत समय पर करते हैं। काल रूप में ही वह भगवान् प्रजापति के भी पिता हैं। यह सब संसार बेशक सूर्य प्रजापति या

हिरण्यगर्भ प्रजापति से उत्पन्न हुआ है किन्तु वह प्रजापति भी तो काल आने पर ही उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उनके भी जनक ये कालपरमेश्वर हैं और केवल सृष्टि की यह उत्पत्ति ही नहीं किन्तु सृष्टि का प्रतिक्षण संचालन भी काल के द्वारा ही हो रहा है। इस संसार का एक तिनका भी बिना काल आए नहीं हिल सकता। सचमुच काल ही सबका ईश्वर है। भूत का, भवत् का, भविष्यत् का, सब ब्रह्माण्ड का। इस ब्रह्माण्ड की सब अनगिनत वस्तुएँ, काल में ही यथा स्थान रखी हुई हैं। काल का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। अतः आओ, हम उसी कालदेव की उपासना करें। हम देखें कि उसके प्रतिकूल तो हमारा कोई आचरण नहीं हो रहा है। हमारा एक एक कर्म, एक-एक व्यवहार तथा एक-एक चेष्टा काल के अनुसार होनी चाहिए। भागवत में महाराज बलि ने काल को ही नियामक तत्त्व माना है-

संग्रामे वर्तमानानां काल चोदित कर्मणाम्,
कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ।
तदिदं कालरशनं जनाः पश्यन्ति सूरयः,
न हृष्यति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ।

श्रीचन्द्र जी काल को सर्वोपरि मान कर कहते हैं-

यह जग नहीं मुकाम ।
मनु, नल, अज, दिलीप, युधिष्ठिर गये सकल तज धाम ।
योगी, यती, तपी, ब्रह्मचारी, बादशाह सुलताना ।
श्रीचन्द्र उठ अग्र सिधाये रह्यो न नाम निशाना ।।

• • •

सद ही काल धियाइये जिन है उपाया ।
वण तृण त्रिभुवन काल बस इक चोज बणाया ।
ब्रह्म, विष्णु, शिव, गणपति कालहिं के कीने ।
इन्द्र उपेन्द्र फणीन्द्र गण खगपति सब चीने ।
अठारहिं भार वनास्पति वरुणादिक देवा ।

काल उपाय कालपाल कालहिं खपतेवा ।
काल बिना योगीश्वरन नहिं मुक्ति पछाणी ।
श्रीचन्द्र नल कालवश ज्ञानी-अज्ञानी ।।

कभी कभी हम संत को दुःखी तथा असंत को भौतिक दृष्टि से सर्वसुखी देखते हैं। धार्मिक को दुःखों से घिरा हुआ देख धर्म से श्रद्धा उठने लगती है। अधार्मिक की समृद्धि और वृद्धि हमारी बुद्धि को विचलित कर देती है पर यही असंगति तथा विषमता तो समप्रकृति में काल के क्षोभ से आई है। श्रीचन्द्र जी इस दुर्निवार नियति को अनिवार्य मानते हैं तथा हर स्थिति में शांति और संतोष के साथ जीवन यापन की प्रेरणा देते हैं। मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक अस्थिरता और शोषण के युग में इस विषमता की ओर ध्यान आकृष्ट कर उन्होंने लोकमानस की विराट् चिन्ता को उजागर किया है। क्रान्तदर्शी कवि की यह उन्मेष शील चिन्तना का प्रमाण है-

बुरे करतहुँ भलेफल कालहिं नर दीना,
भलो करत दुर्पाक ह्वै कालहिं सो अधीना ।
गगन चरत पाताल गिरि, पाताल आकाशी ।
तस्कर छूटत बंधतें साधुन को फाँसी । ।।रहाऊ।।
पंडित मूर्ख बन रहहिं मुगधन पंडिताई,
व्यभिचारी जन मुक्ति भये ऋषि सूली पाई ।
कीर्ति लहि अकीर्ति मन्दन यश होवा,
श्रीचन्द्र गहनी गती कधु जाय न जोवा ।।

श्रीचन्द्र जी ने भारत तथा भारत से बाहर की विशाल यात्राएँ की थीं। उनके पदों में मुलतानी, सिंधी, अरबी तथा फारसी के शब्द और इन भाषाओं के काव्य संस्कार, काव्य रुढ़ियाँ, काव्य प्रतीक तथा दृष्टान्त प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनका सूक्ष्म निरीक्षण भी अद्‌भुत था। हिमालय में मिलने वाले ब्रह्मकमल की चर्चा मध्यकालीन भाषा-काव्य में नहीं मिलती। महाभारत में गंधमादन से द्रौपदी के लिए

दिव्य कमल लाने का प्रयत्न भीमसेन ने किया था और इसी यात्रा में हनुमान जी ने उसके वीर होने के दर्प का खण्डन भी किया था पर हिन्दी भक्ति काव्य तथा संत काव्य में '*हिमकमल*' या आधुनिक हिमालय विशेषज्ञ वनस्पति शास्त्रियों का ब्रह्मकमल अनुल्लेख्य है। केवल श्रीचन्द्र जी ही ऐसे हिमालय-यात्री संत कवि हैं जिन्होंने ब्रह्मकमल को देखा, उसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो, उसे श्री हरि की माया की श्रेष्ठ उपलब्धि बताया। माया के चमत्कारी कार्यों का वर्णन अन्य संत कवियों ने किया है पर श्रीचन्द्र जी इसे अलग ही ढंग से प्रस्तुत करते हैं। वह प्रकृति के अन्य विस्मयकारी कार्यों का भी उल्लेख करते हैं।

हरिमाया का नाहीं अन्त ।
हिम पर्वत महिं कमल प्रफुल्लित, कमलन हिम रितु महिं बिगसंत ।

• • •

पाहन भीतर जंतु उपाय, तिस का दीया सबको खाय, सार सम्हाल संभालता,
अष्टपदहिं भी उदर भरत मुकते खावत हंस लखंत,
अनल हुमा नभ मांहि थिरहि चोग चुगावत हरि भगवंत ।

मध्यकालीन संतों में श्रीचन्द्र जी पहले संत कवि हैं जिन्होंने शिक्षा तथा शिक्षण संस्थान पर विचार किया है। वह समस्त सामाजिक बुराइयों की जड़ शिक्षा का अभाव मानते हैं। रुढ़ियाँ, अंधविश्वास, आडम्बर तथा शोषण उचित शिक्षा के न होने के कारण होते हैं। निरक्षर जनता का उत्पीड़न सामंती समाज में शिक्षित न होने के कारण है। चोरी, जुआ, मदिरा, वेश्या, लूट-पाट तथा कुरीतियाँ तब तक दूर नहीं हो सकते जब तक समाज के हर तबके तथा स्तर का व्यक्ति शिक्षित नहीं हो जाता। प्राचीन भारतीय जीवन मूल्यों पर आधारित शिक्षा और शिक्षा और शिक्षा के केन्द्र श्री चन्द्र जी के समय नष्ट हो चुके थे। वैदिक शिक्षा के द्वार केवल द्विजातियों के लिए खुले थे, उनमें भी विशेषता ब्राह्मणों की थी। इस्लामी मदरसों में धार्मिक शिक्षा भी सीमित लोगों के लिए थी। श्रमिक,

मजदूर, किसान, सेवक, दास, नारी सब शिक्षा से वंचित थे। गांवों की दशा तो और भी खराब थी। धार्मिक कट्टरता उग्रवाद का रूप धारण कर चुकी थी। मुगल पदाधिकारी एवं उच्च वर्गीय सामंत आचरण भ्रष्ट हो गए थे। शाहजहाँ के राज्यकाल से अमीर वर्ग के चारित्रिक पतन का प्रभाव व्यापक हो गया था, स्त्री और मदिरा के अनवरत साहचर्य ने उनकी नैतिकता को नष्ट कर दिया था तथा अपव्ययता ने उन्हें अशक्त बना दिया था। वे व्यर्थ के मनोविनोद में अपना समय नष्ट करते और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए शक्ति संचय कर मनमानी करना चाहते थे। उनमें वीरता, विद्वत्ता एवं सदाचारिता के गुण न थे, वरन् वे मक्कार तथा घूसखोर हो गए थे। युद्धकला से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे और न उन्हें उसमें कोई रुचि ही थी। उन्हें केवल भोग विलास की सामग्रियों तथा दरबार के षड्यंत्रों से ही सरोकार था।[1] शाही दरबार भी विलासिता और भोग के केन्द्र हो गए थे। राजाओं और सामंतों में पारस्परिक कलह तथा विद्वेष बढ़ गया था। सरकारी कोष खाली होने लगे थे। यदि हिन्दूसमाज शिक्षित हो गया होता तो हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान का कार्य तभी शुरु हो गया होता। श्री चन्द्र जी की ही राजनीतिक-धार्मिक प्रेरणा थी कि राजस्थान और मराठावाड़ में हिन्दूधर्म और राजनीति का संगम हो सका। समर्थ स्वामी की भेंट श्री चन्द्र जी से हुई थी और उसका सुपरिणाम हिन्दूपादशाही के रूप में निकला। पंजाब में सिख गुरुओं ने हिन्दूराष्ट्र के उत्थान की नींव डाली। धर्म आन्दोलन के साथ समाजोद्धार का आन्दोलन शुरु हुआ, श्रीचन्द्र जी ने घोषणा की –

चेतहु नगरी तारहु गाँव ।

यद्यपि अकबर तथा जहाँगीर शिक्षा प्रेमी थे। जहाँगीर की शिक्षा मौलाना मीर कलाँ तथा अब्दुर्रहीम खानखाना के तत्त्वाधान में हुई थी पर साधारण जनता तक शिक्षा नहीं पहुँच सकी। संस्कृत पाठशालाएँ और मदरसे भी प्रचुर मात्रा में न थे और इनका उपयोग भी वर्ग विशेष तक

---

1. *मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास - डॉ0 ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ 553*

ही सीमित था। ऐसे वातावरण में श्रीचन्द्र जी ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली के उद्धार की बात की और '*गुरुकुल*' न होने का दुःख भी व्यक्त किया यदि उस समय गुरुकुल स्थापित होते और समानशिक्षा देशवासियों को मिल जाती तो देश की अवनति और अधोगति न होती। उनकी दृष्टि में समस्त बुराइयों का मूल अशिक्षित होना था। शिक्षा भी वह पूर्णतया योग्य गुरु और शिष्य के निकट सम्बन्धों पर स्थापित '*गुरुकुलीय प्रणाली*' पर ही श्रेयस्कर मानते थे। आश्चर्य होता है कि आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की महत्ता बताते हुए गुरुकुलों की स्थापना पर बल दिया तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल स्थापित कर भारतीय शिक्षा क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम उठाया, उसकी ओर पहली बार संकेत श्रीचन्द्र जी ने ही किया। गुरुकुल नाम का उपयोग भी उन्होंने ही संतकवियों में पहली बार किया। उनसे पूर्व केवल भागवत में सांदीपनि के गुरुकुल की चर्चा मिलती है।

सिद्धान्तसागर में वह कहते हैं-

बिन सीखै ही सीख हैं रति तिरयन संगा ।
जग महिं गुरुकुल कहां हैं सिखवन्त कुढ़ंगा ।
यार चोर जुआरिये बदपार निसंगा ।
परद्रोह कुटिल कुनीति कै हिंसा नर अंगा ।
बहुविधि नाच नचावईं करि करि तन नंगा ।
चित्तहुं मानव बुझई अवगुण सर्वंगा ।
सन्त सिखावत रैण दिन उरधार उमंगा ।
राम रमहु बड़भागीयहुं जल पावन गंगा ।
मनमुख सूझ न आवई पढ़ रंग दुरंगा ।
समझत नांहिन श्रीचन्द्र मारग हरि चंगा ।।

कुढ़ंगे शिक्षकों तथा भोगवादी शिक्षा से कभी कल्याण नहीं हो सकता। संतों की शिक्षा ही मानव का कल्याण कर सकती है। साक्षर होने, विद्वान्

होने, कलाकार होने तथा बहुविद् होने के साथ-साथ उसे निरन्तर राम नाम का स्मरण करते रहना चाहिए। वह सिद्धान्त रूप में उद्घोष करते हैं-

चेतहु नगरी तारहु गाँव,
अलख पुरुष का सिमरहु नांव ।
एक सिद्धान्त मरण पर्यन्त,
राम नाम सिमरण सँग संत ।।

★ ★ ★ ★

सिद्धान्तसागर में आत्मपरिचय

आचार्य श्री ने मात्रा शास्त्र में '*नानक पूता श्रीचंद बोले*' तथा '*गुरु अविनासी खेल रचाया*' कहकर अपने पिता नानक जी तथा अपने गुरु श्री अविनाशी मुनि का उल्लेख किया है। अन्तः साक्ष्य के रूप में सिद्धान्त सागर में कुछ अधिक सामग्री प्राप्त होती है। वहाँ उन्होंने अपने पूर्ववती तथा समसामयिक संतों का उल्लेख किया है तथा अविनाशी मुनि का गुरु रूप में अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। इस अनेकशः उल्लेखों द्वारा इस भ्रम का निराकरण हो जाता है कि वह श्री नानक जी के शिष्य थे। वह स्वयं को श्री नानक जी का पुत्र मानते हैं, शिष्य नहीं।

आदि सत्गुरुपाद मनाय ।
अविनाशी गुरु पुरुष विधाता, सदा रहहुं ताकी शरणाय ।
श्री चन्द्र गुरु परम पुनीता नित्य नूतन हरि देवा ।
होत दयाल जाहि नर ऊपर ताहिं जनावत भेवा ।।

• • •

अविनाशी गुरु पूरा,
आगम निगम सुझावत गुरुमुख पारब्रह्म भरपूरा ।

• • •

अविनाशी गुरुदेव के सदा रहूँ पग लाग,
जाहि कृपा ते पाययो पूरण ब्रह्म सुहाग ।

• • •

काटी फाँसी गुरु अविनाशी दीनो नाम खजाना,
तोट न आवै वधतो जावै जीव जन्तु जगदाना ।

• • •

आयो भर आयोभव गुरु अविनासिया ।

• • •

मिलि अविनाशी काटी जन्म मरण फाँसी-
खासी साधु संग की अचभव कहानियै ।

• • •

अविनाशी सत्गुरु का संग, श्रीचंद रंगत प्रभुरंग ।
गुणनिध्.न अविनाशीराया, जिव जन्तु सभ सुखी बसाया ।
अगम अगोचर खेल रचाया, श्रीचन्द्र अविनाशीराया ।
अविनाशी भरतार मिलाई, श्रीचन्द्र लड़ि दृढ़ पकराई ।
श्री चन्द्र अविनाशी देव, सिमर सिमर लहियै उरभेव ।।

• • •

लटकत उलटे झूलत झूलत सूए नलिनी टूटी,
अविनाशी गुरु वाक्य सुनत ही श्रीचन्द्र पहु फूटी ।

• • •

नक्र वक्र कछुप गज नागहि भव निज माहि लपेटा,
श्रीचन्द्र कहु भुज गहि राख्यो गुरु अविनशी भेटा ।

• • •

गुरु अविनाशी की शरणाई संसे भरम मिटाया ।
गुरु अविनाशी की शरणाई नाम पदारथ पाया ।
गुरु अविनाशी की शरणाई अनहद नाद बजाया ।
गुरु अविनाशी की शरणाई जत सत संयम आया ।

गुरु अविनाशी की शरणाई पार ब्रह्म दृष्टाया ।
गुरु अविनाशी की शरणाई सुखनिधि मांहि बसाया ।।

• • •

गुरु अविनाशी सेव परम सुख पाया,
अगम अगाध अपार अगोचर ध्याया ।

• • •

आशा तृष्णा सकल विनासी, परम पुरुष सतिगुरु अविनाशी ।
मिलै संत धीर दई हरिनाम दृढ़ाया, श्री चंद सतिगुरु शब्द अविनाशी राया ।।

• • •

अविनाशी सतिगुरु पूरा जास कृपा मन ठाय,
आप बसै निश्चल सिंहासन तृष्णा भूख बिनसाय ।
लागी तारी गुरुमुखी अविनाशी नाम,
चरणकमल श्रीचंद लहि बिनसी उरधाम ।।

• • •

गुरु अविनाशी कारण करण,
श्री चंद गहिचरणन शरण ।
आदि निरंजन सतिगुरु अविनासी देवा,
सतिगुरु के प्रसाद ते पईयत हरि भेवा ।।

श्रीचन्द्र जी के हृदय में दलितों के उद्धार की प्रबल कामना थी। अछूत कहे जाने वालों को परमात्मा की संतान बताकर तो उन्होंने एकता का उपदेश दिया ही, साथ ही युधिष्ठिर के यज्ञ की पूर्णता में एक शूद्र को आमंत्रित किए जाने की बात कहकर उनकी महत्ता उन कट्टर पौराणिकों तथा धर्मशास्त्रियों के बीच स्थापित की जो उनकी परछाई को भी पाप मानते थे। युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण से पूछा कि उनका यज्ञ पूर्ण हुआ या नहीं। यज्ञ में यद्यपि बड़े-बड़े संत, महात्मा, ऋषि, मुनि, विद्वान्,

योगी, राजा-महाराजा, स्वयं नारद और व्यास पधारे थे पर श्रीकृष्ण ने कहा, आपके नगर के बाहर एक वाल्मीकि नामक शूद्र रहता है, जब तक आप उसे यज्ञ मण्डप में आसन पर बैठाकर भोजन नहीं कराएँगे तब तक यज्ञ अपूर्ण रहेगा। युधिष्ठिर ने अपने दासों को उसे बुलाने के लिए भेजा पर वह नहीं आया, मंत्रियों को भेजा पर वह नहीं आया, अपने भाइयों को भेजा, इस पर भी वह नहीं आया युधिष्ठिर आहत हुए, उन्होंने श्री कृष्ण से प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने गृहलक्ष्मी भक्त द्रौपदी को भेजने का परामर्श दिया। देवी द्रौपदी ने राम नाम लेते हुए उस शूद्र भक्त को श्रद्धापूर्वक आमंत्रित किया। वाल्मीकि नामक वह भक्त जब यज्ञ मण्डप में पहुँचा और युधिष्ठिर द्वारा श्रद्धापूर्वक दिए गए आसन-आतिथ्य को उसने स्वीकार किया तो मण्डप में रखे नगाड़े स्वयं बजने लगे। श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर के यज्ञ की पूर्णता की घोषणा की। इस घटना को श्रीचन्द्र जी ने छुआछूत की दीवार तोड़ने के लिए अपने एक पद में प्रस्तुत किया। सामंती समाज की दूषित मानसिकता को बदलने के लिए उन्होंने ऐसा किया। वह कबीर की तरह निर्मम भाषा और तर्क का प्रयोग नहीं करते। वह कथा के माध्यम से सामाजिक त्रासदी का समाधान प्रस्तुत करते हैं। वर्ण व्यवस्था और स्थूल धार्मिक जड़ता पर प्रहार करते हैं पर मीठे ढंग से। श्रीचन्द्र प्रेम एवं करुणा के संत कवि हैं उनकी दलितोद्धार चेतना आज भी प्रासंगिक है –

> हे मन प्यारे साजना, कोटि यज्ञ फल लहियै राम ।
> हे मन प्यारे साजना, हरि नामहि उर गहियै राम ।
> राम नाम गहिये मन अन्तर कोटि यज्ञ फल पावै ।
> वाल्मीकि पंहि जाय द्रौपदि पग पग यज्ञ जणावै ।
> राम नाम जप करते ऊपर भारत साख सुणाई ।
> श्रीचन्द्र तब राम नाम की महिमा किमि वरणाई ॥

उनका कथन था कि मलमूत्र से भरी यह देह पवित्र-अपवित्र नहीं है। जब तक इस स्थूल देह का सम्बन्ध रहेगा तब तक छुआ-छूत,

ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र का भाव रहेगा। यही द्वैत बुद्धि विषमता को जन्म देती है ओर विषमता ही समस्त बुराइयों की जड़ है, प्रेमभाव से सबमें समता का व्यवहार होने पर ही प्रभु की प्राप्ति हो सकती है, व्यक्ति और समाज के लिए यही शुभ है –

मलमूत्री पावन नहीं, पावन प्रीतम रंग ।
छूटै ही ते पाइए, हरि प्रभु केरा संग ।
जहाँ दोय तहाँ देह है, एक विदेह अलोक ।
लगन लगी कुण्डी अड़ी खैंचे किये अशोक ।
दुश्मन दूत न रहिया कोऊ मित्र सहायक होये ।
ब्राह्मण क्षत्री शूद्र चंडाला सुत ब्रह्मै बिगसोये ।
भ्रममय मेट गवाय, पार ब्रह्म लिवलाय कै ।
सम महिं एक समाय, ऊणी थांऊ न जगत् महिं ।।

मात्राशास्त्र उनकी दीक्षा प्राप्त करने के बाद लिखी गई रुहानी रचना है, रचनाकाल की दृष्टि से यह तरुणावस्था की कृति है जिसमें वेद-वेदांग, निगमागम के सिद्धान्त सूत्र रूप से उल्लिखित हैं पर सिद्धान्तसागर उनकी सम्पूर्ण जीवन यात्रा का निचोड़ है, इसमें संकलित वाणियाँ उनकी विराट यात्राओं के दौरान कही गईं। भाषा, भाव, शैली और छन्द की दृष्टि से इसीलिए इनमें वैविध्य है। इसमें चार पद ऐसे भी हैं जो आचार्य श्री के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालते हैं। मेरा अनुमान है कि सिद्धान्त सागर का संकलन-सम्पादन आचार्य जी के तिरोधान से कुछ वर्ष पूर्व हो गया था। वह ब्रह्म रूप थे, उन्होंने सम्पूर्ण जीवन लीला '*काल के कौतुक*' के रूप में की थी। यम की मर्यादा तोड़कर वह अमर पद वासी हुए। अपनी इच्छा से धर्म प्रचार करते रहे और स्वेच्छया ही उन्होंने अपनी लीलाओं का पटाक्षेप कर दिया। वह शिवावतार आज भक्तों की इच्छा के अनुसार ही दर्शन देते हैं।

उनकी जीवन यात्रा की झाँकी प्रस्तुत करने वाला महत्वपूर्ण पद इस प्रकार है। इस के चार खण्ड हैं –

मत माता शुभ जाया पितु संतोष प्रधाना जीऊ,
बालक जन्म भया भैण भाई गुणमाना जीऊ,
भैण भाई गुण हर्ष बेअन्ता बाजे शब्द बजाये,
पुरजन गुरुजन सुरजन सरसे देवन लाग बधाये,
रलमिल सखियां मंगल गाए तोरण बन्दनवार सजा,
श्री चन्द्र का जन्म सुहाया भव आया हरि नाम भजा । ।।1।।

दुतिया तरुण भया वेद पढ़ाया जीऊ,
स्मृति सर्व पुराण शास्त्र गहाया जीऊ,
शास्त्र गाहे पाहे राहे अविनाशी गुरु पूरे,
मुसहफा लाए हदीस दृढ़ाई गुणवासे सुखमूरे,
सबर संतोख नाम धन पल्ले गंठ बंध अनदाया,
पूर्ण भये भण्डार श्रीचंद्र सज्जन संत सहाया । ।।2।।

ढ़ली जवानी कर्म कमाने आवन लागै याद जीऊ,
साधु संग सफलायो जीवन नारायण लगि पाद जीऊ,
पदनारायण लागि सफले रही न चिन्ता काई,
करने हारे परगट कीने घटि-घटि सुरति समाई,
जीवन सफल गाविंद दयाया तरुण न लागा दागा,
भव आया श्रीचंद्र सुहाया पूरब उत्तम भागा । ।।3।।

वृद्ध शरीर भया चल्लण भाया जीऊ,
कालहिं रचना कीन काल खपाया जीऊ,
काल खपाया लीन मिलाया पंचै तत्त बियोगा,
पौन पानी अगि गए सिधाई भोग भुगाए भोगा,
धर्मराय की कान निवारी अचल अमर पद पाया,
ब्रह्म ब्रह्म श्रीचन्द्र समाणां कौतुक काल रचाया । ।।4।।

इस पद से एक सम्पूर्ण जीवन जीने वाले यात्री के जीवन विधायी गुणों का भी परिचय मिल जाता है। बाल्यावस्था में परिवारी जनों में बालक के अनन्त संभावनाओं से भरे भविष्य की सुखद कल्पना रहती है। माता,

पिता, भाई, बहन, पुरजन, कुलवाले तथा अन्य मित्रगण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। परिवार में आनन्द मंगल का माहौल बना रहता हैं तरुणावस्था में विद्याध्ययन किया जाता है। यदि योग्य मार्ग दर्शक मिल जाए तो जीवन आदर्श बन जाता हैं शास्त्रों का सार जीवन में उतर जाता है। धैर्य, संतोष और नाम का धन उसे समृद्ध बनाता है। कुसंग से बचकर वह सत्संगी हो तो किशोरावस्था सफल हो जाती है। युवावस्था में यदि जीवन की चादर पर कोई दाग न लगे तो समझो जीवन सफल है। शरीर के वृद्ध होने पर योगाभ्यास द्वारा तत्वों का तत्वों में विलीनीकरण कर योगी मृत्यु के पाश से छूट जाता हैं आत्म साक्षात्कार द्वारा वह ब्रह्मनिष्ठ यम की मर्यादा को टूक-टूक कर देता है। उसे अविचल पद प्राप्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। काल की दाल उसके सामने नहीं गलती। ब्रह्मीभूत वह योगी अमर हो जाता है, कालिदास ने भी कहा था –

शैशवेभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्,
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।

एक बात बड़े आत्म विश्वास के साथ आचार्य श्री कहते हैं और वह यह कि उनका जीवन इसलिए भी सफल है कि तरुणाई बेदाग निकल गई- '*तरुण न लागा दागा*'। जिस युग में योगी, सिद्ध तथा शाक्त, बाउल, सहजिया, वैष्णव सभी तरुणियों के साथ रमण करने में मुक्ति का मार्ग ढूंढ रहे थे तब ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कर उन्होंने वैदिक जीवनादर्श को जीवन दिया। '*ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत*' देवताओं ने मृत्यु पर विजय ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त की थी। उनकी देह सूक्ष्म का प्रतिबिम्ब मात्र थी। संत सुन्दर दास जी ने कहा है, संत आकाश में उड़ते पक्षी की तरह होता है, जैसे उड़ते पक्षी की छाया ही पृथ्वी पर रहती है, वैसे ही संत ब्रह्माकाश में उड़ता है। स्थूल देह उसके क्रियाकलाप का केन्द्र है जो छाया मात्र है, जिसका होना न होना बेकार है। जो आभास है, पकड़ से बाहर है। योग की क्रिया को आचार्य कौतुक कहते हैं। दादू ने कहा था,

तुम यदि अपनी सुरति को जगत्गुरु में लीन करना चाहते हो तो इस कौतुक को तुम्हें अपनी दोनों आंखों को उलटकर देखना चाहिए –

जहाँ जगत गुरु रहत है, तहाँ जे सुरति समाय,
तो दोनों नैना उलटि करि, कौतुक देखै जाये ।

'*ब्रह्म ब्रह्म श्रीचन्द्र समांणा*' शब्द सुरति से शब्द ब्रह्म में लीन होने का संकेत देता है, काल तथा कालजन्य पदार्थों से निर्मित देह के सभी घटक मूल घटकों मे मिल जाने के बाद केवल शब्द ब्रह्म रह गया है और अब इसी के माध्यम से श्री चन्द्र जी को पाया जा सकता है। मुक्तावस्था के अनेक मनोरम चित्र सिद्धान्त सागर में मिलते हैं। यह स्वीकारोक्ति उनके शब्द ब्रह्म रूप होने का वैसा ही प्रमाण है जैसा वागांभृणी सूक्त में वाग्देवी का कथन स्वतः प्रमाण है। सिद्धान्त और व्यवहार, कथनी और करनी का ऐसा धनी ही कालजयी कारक पुरुष हो सकता है –

अनहद वाणी ऊपजी सुन्न समाधि समाय ।
श्री चन्द्र मन उज्ज्वला पाया प्रीतम राय ।
शब्द सुन्न प्रगटाया कमल खिड़े भिनुसार ।
आनन्द भया मन श्री चंद्र भेटिया अपर अपार ।
पद्मासन स्थित अचल सिंहासन सहज समानो खुले अकाशा ।
परम पदारथ पाय कृतारथ श्री चन्द्र दृढ़ निर्मल रासा ।।

योगी संत बुद्धिप्रधान ज्ञानाश्रयी होता है पर भक्त योगी भाव प्रधान रसाश्रयी होता है। वह मानव जीवन के सहज निकट रहता है तथा ज्ञान और भाव की भूमि पर विराट् चेतना से जुड़ता है। लोक जीवन में ज्ञान और भक्ति की वृत्तियाँ गहरा रंग उत्पन्न करती हैं। मनुष्य के निजत्व का विस्तार करती हैं, उसके चरित्र और व्यक्तित्व का संस्कार करती हैं। डॉ0 गुलाबराय का कथन है कि 'हमारे जीवन में भावों और मनोवेगों का विशेष स्थान हैं सुख और दुःख को हम भाव कहते हैं। रति, उत्साह,

भय, क्रोध, घृणा, विस्मय आदि मनोवेग हैं। मनोवेग सुखात्मक भी होते हैं और दुःखात्मक भी। रति, हास्य, विस्मय उत्साह सुखात्मक हैं और शोक, घृणा, भय, क्रोध आदि दुःखात्मक हैं। बहुत ऊँचे त्रिगुणातीत क्षेत्र में पहुँचे हुए लोगों की दृष्टि में ये मनोवेग द्वन्द्व और रागद्वेष की संज्ञा में गिने जाकर चाहे हेय समझे जाएँ किन्तु आधारण लोक जीवन के व्यावहारिक धरातल में ये हमारी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक वृत्तियों को हलका या गहरा रंग देकर उनमें निजत्व उत्पन्न करते हैं।'[1] काव्य में भावों और मनोवेगों का महत्वपूर्ण स्थान है। कविता में भावों की अभिव्यक्ति होती है। श्रीचन्द्र जी श्रेष्ठ कवि हैं। उनके काव्य में विधाता के कर्तृत्व को लेकर विस्मय, तप और योग साधना में कृच्छ्र साधनाएँ अपनाते हुए उत्साह, भवाटवी की जटिलता और काल की नश्वरता से भय, माया के प्रति उपेक्षा तथा जीवात्मा की नटता से हास्य और आत्मा-परमात्मा तथा शिष्य और गुरु के निकट सम्बन्ध से रति जैसे मनोवेगों का गहरा चित्रण मिलता है। प्रेम और चिन्ता जैसे अमूर्त भावों की सफलतापूर्वक व्यंजना उन्हें किसी सगुण मार्गी भक्त कवि से कम नहीं सिद्ध करती। मानवीय भावों की विविध तरंगें उनके सिद्धान्तसागर में उठती-गिरती दिखाई पड़ती हैं। उनके उपदेश मानवजाति के लिए थे। मानव जाति की भावसम्पदा समान होती है, उसके भाव, विचार, संवेदनाएँ और इच्छाएँ प्रायः एक जैसी होती हैं। जो भाववृत्तियाँ मानव के समग्रजीवन को प्रेरित तथा क्रियाशील बनाए रखती हैं वही काव्य को भी जन्म देती हैं। प्रायः साधारण जीवन में पुत्र, धन तथा यश की कामनाएँ प्रेरक होती हैं पर संन्यस्त जीवन में आत्मसाक्षात्कार की प्रेरणा ही उसे गतिशील बनाती है। बृहदारण्यक की श्रुति इसका समर्थन करती है –

एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थायाय भिक्षाचर्यं चरन्ति।

1. *सिद्धान्त और अध्ययन – पृष्ठ, 175*

आत्म और अनात्म का विवेक उसमें निर्वेद जाग्रत करता है। चेतावनी और प्रबोधात्मक पदों में जहाँ जगत् से पृथक् होने की बात कही जाती है, वहीं सम्पूर्ण प्रकृति और प्राणियों में आत्मभाव पैदाकर निज का विस्तार किया जाता है। उपनिषदों ने इसे भूमावृत्ति कहा है, '*यो वै भूमातत्सुखम्*' श्रुति से भूमावृत्ति सुखात्मक सिद्ध होती है। आत्मविस्तार की रागात्मक और ज्ञानात्मक दोनों प्रक्रियाएँ हैं। वैचारिक धरातल पर आत्म-अनात्म का अभेद, ज्ञान की प्रक्रिया है तथा भावात्मक धरातल पर यह अभेद रागात्मक या भक्ति प्रधान प्रक्रिया है। '*सर्वंखल्विदं ब्रह्म*' ज्ञानात्मिका प्रक्रिया की अनुभूति है तथा '*रसोवैस:*' भावात्मक प्रक्रिया की अनुभूति है। संतकाव्य के आस्वाद का विवेचन करते हुए इसीलिए इसका लक्ष्य '*आत्म विस्तार*' माना गया है। कविता आत्म विस्तार की दिशा में सबसे कारगर साधन है। तात्पर्य यह कि संत काव्य भी भक्तिकाव्य की तरह अपने मूल रूप में रागात्मक ही है जिसका सम्बन्ध निरन्तर विचारशीलता से बना रहता है। भावप्रेरित विचारात्मकता उसका केन्द्रीय भाव है। डा0 गुलाबराय जी का कथन है कि 'साहित्यकार भावप्रेरित होकर ही जीवन को देखता है और उसके भावों के केन्द्र बिन्दुओं के सहारे विचार इकट्ठे होने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिश्री के कूंजे में धागे और बाँस की खपच्ची के सहारे मिश्री के कण इकट्ठे हो जाते हैं।' [1] यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भाव ज्ञान विहीन नहीं होते। सभी भाव ज्ञानाश्रित होते हैं अत: काव्य में भाव और ज्ञान का विरोध नहीं। संतकाव्यकारों में इसीलिए आचार्य श्रीचन्द्र जी ने भक्ति-ज्ञान के सामंजस्य की बात कही है। दार्शनिक और भावात्मक अवधारणाओं से भी उनकी स्थापना परिपुष्ट जान पड़ती है। आत्मविस्तार की वृत्ति का परिंचायक एक पद लीजिए –

पूर्व पुण्यप्रताप हरि सतिगुरु मिलाया,
कृपाकरि कै आपणी हरि नाम दृढ़ाया ।

---

1. सिद्धान्त और अध्ययन - पृष्ठ 128

अन्तर आतम शान्ति बसाई ।
भटकण सगरी दूर भई हरि चित्त समाई । ।।रहाऊ।।
कालख लाथी बुद्धि की रवि किरण प्रकासी,
चिड़ीया चुहकी पउफूटी प्रभु आया रासी ।
आनन्द मंगल गुण गाइयै दिनि रात सुहेले,
मगन भये रस रामस्यों रंग रलीयां केले ।
जप जप नाम नारायणै गगनि चढ़ि धाये,
सहिजभयो श्रीचन्द्र मन गोविन्द प्रगटाए ।।

यहाँ सहिजभयो का तात्पर्य है प्रकृत अवस्था, वह स्थिति जब जीवात्मा और परमात्मा सयुज सखा के रूप में रहते हैं, जीवात्मा का परमात्मकृपा से कर्मफल भोगना समाप्त हो जाता है। पिप्पली रूप कर्मों के फल से जब मुक्ति मिल जाती है तब जीवात्मा के हृदय में गोविन्द प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान का फल है बुद्धि दोष या अज्ञान की समाप्ति। भक्ति का फल है गोविन्द तत्त्व का साक्षात्कार। दोनों के परिणामों का संयुक्त रूप है सहजावस्था की प्राप्ति। सहजिया संतों से यह प्रक्रिया भिन्न है। श्रीचन्द्र जी की भावप्रेरित ज्ञान साधना इसका केन्द्रीय भाव है, मूल विचार बिन्दु है। सुन्न की झंकार सुनते हुए भी वह पति के दरबार में सुरांगना के रूप में ही जाना पसंद करते हैं –

मंगल पाठ सुरांगणा पति पाया दरबार,
नृत्य नचावण आईयां रागनाद ध्वनि चार ।
शब्द सुन्न प्रगटाया कमल खिड़े मनसार,
आनंदभया मन श्रीचन्द्र भेटिया अपर अपार ।।

• • •

लीनभये आतम रस माहीं ।
ओपायो सो कह्यो न जायो जाति प्रकास अगाही ।
इक आयो इक गयो बिलाई किनहूं जान न पायो ।
अगम अगोचर सद अविनाशी अन्तर ही उपजायो ।।

'*इक आयो इक गयो बिलाई*' से अज्ञान के निवृत्त होने तथा प्रभुकृपा के प्रत्यक्ष होने का एक साथ चित्रण कर आचार्य फिर भक्ति ज्ञान समुच्चय की ओर इशारा करते हैं।

प्राणी की रागात्मक क्रियाओं में भाव एवं संवेग का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सुख, दु:ख, भय, प्रेम, क्रोध, चिन्ता, आश्चर्य तथा हास्य के अनुभव होते रहते हैं। इस तरह की और भी अनुभूतियाँ होती है। जो हमारे चेतन पक्ष से सम्बन्धित होती हैं। संवेग के तीन पक्ष होते हैं 1. *अनुभव* 2. *व्यवहार* तथा 3. *अन्तरांगीय क्रियाएँ*। *बुडवर्थ* नामक मनोवैज्ञानिक ने संवेग को प्राणी की उत्तेजित अवस्था बताया है। इसमें *वुण्ट* के अनुसार अनेक भावों तथा शारीरिक संवेदनों का संमिश्रण रहता है। ये प्राय: सुखद या दु:खद होते हैं। मनोवैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि भाव और संवेदन दोनों चेतन अनुभव के प्राथमिक घटक हैं, भाव संवेदन का गुण नहीं है क्योंकि बिना संवेदन के भी भाव का अनुभव होता है। संवेदन ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न होता है तथा भाव केन्द्रीय प्रक्रियाओं से उत्पन्न होता है संवेग तीन दिशाओं में प्रतीत होता है। 1. *सुख से दु:ख तक* 2. *शान्ति से क्षोभ तक* तथा 3. *शिथिलता से तनाव तक*। *वुण्ट* के शिष्य *टिनेचर* इनमें एक दिशा सुख से दु:ख तक स्वीकर करते हैं तथा शेष दो दशाओं को अनावश्यक मानते हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने संवेगात्मक अनुभव की चार परिधियाँ स्वीकार की हैं। 1. *तीव्रता* 2. *तनाव* 3. *सुख-दु:ख तत्त्व* तथा 4. *जटिलता*। मनोविज्ञान वेत्ता *अजीमुर्रहमान* ने लिखा है – "संवेगात्मक अनुभवों की तीव्रता निम्नतम से उच्चतम बिन्दुओं के बीच कहीं पर हो सकती है। क्रोध का संवेग साधारण खिन्नता से तीव्र क्रोधान्धता तक फैला हो सकता है। संवेग की तीव्रता जैसे जैसे बढ़ती जाती है, प्राणी उसमें उतना ही घिरता और डूबता जाता है।

तनाव से तात्पर्य क्रिया करने की ओर झुकाव है। तनाव से व्यक्ति किसी काम को करने के लिए बाध्य होता है। जो बाधा जितनी कठिन होती

है, तनाव उतना ही अधिक होता है और बाधा हटाने का प्रयास उतना ही बढ़ जाता है। शांत संवेगों में तनाव कम होता है। संवेगों की तीव्रता और तनाव के बीच गहरा सम्बन्ध है।

विभिन्न संवेग अपने सुख और दुःख की विमाओं में एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। शोक, लज्जा, पश्चाताप इत्यादि स्पष्टतः दुःखद अनुभव है। आल्हाद, गौरव आदि सुखद अनुभव होते हैं। कुछ ऐसे भी संवेगात्मक अनुभव हैं जिन्हें सुखद अथवा दुःखद कहना कठिन होता है। जैसे दया, आश्चर्य आदि।

यह निर्विवाद है कि संवेगात्मक अनुभव अत्यधिक जटिल होते हैं। इनकी जटिलता का तो यही प्रमाण है कि कुशलतापूर्वक इनका यथोचित वर्णन नहीं हो सकता है। विशेष रूप से जो संवेग अधिक तीव्र और अधिक तनाव वाले होते हैं, उनकी जटिलता प्रायः और भी बढ़ी हुई होती है परन्तु कुछ शुद्ध संवेग भी होते हैं जैसे भूकंप में शुद्धभय और पुरस्कार मिलने पर शुद्ध आल्हाद का अनुभव होता है।"[1]

संवेग अनेक प्रकार के होते हैं। मनोवैज्ञानिक *क्रेच* और *क्रचफील्ड* ने संवेगों को निम्न वर्णों में बाँटा है।

1. प्राथमिक संवेग : – इनमें हर्ष, क्रोध, भय और शोक को स्थान दिया गया है। हर्ष में लक्ष्य प्राप्ति प्रमुख है। लक्ष्य प्राप्त होने पर तनाव घटता है तथा आल्हाद का अनुभव होता है। क्रोध की उत्पत्ति लक्ष्य प्राप्ति की बाधा से होती है। परिचित बाधाओं से क्रोध तथा अज्ञात बाधाओं से कुंठाओं का जन्म होता है। क्रोध में बाधा खड़ी करने वाले के प्रति आक्रमणात्मक व्यवहार की अपेक्षा रहती है। भय में भय के उद्दीपन से पलायन की वृत्ति रहती हैं अपरिचित तथा विपरीत घटनाओं से इसकी तीव्रता बढ़ती है। शोक में प्रिय वस्तु के छिन जाने तथा नष्ट हो जाने का अनुभव होता है शोक तीव्र तथा मंद होता है। मन्द तीव्रता

1. सामान्य मनोविज्ञान : विषय और व्याख्या – पृष्ठ 463

के शोक का भी प्रायः अनुभव होता है जो चिन्ता या निराश जैसी स्थिति होती है।

2. **संवेदी उत्तेजन से सम्बद्ध संवेग :** – इस वर्ग में पीड़ा, जुगुप्सा और आनन्द नामक संवेग रखे गए हैं। तीव्र शारीरिक उद्दीपन से होने वाली पीड़ा भी संवेग उत्पन्न करती है। जुगुप्सा में बहुत से उद्दीपनों से बचने तथा अलग रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। किन वस्तुओं, व्यक्तियों एवं परिस्थितियों से जुगुप्सा उत्पन्न होगी, यह प्रधानतः व्यक्ति की अपनी संस्कृति और पूर्वअनुभवों से निर्धारित होती है। जुगुप्सा के विपरीत भाव का नाम है आनन्द । स्पर्श, वात्सल्य, गीत तथा नृत्य से आनन्द का अनुभव होता है।

3. **आत्ममूल्यांकन से सम्बद्ध संवेग :** – इसमें सफलता, असफलता का अनुभव, दोषीभावना, पश्चाताप, लज्जा और गौरव इत्यादि का समावेश किया गया है। व्यक्ति अपने व्यवहारों तथा विचारों को सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और राजनीतिक विचारों की कसौटी पर कसता है तथा परम्परित या नवागत मूल्यांकन के आधार पर या उसी कसौटी के निष्कर्ष के आधार पर ये संवेग उत्पन्न होते हैं। गौरव और लज्जा के अनुभव में निजी अंह की तुष्टि तथा वास्तविक अहं और आदर्श अहं के बीच टकराहट से उत्पन्न संवेग रहते हैं। जो लोग यथार्थ और आदर्श के भेद को स्वीकार कर आचरण करते हैं तो उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता।

यदि व्यक्ति यह अनुभव करे कि उसका व्यवहार नैतिक और सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप नहीं है तो उसमें दोषी भावना उत्पन्न होती है। दोषी भावना क्षणिक और दीर्घ कालीन होती है। दीर्घकालीन दोषी भावना की तीव्रता से पश्चाताप तथा आत्मस्वीकारोक्ति से ग्लानि उत्पन्न होती है। दोषी भावना का चेतन स्तर पर प्रक्षालन हो जाता है पर अचेतन स्तर पर जाकर वह व्यक्ति को कुंद, चिन्ताग्रस्त तथा कुंठित कर देती है।

4. अन्य व्यक्तियों के प्रति संवेग : – दूसरे व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति प्रकट होने वाले संवेग बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। घृणा और प्रेम इनमें प्रमुख हैं।

घृणा का क्रोध के साथ मैत्री सम्बन्ध है। लक्ष्य या अभीष्ट की प्राप्ति में बाधा पहुँचने पर, ईर्ष्यापात्र होने पर अथवा भयावह परिस्थिति पैदा कर दिए जाने पर घृणा का संवेग तीव्र हो जाता है व्यक्ति घृणित वस्तु, व्यक्ति तथा उसके व्यवहार में दोष दर्शन करने वाला लगता है। घृणित व्यक्ति तथा वस्तु को हम अपनी आँखों से परे हटा देना चाहते हैं, कभी-कभी अपने से भी घृणा हो जाती है। असामाजिक निंदनीय कार्य के कारण ऐसा होता है पर शुद्ध घृणा दूसरों के प्रति होती है। इस संवेग का आधार पूर्णतया निषेधात्मक होता है।

प्रेम संवेग में आकर्षण निहित रहता है। यह अनेक रूपात्मक संवेग है। शिशु, मित्र, माता, पति, पत्नी, प्रेमी-प्रेयसी तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु या मार्गदर्शक संत के प्रति प्रेम का भाव अलग-अलग रूप में रहता है। प्रेम में प्रिय पात्र के सान्निध्य, प्राप्ति तथा सदैव निकट और सहज सुलभ बनाए रखने की चाह रहती है। अभीष्ट प्राप्ति में बाधा पहुँचने पर संवेग अधिक तीव्र हो उठता है, प्रेम का सघनतम रूप रचनात्मक दिशा की ओर प्रेरित करता है। अनन्यता और श्रद्धा का मिश्रण हो जाने पर वह भक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेम प्रधान भक्ति में आसक्ति की प्रमुखता रहती है। इस वृत्ति में बाधक तत्वों के प्रति घृणा हो सकती है, क्रोध हो सकता है, उपेक्षा के कारण पलायन हो सकता है, क्षति की आशंका से भय हो सकता है, प्रेम की प्रौढ़ता तथा परिपक्वता सिद्ध करने के लिए असह्य कष्ट सहने की, तप करने की, तिल-तिल जलकर भी प्रेम को उदात्त बनाए रखने की उत्साह वृत्ति जाग सकती है। प्रेम पात्र मूर्त भी हो सकता है अमूर्त भी, दृश्य भी अदृश्य भी, प्रत्यक्ष भी परोक्ष भी। श्रवण, प्रत्यक्षदर्शन, चित्र-अवलोकन तथा रचना को देखकर उसके कर्ता के प्रति रागात्मक संवेग उत्पन्न हो सकते हैं।

हिन्दी आचार्यों ने यह बात दृढ़ता के साथ उठाई हैं कि निर्गुण-निराकार प्रेम का आलम्बन नहीं हो सकता। इसमें उसका रूप-रेख, आकार हीन होना मुख्य कारण हैं किन्तु संतकाव्य में विराट रचना को देखकर उसके पीछे विद्यमान कर्तापुरुष की प्रतीति विस्मय तथा राग की मिश्रित भावना उत्पन्न करती है। उसकी यह असाधारणता या विशिष्टता श्रद्धा का कारण है। श्रद्धेय साक्षात्कार की तीव्रता प्रेम को जन्म देती है और प्रेम की अनन्यता भक्ति के स्तर पर पहुँच जाती है। वेदान्त कण-कण में प्रभु की सत्ता विद्यमान मानता है। चन्द्रमा में प्रिय प्रभु की मुख-कान्ति, सूर्य में उनके तन की आभा, नीलगगन में उनका विराट वपु, पृथ्वी में उनके चरणतल तथा अन्तरिक्ष में उदर मण्डल की रमणीय कल्पना ने साधकों को उसकी खोज के लिए सतत प्रेरित किया है। फूलों में उसे प्रभु की मधुर मुस्कान नाचती दिखाई देती है। नदियों तथा झरनों की कलकल में उसकी मीठी बोली गुंजरित जान पड़ती है, पत्तों को खड़खड़ाती पवन बहती है तो प्रिय के आगमन की आहट मालूम होती है। घटाओं में उसकी केशराशि तथा नक्षत्रों में उसके दीप्त नयन चकपकाहट उत्पन्न कर देते हैं। यह उन्माद प्रेम की दशा है। वातावरण में फैले इस उद्दीपन से भी हृदय में संवेग उत्पन्न होते हैं।

संवेगों की अवस्था में शरीर में विविध परिवर्तन होने लगते हैं। ये परिवर्तन बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के होते हैं। बाह्य परिवर्तनों को काव्यशास्त्रियों ने अनुभाव कहा है। संवेगात्मक स्थिति में क्योंकि हृदय की क्रिया बढ़ जाती है। प्रेम, क्रोध तथा भय में यह स्थिति अधिक तीव्र होती है अतः ये रक्त रसायनिक परिवर्तन भी व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते हैं। शारीरिक, मानसिक कार्यों को उत्प्रेरित करने में भाव तथा संवेगों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती हैं इन संचारी भावों के परिप्रेक्ष्य में हम श्री चन्द्र जी की बानी के कुछ नमूने देखेंगे। कवि के सर्जनात्मक चिन्तन की भाव प्रेरित भूमि ही उसे सार्वजनीन बनाती है।

प्रेम एक सघन भाव है, उसमें प्रेमपात्र की गहरी स्थिति विद्यमान रहती है, उसके मनोनुकूल होने के अलावा उसमें कुछ भी लौकिक मूल्य

प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती। वह तो केवल इतना ही जानता है –

सखी सुहागिनी संगमिलि, गावहि गीत गुविन्द,
परमेश्वर पति पाइए, बिनसहि दुतिया चिन्द ।
साजन पकड़ी मोरी बांह,
दूख भूख कछु रहि न मन महि सभ सुख नौनिधि दीनों ताह ।।

प्रेम की साधना में इष्ट की अप्राप्ति के कारण प्रतीक्षाजन्य आकुलता उत्पन्न होती है, इसे औत्सुक्य कहते हैं। प्रतीक्षा के अनेक भावपूर्ण चित्र सिद्धान्तसागर में मिलते हैं –

मोहना तुझ बिन खरी उड़ीणी,
गहि बहियां निज उर सों लाई बहुरि तजी क्यों वीणी ?

हे मोहन! मैं कब से खड़ी तेरी प्रतीक्षा कर रही हूँ। जिन बाहों को प्रेम से पकड़कर कभी हृदय से लगाया था, फिर उन्हें क्यों भुला दिया? आंखों में बादल उमड़-उमड़ कर झड़ी लगा रहे हैं। धरती गर्मी में जितनी तपी, उतने ही मेघों के बरसने पर भी तृप्त नहीं हुई। मैं विरह में जल तो रही हूँ पर मेरा भराव और संतोष नहीं हुआ। या विरह जन्य ताप ऐसा ही बना रहे तो अच्छा है –

नैनी जलधर उमड़िकै लाई धनी झरी,
धरती मति ग्रीषम जली अजहूँ नाहि भरी ।

प्रिय प्रवास में है, उनसे भेंट हो नहीं पाती। तब वह संदेश का सहारा लेती है। शृंगार में संदेश की महत्वपूर्ण भूमिका है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी में इसीलिए अनेक सुन्दर शृंगार-संदेश काव्य लिखे गए। श्रीचन्द्र की विरहिणी भी कहती है –

री सखीयों देहु संदेश ।
सांवल सुन्दर मन मोहन जू गयौ कौन से देश ।
साहिब तुझ ते बिछुड़ी कूंका मारां धाहां ।
जे तूं झलक बिखालिआं क्यों नहि गहीआं बाहां ।।

विरहिणी लज्जा छोड़कर कूक मार मार कर इधर उधर दौड़ती फिरती है, एक झलक दिखाकर प्रिय ऐसा गया कि फिर लौटा नहीं, उसने बाँह पकड़ कर उसे गले से लगाया नहीं। झलक दिखाने से प्रत्यक्ष दर्शन जन्य पूर्वानुराग की निष्पत्ति का संकेत मिलता है। यह वियोग शृंगार का एक भेद है। मान के चित्र सिद्धान्तसागर में नहीं मिलते। जीवात्मा का हीनत्व बोध इसका एक कारण है। इसीलिए दैन्य संचारी का वर्णन अधिक हुआ है। एक उदाहरण लीजिए-

मोको नाहीं ठाऊं साहुरे पेईए जीऊ ।
तुझ ही संग समाऊं बररस लेहीए जीऊ ।
बर रस लेही सहज सनेही अंग साक सब छोरे ।
खान पान कापड़ सिंगारा सभ प्रीतम के धोरे ।
बाझ प्यारे दूख अपारे सुख मंगल सभ साजा ।
एकोएकी श्रीचन्द्र नाह महाराज सिरताजा ।।

इसी के साथ पैदा होता है ग्लानि का भाव। जीवात्मा को अपनी असामर्थ्य का भान होता है और वह कह उठती है –

मैं अज्ञानी बाला ।
अनिक उपद्रव नित प्रति राता करहैं तूही सँभाला ।
रैणि अँधेरी मग नहिं सूझत गहिवर वन तमसाला ।
करुणाकर भुजगहि निज राखहु शरणागत प्रतिपाला ।।

विरहिणी जीवात्मा को अकेलापन बड़ा खलता है। उसमें अनिष्ट की प्रबल संभावना जाग उठती है। वह पुकार उठती है भय के कारण –

जंगल लग दुःख कंटवृक्ष मन अँधेर राह नाहीं ।
चिन्ता बाघ डरावणा हरि बिनु कापहिं प्राही ।
सिंह साँप भालक गजीं नर घेरो बन माँझ ।
किंह कहिए कित जाइए निसि काली घन मांझ ।।

भय की उत्पत्ति इसलिए भी कि जग नश्वर है, प्रत्येक प्राणी मरणशील

है। गर्वीला भी चिता पर जलता है उसे जलता देखकर विरहिणी के मन में निर्वेद जागता है –

केश घास सम जलत प्रचंड ।
कड़कड़ करत हाड़ के खंड ।
घृत सम मज्जा अगनि जलाय ।
फूटे खोपर लोग पराय ।।

• • •

इकक्षण दुनियाँ टिकन न पाई ।
जानयो जात न कब उपजत भये रवि ससि उड़ मंडल भरमाई ।
घोड़े मंडप महल अटारी ।
जिन कौ तू अपनो करि मानै सो सभ छिन महिं जात पधारी ।।

जगत् की अनित्यता और नश्वरता के कारण जगत् के प्रति वैराग्य और उदासीनता का भाव निर्वेद कहलाता है। इसमें आत्मावमानना का भाव रहता है। एक पद लीजिए –

हरि हरि नाम सिमर मन मांही ।
बड़ो अडम्बर बाघ बघंबर अंत संग कोऊ नहिं जाहीं,
दारा मीत पूत सनबन्धी सैन साक सब भाग पराहीं ।
पहिरण खावण भोग बहानै धन छीनन की निसिदिन चाही,
कब मरहैं ह्वै खाली बेहड़ा लम्मी सिर धरि सोइहैं बांही ।
घर महिं कंचन मोहरां दाबी भरै काढ़कै भोग भोगाहीं,
देख विचार सोच नर जियमहिं श्री चन्द्र तेरी कोई नाहीं ।।

यहाँ अन्तिम पंक्ति में पूर्ण रूप से पश्चाताप, विषाद और उदासीनता की व्यंजना हुई है। भौतिक सुखों के प्रति उदासीनता के बिना निर्वेद की सिद्धि नहीं होती।

जगत् और सांसारिक प्राणियों के स्वार्थपूर्ण व्यवहार को देखकर तथा दोषपूर्ण संसार के दोषों का विवेक द्वारा निश्चय हो जाने पर त्यागने और

फिर उसकी निंदा का भाव वीभत्स कहलाता है। श्रीचन्द्र जी जुगुप्सा भाव का चित्रण इस प्रकार करते हैं –

मानुस खावत प्रणक अहिंसी हड्डोरोड़ी कुत्ते ।
मुंह लागा लहु छूटत नाहीं असब हिलोरन जुत्ते ।
गिद्ध काक चीलां मंडराहीं ।
पेख मृतक दहि दिसि ते धावत द्रव्य की सूंघ सुंधाही ।।

• • •

ध्रिग ध्रिग जीवन मनमुखी खाय बधा या पेट,
करता पुरख न चेत्यो गरधभ भस्मै लेट ।

इसके अतिरिक्त प्रकृति वैविध्य से भरी है। विधाता की रचना लोकोत्तर है। वह अनेक रहस्यों से भरी है। जिज्ञासु के मन में यह सब देखकर विस्मय का भाव पैदा होता है । अद्भुत वस्तु रचना तथा अद्भुत कर्म करने वाले कर्त्ता पुरुष के लीलाकार्य को देखकर वितर्क और विस्मय का होना स्वाभाविक है। अद्भुत की अनुभूति में चित्त का विस्तार होता है। संतों ने जगत् की रचना का अद्भुत स्वरूप चित्रित किया है। उपनिषद, वेद और गीता में जगत् रूप वृक्ष का अद्भुत चित्रण हुआ है, जिसकी मूल ऊपर और शाखाओं का नीचे फैलाव दिखाई पड़ता है। साधना के लोकोत्तरफल का चित्रण भी विस्मय के भाव को ही पुष्ट करता है। उत्साह और विस्मय की मिश्रित व्यंजना देखिए –

जहर प्याला अमृत होवै, ब्रह्मणी होय चंडाली,
अंग अंगारे घड़घड़ दमकै, फूल बिछाये माली ।
कंटक सार सेज बिस्तारी सोय रह्या खुशहाली,
तत्तीरेत पुष्प होइ वर्षा चढ़ी चउगुणी लाली ।
हँस हँस सूली परसीयै, करवत हेठ कहाय,
ग्रीवा खड्ग सहारीयै, कंध न कबहुँ डुलाय ।।

• • •

बिन जिह्वा जप जापता बिन घ्राण सूँघागै,
बिन श्रवणन कै सुणै जोय बिन लागै लागै ।
सच्चा नेह अतुट है बिन तनहु भागै,
पावक प्रेम प्रजाल कै बिन दागै दागै ।
नाच न आवै बिना सिर ठुम ठुम धर पागै,
गोला सो बिन मोल कै उपजै अनुरागै ।
अनुकम्पा निज चित्त की प्रगटावत रागै,
धन्य धन्य श्रीचन्द्र जन जपि राम सरागै ।।

यहाँ कारण के बिना कार्य सिद्धि दिखाकर लोकोत्तर कृत्यों द्वारा विस्मय का भाव प्रकट किया गया है। योग क्रियाओं के वर्णन में भी कवि ने विस्मय और अद्‌भुत की सृष्टि की है। संसार चक्र में भटकते हुए अकेले प्राणी को उपायों के अभाव के कारण उत्साहहीनता का अनुभव होता है। तब गहरे विषाद में फँसकर वह पश्चाताप करता है। और यही पश्चाताप उसके मन को निर्मल बनाता है, पश्चाताप भक्ति के लिए अनिवार्य है। दैन्य और पश्चाताप का भाव इसे अहंकार से विमुक्ति दिलाता है। कवि कह उठता है –

करणहार करतार प्रभु राखहु शरणाही,
अवगुण चींत न धारियै दीजै निज बाहीं ।
ढूंढ थका सब जगत महिं आसर को नाहीं,
संग त्यागकर भाग गये पिखियन नहिं छाहीं ।
मातपिता हित नहिं रहा जन अपर कहाहीं,
सुख प्राप्त नित बांछते सुख प्राप्त नाहीं ।
पहिरण खावण लोचते फाके नहि रहाहीं,
सब संपद के मित्र जे, आपद तजि जाहीं ।
नारायण गोविन्द बिन बिनती कहु काहीं,
मया निधि श्रीचन्द्र परि निज दृष्टि वगाहीं ।।

ईश्वरोन्मुख हो जाने पर वह प्रभु के आश्रित हो जाता है, उसका कर्तापन

नष्ट हो जाता है। यही कर्तापन या अहंकार माया के बन्धन का कारण बनता है। अतः जीवात्मा पूर्णतः शरणागति ग्रहण करता है।

माधो हमरे बस कछु नाहिं,
जैसे पूरब तुम लिख दीनों तैसहि कर्मणरति मन माहिं ।

• • •

हरि जू दीजै नयन,
अन्धे लकुटी हीन को बिन साथी सुख है न ।

• • •

प्रभु तू बख्श लेहु निज दास,
अपनी माया धार गुरु गोविंद रामनाम दीजै मन आस ।

शरणागत होने पर प्रभु की प्राप्ति होती है। अभीष्ट प्राप्ति पर मन का प्रसन्न होना हर्ष संचारी कहलाता है। यह मन के प्रसाद की स्थिति है। कवि कहता है-

आपन राम ध्याया उर मेरा दुख नासी,
आत्म प्रकाश पाया रस कमल बिगासी ।
कीर्ति गाई राम नाम सुख सहज सुहेला,
श्रीचन्द्र आनन्द लहा सन्तन कै मेला ।

• • •

देरानी जेठानी संग, ननद सहेली सूहे संग,
बाबुल महतारी सज साज, खाट बिछाय दिखायो दाज ।

• • •

अनहद धुनि प्रगटाया, प्रभु गहिर गंभीरा,
श्रीचन्द्र मन मगन भया, लग बालक खीरा ।

योगी की परम साधना है, सुख और दुख, सफलता और असफलता तथा हर्ष और विषाद में एक रस रहना। इस स्थिति को काव्यशास्त्र में धृति संचारी कहा जा सकता है। स्थित प्रज्ञ ज्ञानी की इस मनोभूमि का चित्रण

सिद्धान्तसागर में भी हुआ है। कवि का कथन है–

दुविधा दूजै परिहरै एकै लिवलाया,
सुख दुख सम कर जाणया मन नाहिं डुलाया ।
राम नाम गुण आनंद स्यों चित मांहि बसाया,
पूरा सोई श्रीचन्द्र जिस अविचल थाया ।।

• • •

नाम समारहिं विरले केई तज हउमैं अभिमाना,
तांबा कंचन बिख या अमृत शत्रु मित्र सम जाना ।
विप्र चंडाल संगि समदृष्टि सृष्टी ब्रह्म उपाई,
श्रीचन्द्र हरि नाम निवासी ऊंच-नीच गुरुभाई ।।

रसों में शृंगार, अद्‌भुत, भयानक तथा शान्त रस के अच्छे उदाहरण सिद्धान्तसागर में मिल जाते हैं। सांसारिक विषयों के प्रति विराग तथा परमेश्वर के प्रति राग की प्रबल भावना भक्ति रस में मिलती हैं। श्रीचन्द्र ने अपने भक्ति पूर्ण पदों में इसी स्थिति का परिपाक किया है।

संत काव्य में भक्ति भाव के केन्द्र दो हैं– 1. गुरु तथा 2. परमेश्वर। गुरु विषयक रति तथा परमेश्वर विषयक रति पूर्ण पदों में श्रीचन्द्र जी ने अपनी असीम श्रद्धा और प्रेम का वर्णन किया है। गुरु सत्संग द्वारा जगत् की असारता का बोध कराते हैं तथा उसकी वासनाओं का भंजन करते हैं। वासनाओं के नाश को भी भक्ति कहते हैं– *भंजनात् भक्तिः*।

साधु बिन नाहि होत छुटारा,
सुत दारा धन मोह पसारा ।
मनमुख संग लहहिं बड़ दूख,
ध्रापसि नाहिन तृष्णा भूख ।।

ऐसे आत्मदर्शी गुरुदेव के प्रति अनन्य राग '*गुरुभक्ति*' कहलाता है। यहाँ गुरु आलम्बन और शिष्य आश्रय रूप हैं। जगत् के कष्ट गुरु शरणागति के लिए उद्दीपक हैं तथा गुरुदेव की वत्सलता प्रेरणा का कार्य कर रही हैं। भय, त्रास तथा विस्मय संचारी हैं।

सत्गुरु बिना अँधेरी रात,
अधिक लमेरी सुखपत सुख नहि महा भयानक स्वप्न लखात ।
गहवर बन अगनी चहुँ दिसि महिं कैसे पावहिं घात,
केते जलत तड़फते केते केते इत उत्पात ।
केतन धूड़ि पड़ी है धरणी केते उड़त अकासै,
केते सर सोखे हैं अनलै अनिल न दै अवकासे ।
तरुवर मंडल गगन झुलन्ते सगरे कड़कड़ बोले,
फल फूल पात साख बिनसानी महा अगनि के झोले ।
बाँह पकड़ सत्गुरु हिलायो बिनसी पीर सवाई,
अपर देश अरु जन्तु अपर ही श्रीचन्द्र गुरुपाई ॥

गुरु विषयक रति के अतिरिक्त प्रभु विषयक रति या प्रेम के चित्र भी मोहक बन पड़े हैं। परमेश्वर का अनन्य भजन या स्मरण ही भक्ति है- *भजनं भक्तिः*। भक्त आश्रय, प्रभु आलम्बन, कलियुग के दोष उद्दीपन एवं प्रभुशरणागति की अभिलाष तथा वितर्क संचारी है।

कलि आयौ दै चोट नगारा,
रणि ज्ञानिनि भेड़ स्नानिनि काली कमरी खंभ सम्हारा ।

• • •

प्रभु जी एकहि शरण तुम्हारी,
जोतन खेदन पाट उपाटन सिर पर सदा सन्हारी ।
भांजन ईंट बनाई ताई जल जल कष्ट सहारा,
नीर क्यों सीतल अचवायो तऊ न लहयो किनारा ।
मन्दिर उसरे खहित अकासहि कोटि बरस सिर भारा,
ठाड़ी होय रही नहि बोली सुनो बोल करतारा ।
जे तू करुणा निधान कृपा निधि है तुट्ठा मन माही,
सदा सेवा अपनी महि राखहु श्रीचन्द्र गुण गाही ॥

भगवान् कृपालु हैं, अशरण शरण हैं, बिना कारण के द्रवीभूत होने वाले

हैं, जिसका कोई नहीं होता उसे वह गले लगाते हैं, वह अनाथ नाथ तथा दीन बंधु हैं। उन्होंने दैत्यों का नाश कर देवताओं की रक्षा की है, यह पूर्व भक्तों का पूर्वानुभव है, वही पूर्वानुभव अब भक्त की स्मृति पूंजी है, श्रीचन्द्र जी कहते हैं–

अपनी भगती लाय प्रभु हरि अगम अपारे,
हम पापी अपराधिया तुम बखशन हारे ।
ज्यों जानहुं त्यों राख प्रभु मोहि किरपा धारे,
भव सागर बड़ि गहिर महि तारहु भुज धारे ।
सदा शरण महि राखते दुष्ट दैत्य बिदारे,
थंभ पाड़ प्रगटित भये हिरण्यकशिपु बिदारे ।
दोखी पकड़ पछाड़ियन सेवक सत्कारे,
आदी जुगादी रक्खदा भगतन पैजारे ।
जहाँ न भाई मीत बन्धु तंह राखन हारे,
नाम तुम्हारे लाग रहै श्रीचन्द्र मुरारे ।।

प्रिय की स्मृति रात दिन सताती रहती है। जड़ता, विवर्णता तथा व्याधि के भाव उसे घेरे रहते हैं, वह परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने के लिए व्यग्र रहती है, इस भाव का निरूपण देखिए–

बाहर निकसि न पावउं।
अन्तर महिल चितवती निसि दिन लागी लगन अमावऊं ।
खाना पीना रुचित न मन को क्या पीना क्या खाना ।
एती देर लगाई बाहरि मेरा कवन ठिकाना ।
झवि आवहु बंहु भई उड़ीणी नैन रहे टक लाई ।
अब तो आँसू आवत नाहीं सूक गयो जल साई ।
आवहु सज्जन संत प्यारे प्रीतम कहहु कहानी ।
श्रीचन्द्र कहु धीरज ह्वै है मिलि है प्रभु निरवानी ।।

भक्ति पूर्ण पदों में कवि ने उल्लास, हर्ष, निश्चिन्तता, आत्म विश्वास,

दृढ़ता, निर्भयता तथा प्राप्ति की आशा का भी सुन्दर चित्रण किया है। अभिनव भरत पण्डित सीताराम जी चतुर्वेदी के अनुसार अपने या अपने किसी इष्ट व्यक्ति के कार्य या किसी घटना के परिणाम की सफलता में अनिश्चित विश्वास को आशा कहते हैं। श्रीचन्द्र जी के एक पद में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

संत कथित याही व्याख्यान ।
अज्ञानी नर मूढ़ मति जन्म मरण लहि ज्ञान । ।रहाऊ।।
जीव दिया जिंह पार ब्रह्म सार करेसी सोय,
को भूखे तृप्ताव है जिंह गृह अन्न न होय ।।

श्रीचन्द्र जी ने ऐसी स्थित का भी चित्रण किया है जब मनुष्य का चित्त भोग-विषयों की ओर ऐसा बंध जाता है कि उसे अपने होने वाले अहित का भी ध्यान नहीं रहता। रजो गुण और तमोगुण उसकी बुद्धि को घेर लेते हैं। इस अवस्था को धृति भ्रंश कहते हैं।

विषय प्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ।

एक उदाहरण लीजिए-

राम नाम क्यों नाहिं चितारे।
परधन पर दारा रंग राता मानुष जन्म अकारथ हारे ।
इह लोके के भोग बिलासन आगल लोकै सूख बिगारे ।
चौरासी लख योनि फेर पा नरतन मिल्यौ न चित्त बिचारे ।
पूर्व कर्म पुण्य बड़ प्रकटे इभ समन्हाय खाक सिर डारे ।
हंस भयो भुगती थी मुक्ता काक बनों मुख विष्ठा सारे ।
सुर दुर्लभ एह मानुष देही विषय परां मुख धसयो गारे ।
सन्तन कह्यो मान नर बाबर श्रीचन्द्र सुरदेव जुहारे ।।

सन्तकाव्य में अनुभूति का एक रूप यह भी है कि वह प्रत्यक्ष और

वास्तविक होता हुआ भी भौतिक व्यापार नहीं है। प्रकाश रूप परमात्मा का अनुभव अति चेतन दशा में होता है। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल इसे परचा या अतिग अनुभूति का नाम देते हैं। संतों ने कहा है-

जगमग अंदर में हिया, दिया न बाती तेल,
परम प्रकासिक पुरुष का, कहा बताऊं खेल ।

ऐसी स्थिति उल्लास की होती है, यह परमानन्द के स्फुरण की अवस्था है। आध्यात्मिक उल्लास की यह अवस्था चिरस्थायी होती है। इस स्थिति में इन्द्रियों का कार्य व्यापार सहज रूप से मूल भावानुसार होने लगता है, शरीर संसार में घूमता रहता है और मन सुरति में लगा रहता है। यह अनुभूति द्रष्टा के जीवन का अनिवार्य अंग बन जाती है-

सहजा जीवन पाई,
जंह जंह पेखउ पार ब्रह्म अन दृष्टि न आई ।
लै आयो लै जाय क्या, कंह को अब जाई,
पार ब्रह्म पूरण धनी, सबलोक समाई ।
गुरु अविनाशी पाया, दिव्य दृष्टि दिखाई,
श्रीचन्द्र सब सुख निधां, हरि संग मिलाई ।।

इस प्रकार अनुभूति की सच्चाई तथा मानवीय भाववृत्तियों की अभिव्यंजना में श्रीचन्द्र जी ने आशातीत् सफलता प्राप्त की है। भाव प्रेरित ज्ञान साधना के वह प्रौढ़ कवि तथा साधक हैं। उनके उपदेशात्मक उद्‌गारों में सौन्दर्य, प्रेम, योग, अद्वयज्ञान तथा विरूप सौन्दर्य जन्य अवसाद के अनेक सुन्दर प्रेरित चित्र मिलते हैं। प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग है पर परम्परित प्रतीक होने से उनकी सुबोधता सुरक्षित है। कर्ता पुरुष के दिव्य क्रियाकलाप की रचना में रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, विभावना तथा विनोक्ति की छटा भी देखने को मिलती है। रूपक रचना भी सुन्दर है। प्रेम, विरह, करुणा, उत्साह, आत्मनिवेदन, दैन्य, जुगुप्सा, भय, क्रोध, निर्वेद, विस्मय तथा दाम्पत्य रति के वर्णन के साथ-साथ आध्यात्मिक

विवाह, भाव विरह तथा ज्ञान विरह का चित्रण भी प्रभाव. कारी मिलता है। विरहिणी साधिका की अभिलाष, आशा, आकांक्षा, संदेश, प्रतीक्षा, चिन्ता, प्रलाप तथा रूप सौन्दर्य जन्य लोभ की व्यंजना भी प्रभावकारी है। संत काव्य के उद्धारक डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का यह कथन ठीक है कि निर्गुण पंथ की धारा वैष्णव सम्प्रदायों के स्रोतों से फूटी किन्तु उसमें कुछ अन्य स्रोतों का जल भी मिश्रित होता गया था। प्रत्यक्ष है कि ये दूसरे स्रोत इस्लाम धर्म व सूफी सम्प्रदाय के थे। श्रीचन्द्र के काव्य में इन दोनों स्रोतों का जल वैदिक ज्ञान धारा के साथ मिला है। स्पष्ट है कि वह वेद की धारा को मुख्य धारा के रूप में अंगीकार करते हैं तथा उक्त दोनों धाराओं को साथ लेकर अपना मार्ग निश्चित करने में कोई परहेज नहीं रखते। उनके आध्यात्मिक उल्लास में सूफी संतों या रहस्यवादी ईसाई संतों की तरह हाल या उन्माद नहीं है। उनके विरह वर्णन में भी पागलपन या रुग्णता की स्थिति देख़ने को नहीं मिलती। अद्वैत वेदान्तियों की जगत् से पलायनवादी प्रवृत्ति या बौद्धों की अकर्मशीलता के लिए भी उसमें कोई स्थान नहीं है। वह संसार का हित सम्पादन करते हुए स्वयं से संघर्षरत रहते हैं तथा आत्मदर्शी गुरु के सान्निध्य में इस लोक को सुन्दर, रहने योग्य, आदर्श तथा आनन्द रूप बनाने के साथ परलोक की प्राप्ति तथा मुक्ति के लिए आश्वस्त करते हैं। श्री कृष्णचन्द्र ने गीता में निष्काम कर्म और मुक्ति की जो शर्तें बतलाईं, उनका मूल्य कालातीत है। श्रीचन्द्र जी ने इसी श्रौत-स्मार्त धर्म की व्याख्या की। गुरुनानक जी ने यद्यपि गृहस्थ में मुक्ति पाने का आदर्श रखा-

सति गुरु की असी बड़ाई, पुत्र कलत्र विचै गति पाई ।

संतमतानुयायी अन्य संतों ने भी प्रायः गृहस्थ जीवन व्यतीत किया पर श्रीचन्द्र जी ने गृहस्थ या संन्यास का आग्रह नहीं रखा। वह गृहस्थ उदासी तथा विरक्त उदासी को मुक्ति का अधिकारी मानते हैं। व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो, चाहे वनस्थ या संन्यासी हो, मुक्ति के लिए उसे

उदासीन होना पड़ेगा। शर्त तो उदासी होना है। भोगों के बीच रहता हुआ भी भोगों से निरपेक्ष तथा उदासीन हो और भोगों के न रहने पर भी उसकी निःस्पृहता तथा असंगता-तटस्थता बनी रहे। सत्यानुसन्धान, अनासक्तिपूर्ण जीवन तथा प्रेम व्यवहार द्वारा निरन्तर प्रभुस्मरण ही मुक्ति का साधन है। प्रभु का विस्मरण ही बन्धन है तथा प्रभु का अखण्ड स्मरण ही मोक्ष है- देह रहे संसार में, जीव राम के पास। श्रीचन्द्र कहते हैं, जग में घूमो, विचरण-विहार करो, माया से मत डरो बस यह धारणा दृढ़ किए रहो कि हरि सदैव तुम्हारे साथ है -

जहाँ जाईए तहँ संग है हरि अन्तर्यामी ।

यही अनुभूति तुम्हारे साधना-मार्ग का विकास कर तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचा देगी।
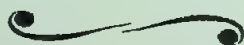
सप्तम अध्याय

श्रीचन्द्र-चिन्तन की प्रासंगिकता
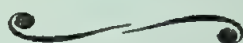
भारतीय समाज का जननायक वही हो सकता है जो वैविध्यपूर्ण स्थितियों में सामंजस्य स्थापित कर सकता हो, जो विभिन्न वर्गों, वर्णों, जातियों, उपजातियों, धर्मों, धर्म साधनाओं, पंथों, विचार पद्धतियों तथा जीवन चर्याओं में एकता का सूत्र ढूंढ सकता हो तथा जो बिना किसी भेद भाव के सबको साथ लेकर चल सकता हो। वेदोत्तर कालीन समाज में जटिल कर्मकाण्ड तथा यज्ञवाद के विरुद्ध उपनिषदों के ऋषियों ने क्रान्ति की तथा सर्वात्मवाद के सिद्धान्त को प्रचारित किया। बुद्ध, महावीर तथा पुराणों के वचनों में सदाचार पूर्ण जीवन एवं भक्तिवाद के सूत्र इसी प्रगतिशील विचारधारा के फलस्वरूप विकसित हुए। आचार्य शंकर के समय तक मध्य एशिया तथा भारत से बाहर यूनान के मार्ग से आने वाली जातियाँ अपनी संस्कृति के साथ भारतीय चिन्तन धारा में अच्छी तरह घुल मिल गई थीं। शंकर ने बहुदेववाद के मूल में एकेश्वरवाद को स्थापित कर इन विजातीय जातियों को बता दिया कि वह वैदिक विचारधारा के एकतत्त्ववाद के पोषक हैं और विदेशियों के पास ऐसा कुछ नया नहीं है जिसके लिए उन्हें अभारतीय धर्मसाधनाओं तथा विचार सरणियों का मुहताज़ बनना पड़ेगा। प्रत्येक प्राणी की समानता का उद्घोष उन्होंने अपनी सुदीर्घ दार्शनिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में किया। संतमत में आचार्य शंकर के परमतत्त्ववाद तथा ज्ञानात्मक योग तत्त्ववाद का मेल हुआ। योग, विशेष रूप से हठयोग भी वैदिक परम्परा का अंग है।

भारतीय दर्शनों में योगदर्शन, वेदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा वैशेषिक के समान ही आदर प्राप्त और प्रतिष्ठित है। भारतीय तथा अभारतीय विद्वानों ने शब्द सुरति योग या कुण्डलिनी योग को आगमिक मानते हुए उस पर बौद्ध प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है पर वेद के मंत्र तथा उपनिषद् भाग में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं, जिनमें कुण्डलिनी का निरूपण हुआ है। शैव-शाक्त आगमों, तथा शैवशाक्त पुराणों में भी इस शक्ति की धारणा उपलब्ध होती है। संतों में आचार्य श्रीचन्द्र ने इस वैदिक आगमिक परम्परा को स्वीकृति दी है। उनसे पूर्व संतमत में श्रुति प्रमाण रूप से स्वीकृत नहीं थी। नाथ, सिद्ध तथा संतों ने श्रुति को मात्र वाणी का विकार ही स्वीकार किया था। आचार्य शंकर की तरह आचार्य श्रीचन्द्र भी व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र की दुहाई देते हैं। सिद्धान्तसागर में '*ब्रह्मसूत्र जहाँ झरिपरै, पुरुष पुराण नाम रहि गरै*' अथवा '*सद्गुरु संगति वेदाभ्यास*' कहकर वेद और वेदान्त के अध्ययन को बढ़ावा देने का संकेत मिलता है। कबीर आदि संतों में यह प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती।

श्रीचन्द्र जी पंथ या सम्प्रदाय चलाने वाले आचार्य संत नहीं थे। उन्होंने परम्परागत उदासीन श्रौत मुनियों का मार्ग स्वीकार किया तथा उसे अपने तप और प्रभाव से संगठित किया। उन्होंने जहाँ अपने समय के पंथों और सम्प्रदायों की विकृतियों का चित्रण किया है, वहाँ उदासीन संतों की विकृतियों पर भी करारा प्रहार किया है। सच्चे आचार्य की यही विशेषता है। वह तो संत परम्परा का निर्मल रूप स्थापित करना चाहते हैं। धनार्जन के लिए साधना का चमत्कार दिखाने वालों का भंडा फोड़ करते हुए उन्होंने उदासी की घर बारी वृत्ति का भी उन्मुक्त विरोध किया है। वह कहते हैं-

धनहित मंत्र मसानन साधै, धनहित परवत सागर फांधै ।
धनहित देवी देव ध्याये, धनहित अड़सठ तीरथ न्हाये ।
धनहित चढ़यो हिमालय धाय, धनहित पंचाग्नि तपताय ।
उदासीन घर बारी जोड़, श्रीचन्द्र सिर चढ़ै न तोड़ ।।

• • •

लूट खसोट द्रव्य करि एकतु यज्ञ अनल प्रज्वलाई,
ब्रह्मा ऋत्विज उदगीथी आ ऋचा उचार सुनाई ।
धन की ध्वनि रही दहि दिसि छाई,
निर्धनते को विप्र न तोषे नरकहि लहहि सजाई ।
कूड़ कपट ते माया विहाझी यज्ञ किए सभ सुद्धी,
मिरतक आमिख शुद्ध न ह्वै है खुब मसालै गुद्धी ।
करते नरक करावत नरकी मुंह काले अभिमानी,
चोरी जारी हिंसा करकै पाठ करावत हानी ।
मर्म धर्म जान्यो उर नाहिन धन निर्धन रत भरमै,
श्रीचन्द्र हरि नाम सिमर मन प्राप्त ह्वै है प्रभु दर मैं ॥

यह कटाक्ष उन पर है जो वेद मंत्रों का उच्चारण करते हुए महारुद्र, चण्डी, गणपति तथा विष्णुयाग करा रहे हैं। वह नहीं देखते कि इन यज्ञों के आयोजकों ने इतना धन पाप से कमाया है या पुण्य से। उन्हें तो दक्षिणा से काम है। निर्धन से वेदपाठी को कोई प्रयोजन नहीं। यजमान सोचता है वह चाहे जितना पाप करले, यज्ञ करने से उसका धन पवित्र हो जाएगा। अरे भाई क्या सड़ा हुआ बासी माँस मसाले से लथपथ कर देने पर शुद्ध हो जाता है, उसकी दुर्गन्धि समाप्त हो जाती है। पवित्र ग्रन्थों का पाठ करने से चोरी, जारी, सुरापान, हिंसा तथा शोषण के पाप से मुक्ति नहीं हो सकती। धर्म तो आडम्बर का विषय बन गया। पण्डित, साधु, फकीर, दरवेश, संत, महंत, काजी, मुल्ला सब ठगने लूटने के व्यापार में फँसे हैं। बिचारी भोली श्रद्धालु जनता अंधी होकर इन्हें पूज रही है, वह नरक में जाने की तैयारी कर रही है-

तीरथ न्हावन पाठ पठावन भरम न भूलहु लोगा,
ठगान लूटण कारण मन्दिर जाल पसार्‌यो चोगा ।

यदि आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व यह स्थिति थी तो क्या आज इसमें कुछ बदलाव आया है। नहीं, सब कुछ जस का तस है। उन्होंने हरिनाम स्मरण को ही मुक्ति का साधन माना है। भागवत का भी वचन

है-*कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त संगः परं व्रजेत्।* श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

बिन हरि सिमरन नहिं छुटकारा, स्मृती शास्त्र वेद पुकारा,
योग सिद्धि आसन चौरासी, खोलत नाहीं गल यम फांसी ।
सबसे उत्तम हरि को नाम,
सिमर सिमर सब पूर्ण काम ।
गिरा मृदुल मुख किया उपदेश, तन में खूब सजायो वेश ।
जटाजूट नख भस्म रमाई, देश देश निज फेर दुहाई ।
नाटक चेटक साधन साधै, कर्म धर्म बड़ बन्धन बाँधे ।
हरि सिमरन बिन फोकट धर्म, श्रीचन्द्र भज हरि हरि कर्म ।।

हरिस्मरण का आधार सबके लिए है और निरापद है। इस बात पर शुकदेव, कबीर, रविदास, नामदेव, नानक सभी उनके साथ खड़े हैं। सूर, तुलसी, मीरां भी इस बात पर एक हैं।

श्रीचन्द्र जी की तीसरी विशेषता है, निज मुक्ति और सामूहिक मुक्ति का लक्ष्य। आचार्य शंकर ने स्मार्त धर्म की रक्षा की पर उनका बल संन्यास के स्वरूप निर्धारण तथा लक्ष्यांकन पर अधिक था। सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अंध विश्वासों पर उन्होंने एक भी पंक्ति नहीं लिखी। वह हिन्दुत्व के वैचारिक पक्ष के प्रखर प्रवक्ता थे। प्रौढ़ दार्शनिक विचारधाराओं की आस्तिक-नास्तिक चट्टानों से टकरा कर उन्होंने वेदान्त की गंभीर तथा शास्त्रीय व्याख्या की थी। इस्लाम की टकराहट उस वेग से उनके सामने न थी जिस वेग से वह बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक रही। श्रीचन्द्र जी के सामने यह भयंकर चुनौती थी। आचार, रहन-सहन तथा उपासना पर शासकीय धर्म का प्रभाव शिकंजे कसने लगा था। निरीह, शासित तथा आतंकित जनता की मौन पीड़ा को स्वर कौन दे, यह एक चिन्ता का विषय था। कबीर साहब धर्म साधनाओं की जाँच-परख में अधिक तल्लीन रहे। उन्होंने ऊंच-नीच, जाति-पाँति का खण्डन भी किया पर आतंक और दमन के सहारे शासन चलाने वाले सुल्तानों, अमीरों, सरकारी कारिन्दों तथा सिपाहियों के

अत्याचारों और दमनात्मक क्रिया कलापों के विरुद्ध मुखर कुछ नहीं कहा। श्रीचन्द्र जी ने निरीह जनता को ढांढस बँधाया। उन्होंने शासन की विकृतियों का भंडाफोड़ किया। अत्यन्त कठोर शब्दों में उन्होंने शासन व्यवस्था पर व्यंग्य किए। कुछ उदाहरण लें-

घेरी गाय कसाईयन, किह विधि प्रजा छूटहिगी,
बादशाह हथ छुरी गहाई, प्रिय ओर उभ जूटहिगी ।
दान्त काढ़ धाय बड़श्वान,
फिरत मुकद्दम खोजत सुंदर फंसत कैस विधि को धनवान ।।

• • •

मानुस खावत प्रणक अहिंसी हड्डोरोड़ी कुत्ते,
मुंह लागा लहु छूटत नाहीं असब हिलोरन जुत्ते ।

• • •

महाजनाही परम गुनाही राजन राज सदावै,
पण्डित काजी मुल्ला ज्ञानी महाकुकर्म कमावै ।

इस निरीह, निराश्रित, दीन एवं दुःखी जनता का मार्ग दर्शन न पण्डित पुजारी कर रहे हैं और न संत फकीर। धर्म के ठेकेदारों के चंगुल में फँसी जनता को मार्ग नहीं सूझता। इनकी दुर्दशा देखकर श्रीचन्द्र अधीर हो उठते हैं। उन्हें दुःख है कि तथाकथित उद्धारकों ने भारत को अंधा बना दिया है-

वाद विवाद वेद उरझाय संगति दुविधा डारी,
गरकै भारत लूटै परजा हलुआ खाय पुजारी ।
लोभी लोलुप बटपारन मिलि अन्धी भारत कीनी,
तिनिह प्रसाद रौरवहुं अधिकै श्रीचन्द्र दुख चीनी ।।

श्रीचन्द्र जी की चौथी विशेषता है, आस्तिकता का समर्थन। वह वेदनिन्दक को नास्तिक मानते हैं। *नास्तिको वेद निन्दकः*। एक बार ईश्वरीय सत्ता में विश्वास न रखते हुए भी नैतिक जीवन जीने को वह

अच्छा मान सकते हैं पर जो वेदशास्त्रों की मनमानी व्याख्या कर उसके वास्तविक मर्म को छिपाता है अथवा वेदादि की निंदा कर स्वकीय अनुभववाद को ही तरजीह देता है, उसे वह समाज के लिए शुभ नहीं मानते। वह सर्वत्र निगमागम का संदर्भ देते चलते हैं–

वेदपुराण स्मृति सिद्धान्त,
राम नाम जप एक मतांत ।
वेदपाठ गुण ज्ञान ध्यान युत बुद्धि विवेकहिं कारण,
अर्चा देवन गो गरीबरख हेतु धरनि उपकारन ।
निगमागम सच्च संयमो सच्चो बरतारा,
सच्ची कुदरत धारिया सच्च करणैहारा ।।

वह यह भी जानते हैं कि पण्डित कोरा वेदपाठ कर रहे हैं, वेदानुकूल उनका आचरण नहीं। योगी योगपंथ में दीक्षित हो योगाभ्यास को महत्त्व देते हैं। संन्यासी तप और त्याग को श्रेष्ठ समझते हैं। उदासी जमात चलाने में सुख अनुभव करते हैं पर श्रीचन्द्र जी का कथन है कि कोई भी मार्ग अपनाओ, जीवन को पवित्र बनाओ। मन को निर्मल रखो। मन को इन्द्रियों के भोग-विषयों के पीछे न दौड़ने दो। मन का संयम करो।

पण्डित वेद वाद महि राते, योगी योगपंथ बतराते,
संन्यासी तप त्याग कमायो, उदासी विचरत सुख पायो ।
मन मदमाते परे कुराह,
ज्ञान पदारथ जग कृतार्थ स्वार्थ त्याग असारथ चाह ।।

परमेश्वर पर एक मात्र भरोसा रखना तथा उसकी इच्छा को सर्वोपरि मानना आस्तिकता की अनन्य पहचान है। वह सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तथा उनकी शरण ग्रहण करना ही परम धर्म है–

नारायण नरपति नमस्कार,
जास जपत भवजल निखार ।
जहिं तहिं सदा सहायक देव,
संत जना डर पायो भेव ।

सर्वलोक पूरन प्रभु स्वामी,
सकल घटां के अन्तर्यामी ।
कारण करण हार करतार,
संत जनां के प्राण अधार ।
प्रतिपालक सगले जियजंत,
जगत उधारण जाका मंत्र ।
गुण निधान पूर्ण परमेश,
तीन लोक महिं अमिट आदेश ।
वन तृण व्यापक ज्ञापक सोय,
अंग अंग श्रीचन्द्र रमोय ।।

श्रीचन्द्र जी की बानी की पाँचवीं विशेषता है निष्काम कर्म तथा सेवा का उपदेश। भारतीय संस्कृति पलायनवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं देती। वेद भी '*कुर्वन्नेवेह कर्माणि*' की आज्ञा देता है। यों वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लिए अलग अलग विहित कर्म बताए गए हैं। धर्मशास्त्रों में उनका विस्तार से निरूपण हुआ है। फिर भी भागवत में भगवान कृष्ण ने गृहस्थ के लिए मुख्य धर्म बताया है, प्राणियों की सब प्रकार से रक्षा तथा यज्ञ याग। ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म बताया है आचार्य या गुरु की निष्काम सेवा। वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है तपस्या तथा भगवद्भाव और संन्यायी का परम धर्म है, सहिष्णुता। धर्म की रक्षा तथा लोकहित के लिए आत्मत्याग या बलिदान। शान्ति और अहिंसा उसके प्रमुख आधार हैं। महात्मा की यही विशेषताएँ हैं तथा भारत की सन्त संस्कृति में यही दो विशेष बाते हैं जिन्होंने विश्व को प्रभावित किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

भिक्षोधर्मः शमोऽहिंसा, तप, ईक्षा वनौकसः,
गृहिणो भूतरक्षेज्या, द्विजस्याचार्य सेवनम् ।

क्या ईश्वर विश्वास वानप्रस्थ के लिए ही आवश्यक है? ईक्षा या ईश्वर विश्वास को उसकी ही निधि विशेष रूप से बताया गया है। इसका उत्तर

है, ईश्वर-विश्वास सबकी पूंजी है पर वानप्रस्थ धारण करते हुए इसकी अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। घर-द्वार, सुख साधन, सम्पत्ति, कुल परिवार, संतान सुख छोड़ते हुए असुरक्षा का भाव प्राणी के हृदय में विशेष रूप से पैदा होता है। उसे भय होता है कि सब कुछ छोड़कर वह कैसे सुरक्षित रहेगा, उसका योग-क्षेम कौन वहन करेगा, वह कैसे जीवित रहेगा। सुख-दुःख में कौन उसकी सहायता करेगा। शास्त्र कहता है, ऐसी स्थिति में परमेश्वर ही योग-क्षेम वहन करेगा, वही रक्षा करेगा, जब वह पशु-पक्षी को अन्न जल देता है, पत्थर के कीट के लिए भोजन की व्यवस्था करता है तब तेरी रक्षा क्यों नहीं होगी? श्रीचन्द्र जी का यही अगाध विश्वास है, अतः अनेक स्थलों पर उन्होंने भगवान् की इस अहेतुकी कृपा का उल्लेख किया है।

दासहिं हरि प्रभु राखिया सब गणत मिटाई,
हाथ देय प्रतिपालदा गोविंद गोसाईं ।
जिन उदरे महिपालया,
कौन काम तव होतो कर्ता कवन सहाय समालिया ।
कारण कर्ताबस है जिमि चाहै करणा,
जीय जन्तु प्रति पालदा सेवक सद परणा ।
पाहन कीट उबारिया निज करुणा धारै,
रे मन तू क्यों डोलदा हरि लेहि संभारै ।
लख चौरासीह योनि को जिन रिजक सँवाहा,
श्रीचन्द्र क्या तोर सिर वह नाहीं नाहा ।।

परमेश्वर की अहेतुकी कृपा का खुलासा करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि प्रभु बड़े उदार हैं, वह बिना किसी भेदभाव के, पाप-पुण्य के विचार के, आस्तिक-नास्तिक के भेद के सबके लिए समान रूप से जीवन-साधन प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण प्रकृति उनके निष्काम कर्म का फल है। श्रीचन्द्र कहते हैं-

अनिक रंग हरि केरया, फुल फूल बनाही,
मधुर सुगन्धित व्यापियै मनहर्ष उपाही ।

प्रभु की दात अपार ।
बहुत भाँति नियमित दई गणत न परहिं सुमार । ।रहाऊ ।।
सीत निवारण हेतु हरि अगनि दई थापी,
जल दीया अनमोलका पिय पुन्नी पापी ।
तलपा तलप सुहावणी हितु दई अरामै,
पवन दई इस जीव को श्वासन के कामै ।
सीतल छाया मधुर फल तरुवर रचि राखै,
श्रीचन्द्र मन निर्गुण गोविन्द न भाखै ।।

अर्थात् उस दयालु प्रभु ने अनेग रंग-बिरंगे फूल-वनस्पति, वन, उपवन बनाए। मधुर सुगन्धित पदार्थों का निर्माण किया। उसका यह कृपा-दान अहेतुक और अखण्ड है। सृष्टि के अनादिकाल से बेरोकटोक चल रहा है। शीत की निवृत्ति के लिए अग्नि, पीने के लिए जल, विश्राम के लिए धरती की सेज, श्वास-प्रश्वास के लिए वायु तथा शीतल छाया और फलों के लिए भाँति-भाँति के वृक्ष प्रदान किए पर यह मन इतना निर्गुण या कृतघ्न है कि उस गोविन्द प्रभु का नाम एक बार भी प्रेम से, भाव से या कुभाव से नहीं लेता। प्रभु तो भाव-कुभाव भी नहीं देखते, वह तो जीव के कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

वह परम दयालु प्रभु अपने भक्त को सब कुछ प्रदान करते हैं। अकिंचन को सिंहासन दे देते हैं, जिसे कोई नहीं जानता या मानता, उसे कीर्ति प्रदान करते हैं, जिसके तन पर फटे वस्त्र भी नसीब नहीं होते, उसे रेशमी वस्त्र ओढ़ाते हैं, जिनकी कोई नहीं सुनता, उसकी वह सुनते हैं। वह सच्चे ठाकुर या स्वामी हैं। उनका सेवक निराश्रित और अनाथ नहीं होता-

नारायण की बड़ बड़िआई,
नीचहिं ऊंच करत क्षण भीतर अपने मेले मेल मिलाई ।
उदर भरन हित दर दर जोहत राज्य सिंहासन पवन झुलाई,
कोय न जानै कोय न मानै तिन पद परती सर्व लोकाई ।

फटा लूगड़ा लोचत ओढ़नि पशमंबर तन पर ओढ़ाई,
आदर कोय न देवत जिन कऊ होवै न निरादर काई ।
जिनकी कोय न सुनत पुकारा श्रीचन्द्र तिस बात बनाई,
करते हाथ अपने महि राखी सब विधि की ठकुराई ।।

आचार्य सेवा, प्राणि रक्षा, अन्न वस्त्रादि का दान तथा सहिष्णुता और तप प्रत्येक प्राणी के जीवन में होने चाहिए। आचार्य सेवा से वृत्तियाँ निर्मल होती हैं, परमात्म विषयक निष्ठा दृढ़ होती है, कुमार्ग से छुटकारा मिलता है, सत्य की प्राप्ति होती है, परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है, निर्भयता तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। सच्चा ज्ञान मिलता है। विषय-वासना पास नहीं फटकती। माया का प्रभाव नहीं होता। जन्म--मरण की फाँसी कट जाती हैं। सद्‌गुरु परमेश्वर के रूप हैं। यह बिना कारण के कृपा करते हैं। इसलिए श्रीचन्द्र आचार्य सेवा को सर्वोपरि मानते हुए कहते हैं-

सद्‌गुरु चरण कमल महि टेकधरो मन मेरे,
अनिक योनि को भ्रमणो मिट है वास करो हरि नेरे ।
जिह जन पाई सत्गुरु धूरि,
तृष्णा काम क्रोध मोह परिहरि, हरि कीरति रस सो भरपूरि ।
जनम मरण के मेट्यो संशय तम अज्ञान विनासा,
चार पदारथ गृह ही भीतर पूरण होई आसा ।
लक्ष्मी धाई ते अब चूकै, यम को पैंड बिहाई,
भ्रम विडार धरी लिव एकै प्रभु किरपाल सहाई ।
सगल समग्री आपै पूरी कीनी करणै हारै,
जपत जाप पार ब्रह्म श्रीचन्द्र करते पुरुष मुरारे ।।

सच्चा आचार्य उदारतापूर्वक हरि नाम का दान करता है, वह ऊंच-नीच, जाति-पांति, योग्यता-अयोग्यता आदि पर विचार नहीं करता-

सेवहु सतगुरू अपना निसि दौत सवारे,
एक सहाई रामनाम जिय लेहु सम्हारे ।

नीचे से ऊंचा करत नहिं लागत बारे,
वर्ण जात नहिं बूझिए साचै दरबारे ।
जिनि हरि प्रीतम ध्याया हरि तिसहिं प्यारे,
हट्ट सराफी परखिए हेमे नहिं कारे ।
सति गुरु मालक दिलों का दे हाक पुकारे,
जपहु गुरुमुख राम नाम सद संग तिहारे ।
मन निर्मल मुकरहि लहहि हरि रूप निहारे,
हीरे हीरा श्रीचन्द्र बेधे हरिद्वारे ।।

यहाँ हरिद्वार में श्लेष है, मन रूपी हीरे को गुरु कृपा से श्रीचन्द्र ने हरि के द्वार पर पहुँच कर बेंध दिया है या वह हरिद्वार में बैठकर गुरुकृपाजन्य परमात्मदर्शन का परमानन्द प्राप्त कर रहे हैं। गृहस्थ के लिए भी उन्होंने धर्मपूर्वक धनार्जन, सत, संतोष, दया, संयमपूर्वक भोग और सत्संगति को प्रमुख धर्म बताया है–

संत संगति ते पाइयै जपु तपु नियमाई,
सत संतोष दयाधर्म करि केरि कमाई ।
परधन परतन परत्रिया कुत्सित हरि कामा,
इन्द्रिय वश करि राखिए परिहर परधामा ।
गुरु शब्दी मन माँजिए लहियै मन रूपा,
मन गुह गहरी जाय कै लखि ज्योति भूपा ।
ज्योति ध्वनी जब मन सुनै तब कछु कछु पावा,
ध्वनि की कार कमावणी प्रभु मारग धावा ।
धारा खंडे चलीए बहु कल्पन ताई,
ज्योति ध्वनि श्रीचन्द्र सुनि संतन गति पाई ।।

श्रीचन्द्र बानी की छटी विशेषता है, उसका लोकरंगी होना। लोकतत्त्वोन्मुख उपदेश वही प्रभावशाली होता है जो जीवन से सहज रूप से जुड़ा हो, जिसमें लोक जीवन, मर्यादा, प्रथा, रीति रिवाजों तथा रुचियों का समावेश हो। श्रीचन्द्र जी ने पंजाब की संस्कृति, परिवेश तथा भूगोल को अपने

उपदेशों का आधार बनायाहै। इनमें कृषि, वन, दाम्पत्य जीवन, शृंगार, भवन तथा सामाजिक सम्बन्धों के मार्मिक चित्र हैं। कुछ उदाहरण लें-

1. धरती खोद कुदाल सों काह बूट नसाई,
उड़द मोठ ईख गन्दमै गोड़ी गुड़वाई ।
पाणी संच जमाय खेत ऊच बाड़ कराई,
चिड़ीयां काकहुं सूकरहुं सियालहु रखवाई ।
चीटी आइण ईति लख ढ़ोलन ढ़मकाई,
दिनै रात करि हाय हाय ढ़ेलान वगाई।
लुण गाहै खलिहान या मन खुशी मनाई,
श्रीचन्द्र बिन भागड़े नहिं फलत कमाई ।।

2. देरानी जेठानी संग, ननद सहेली सूहे रंग ।
बाबुल महतारी सजसाज, खाट बिछाय दिखायो दाज ।।

3. मूरख काहे कियो विवाह,
होय निश्चिन्त जे सोने हेतु पेको ही भल ताह ।
सेज बिछायो विशद बिछोना सुंदर पलंग निवारी,
पुष्प बिथारे गन्ध छिराई चन्दन चरच सवारी ।
पट्‌टी मांठ गुन्दाई सिरफुल कंकन साज कियूरे,
बिन्दू चिबुक चारू पर दीनो खाये पान कपूरे ।
सुखपत प्यारी सुखपति नाही बिरथा रैणि गवाई,
मानुख जन्म सिमर सुख दाता श्रीचन्द्र लिवलाई ।।

4. एह महलन की माँगत खैर,
चित्र विचित्र चित्र कर चित्रित गाढ़ी नींवा पक्के पैर ।
बड़ी सफील फसीद चौगिर्दे बुर्ज उतंग सुरंग सधैर,
जातरूप के कलश सुहावत गाड़ी ध्वजा फरावत चैर ।
चुनै गज गच घोटै अधिकै मुख देखण को दर्पण दैर,
तरुवर बेल बैल मृग पाड़े सारक कोक कपोती कैर ।
रचि रचि खूब सवार सुधारै गुंज बसाई धरणी मैर,
रे मन मूढ़ सहूड़ विचारहु श्रीचन्द्र किमि धर हैं पैर ।।

5. खेलन कूदन सगरे छूटे, संग सहेली गई निखूटे ।
   माता पिता हू विदा कीनी, गठड़ी बाँध जुदाई दीनी ।
   इहाँ ते अव जावहु ऊहाँ ।।

6. अशवथ, शीशम, वन, बबूल, खजूर दृषित नहिं तरुवर महिं गुझ,
   षटपद माखी मसक दंदीहे हरि प्रभु तू कस रहियो रुझ ।।

श्रीचन्द्र बानी की अन्तिम विशेषता है, ग्रामोद्धार की चेतना। मध्यकाल की दरिद्र, दलित, निरक्षर, निराश्रित, निर्धन, पीसी हुई, त्रस्त तथा अंधविश्वासों में घिरी जनता के उद्धार की कल्पना उस सामंती समाज में असंभव थी। आधुनिक युग में भारतेन्दु और प्रेमचंद ने इस ओर ध्यान दिया। गाँधी जी का तो कार्यक्षेत्र पहले ग्राम ही बने। बिनोवा जी ने ग्रामोद्धार की साध लेकर ही भूमिदान का सपना साकार किया। मध्यकाल की दारुण भूमि में ग्रामोद्धार का प्रश्न उठाना सीधे सीधे शासकों तथा सामन्तों के दर्प रूपी नाग को छेड़ना था। श्रीचन्द्र जी ने घोषणा की '*तारहु गाँव*'। गाँवों का उद्धार करो।

वस्तुतः गाँव तो मुस्लिम आक्रमण के प्रारंभ से ही लूटे जलाए जा रहे हैं। इसके अलावा स्थानीय डाकू भी इन्हें लूटते पीटते रहते थे। सुल्तान बलवन ने बड़ी कठिनाई से इन डाकुओं को नष्ट किया था। मुगल शासकों ने यद्यपि राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से भारतीय जीवन को कुछ सीमा तक सुरक्षित किया तथा अकबर और दाराशिकोह जैसे उदार मुगल शासकों के कारण हिन्दू धर्म की व्यापक शिक्षाओं का प्रभाव भी मुस्लिम जनता में होने लगा तथापि आर्थिक दृष्टि से शोषण और बेगारी का सिलसिला बंद न हुआ। इसके लिए हिन्दू तथा मुस्लिम सामंत तथा धनी वर्ग उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। इस हेलमेल का एक अच्छा परिणाम भी निकला कि हिन्दू-मुस्लिमों की मिश्रित संस्कृति का जन्म हुआ जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत के जनजीवन को प्रभावित किया। इतिहासकारों की दृष्टि में इस्लाम अब भारतीय वातावरण के अनुकूल ढलने लगा। राजपूत, जाट तथा हिन्दू जमीदारों और साहूकारों ने अपना दबदबा बनाए रखा। गाँवों की सर्व साधारण जनता अशिक्षित और निर्धन होने के कारण दमन का शिकार बनी। उसे रोटी-रोजी के अलावा

कुछ भी सोचने के लिए अवकाश न था। वे कच्चे मकानों तथा टूटी फूटी झोपड़ियों में दिन काट रहे थे। पुआलों पर रात-रात भर बैठकर प्रतीक्षा करते, फटे चीथड़ों से अपना नंगा तन ढकते, दरिद्रता की चक्की में पीसे जाते। वे तथा उनके पशु खंडहरों में एक सा जीवन जीते। प्राचीन रूढ़ियों में जकड़े हुए विवाह, जन्म तथा मृत्यु के संस्कारों पर कर्ज से कर्मकाण्ड सम्पन्न करते। अभाव ग्रस्त समाज को धर्म, राजस्व तथा कर के नाम पर तो लूटा ही जा रहा था। देवी-देवताओं, पीर-पैगम्बरों के नाम पर भी ठगा जा रहा था। ग्रामीणों को अपनी जन्मभूमि प्यारी थी, अपनी परम्पराओं तथा अंध आस्थाओं से मोह था। श्रीचन्द्र जी ने इनके धार्मिक अन्ध विश्वासों के साथ-साथ इनके अज्ञान तथा अधिकारियों द्वारा किए जा रहे शोषण का दर्दनाक चित्रण सिद्धान्त सागर में किया है। ग्रामीण लोगों के भोलेपन का भी तत्कालीन शासन तथा न्यायी वर्ग ने कम दोहन नहीं किया। न्याय के पैसे द्वारा खरीदे जाने का भी उल्लेख उनकी वाणी में है। चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत, घूस, समाज के बड़े तबके में भी घर कर गए हैं। इतना होने पर भी इस निरीह जनता ने कभी अपना मुह नहीं खोला। किसान मजदूरों के बीच पनपने और विकसित होने वाले संत मत में श्रीचन्द्र से पूर्व ऐसी ग्रामीण पीड़ा का मुखर स्वर कहीं कहीं सुनाई पड़ता। केवल नानक जी ने तत्कालीन राजनीतिक त्रास तथा तजज्न्य सामाजिक विकृतियों या हिन्दू समाज की अवनति का चित्रण किया है। इनका स्वर निराशा जनक है पर श्रीचन्द्र जी की बानी में तीखापन, व्यंग्य और यथार्थता अधिक है। यही स्थिति कमोवेश ग्रामीण मुस्लिम समाज की भी थी। उसमें भी विभिन्न संगठन हैं। ऊंच-नीच का सामाजिक-आर्थिक आधार भी है, धार्मिक दृष्टि से उनमें समानता है पर शिया तथा सुन्नी भेद उनमें भी है। शिया भी भारत में *इसना अशरिया* तथा *सबीया* वर्ग के हैं। बारह इमामों का इसना अशरिया और सात इमामों का सबीया वर्ग कहलाता है। इनमें से भारत के शिया इसना अशरिया वर्ग के हैं। जौनपुर के महदी आन्दोलन के प्रवर्तकों ने भी मुस्लिम वर्ग को प्रभावित किया। पर यह व्यापकता न प्राप्त कर सका। कुरान की शिक्षा तक ही ग्रामीण मुसलमान सीमित थे। स्त्री और मदिरा इस समाज की वैसी ही दुर्बलता बन गई थी जैसी हिन्दू समाज

की। कबूतर बाजी, बटेर बाजी तथा अनैतिक मनोविनोद के साधनों में ग्रामीण उच्च वर्ग लिप्त था तो निम्न वर्ग मेहनत, मजदूरी, खेती, लुहारगिरी, राजमिस्त्री, चूड़ी निर्माण, बढ़ईगिरी, रंग रेजी आदि के काम में लगा था। किसान की हालत खराब थी, क्योंकि उससे क्रूरता पूर्वक उपजकर लिया जाता था। प्राकृतिक आपदाओं से बचने की सुविधा तथा उपाय न थे। नजराने की प्रथा तथा दास प्रथा का बोलबाला था।

धार्मिक दृष्टि से काली, दुर्गा, भैरव तथा अनेक देवी देवताओं के स्वांग रचाकर भीख माँगने वालों की कमी तब भी नहीं थी। हज करने वाले काबे में रखे पाषाण को पूजते थे। दरगाहों में मजार पूजते थे। गंडे ताबीज बाँधते थे। भूत-प्रेत, जिन्नों के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। श्रीचन्द्र जी ने इस पर भी ध्यान दिया और हिन्दू तथा मुस्लिम समाज को चेताते हुए कहा-

साधु संग भ्रम खोय अयाने, अन्तर आतमराम पछाने,
पत्थर काबै राख्यो पूज, चन्द मनायो उपजयो दूज ।
शैतां केरो थाप मुकाम ।
कंकर रोड़े फैंकत मूरख अन्तरमल अलह नहिं नाम ।
बुत्त बिनासै बुत्तहिं थाप, दरगाहै लहिहैं संताप ।
परम भूल लगि फिर फिर लेख, सो कुरान किमिभनै अलेख ।
शरक गरब जहँ पढ़ी नमाज, सोऊ दोजखपाय अजाब ।
भूले लोक लोभ लुटमारै, कियो पगंबर दीन बिगारै ।।

• • •

निष्कलंक को लागि कलंका, किमि ऐहै अग्रज दै डंका ।
दुर्गा नाहि न प्रगटि कोय, दई मूरती गुरुजन खोय ।
सोमनाथ बाच्यो नहिं आप, कस मुकते हैं तुमतें पाप ।
भूलै पत्थर पूजत लोभ, कारण करता है भी होग ।
टिक्का धोती पहिर दिखावा, बन बेहड़ कंटक लपटावा ।
होम यज्ञ बहुकर्म कमाहि, तजगृहवास भ्रमै अनथाहि ।
कूड़े मंदिर मस्जिद थापै, कूड़ो कूड़ जपावत जापै ।
कूड़े पहिर दिखावत बानै, रक्त पीत नीलै भगवानै ।

• • •

सालिग राम गले लटकायो, थाली दुर्गा धाना ।
मुख काले सिर मोर मुकट है, याचत फिरै दुकाना ।
श्रीचन्द्र कूड़ो रस रसया, दूरभया भगवाना ।।

ग्रामीण दीन-हीन व्यक्ति का मार्मिक चित्र खींचते हुए श्रीचन्द्र कहते हैं कि रहने के लिए उसके पास पत्तों की झोपड़ी है। पेट भरने के लिए रोटी के कुछ टुकड़े तथा पहरने के लिए कुछ चींथड़े या मोटे कपड़े। राजपुरुष न उनकी बहू देखते हैं न बेटियाँ। न्याय का ढिंढोरा पीटा जाता है पर न्याय कहीं नहीं मिलता। पुत्री की लुटती इज्जत की जिसके सामने गुहार की जाती है उसी से उसे दण्ड मिलता है। राष्ट्र के शासक राजपुरुषों के साथ ग्रामों का दौरा धन लूटने तथा मौज मस्ती के लिए करते हैं। गुरु शिष्य भी धन की चपेट में हैं, एक दूसरे की हत्या करने में भी उन्हें परहेज नहीं।

पेट भरन हित रोटी राखी, पहिरन हित कछु वसना,
पर्ण कुटी रचि आयू काटत, गहिलीनो निज दसना ।
राज नरन पितु सन्मुख कन्या धरकरि भोग कमायो,
मातपिता सुता पेखत लूटी न्याय ढिंढोर पिटायो ।
छोटहिं द्रव्यन हन गुरु चेला अन्तर कालख काले,
राम नाम बिनु अवर न सूझै श्रीचन्द्र रहयो सँभाले ।।

• • •

जाल मसाल ढूंढियै सभ भव न्याय न पाई ढौरा ।
राष्ट्रपति ते राजनरन मिलि धन टोरन हित दौरा ।
दुहिता इज्जत हित पुकार किय उलटी और लुटाई ।
राम राम करि श्रुत दे अँगुली श्रीचन्द्र दिन हाई ।।

इन विपरीत दिनों की चर्चा भी श्रीचन्द्र नहीं सुनना चाहते, वह तो राम-राम कर कानों में अँगुली डाल लेते हैं। ग्राम के रक्षक, मुखिया, जमीदार तो निर्धनों की भूमि हथिया कर अपनी जमीदारी बढ़ाने में लगे हैं। भूमिधर करों को न चुकाने के कारण बेदखल और भूमिहीन होता जा रहा है। जो भूमि हड़प रहे हैं, उनकी हवेलियाँ राग-रंग का केन्द्र

बनी हुई हैं पर श्रीचन्द्र उन्हें फटकारते हुए कहते हैं कि पाप की कमाई और उससे मिलने वाले ये सुख भोग अन्त में उसके साथ जाने वाले नहीं हैं। उसे प्रभु के सामने जाकर हिसाब देना होगा-

मिथ्या संग रह्यो लिपटाय, रूपा कंचन गौरव काय,
धन यौवन दारा सुत नेह, पाप पोट सिरधारी खेह ।
जप मन राम नाम दिनरात, क्षेम कुशल स्यों दरगहि शान्ति ।
साजन मीत बन्धु सम्बन्धी, मूर्ख आशा तृष्णा धंधी ।
बहुत गाँव की धरणी घेर, भीत सँवारी चहुं दिसि फेर ।
सुन्दर मन्दिर महल अटारी, चित्र विचित्रित चित्र सुधारी ।
बाग बगीचै पुहपन बारी, झरने झरत अनेक प्रकारी ।
होत द्वारै दुंदुभि ध्वनि, भाट नकीब कलावत गुनी ।
चतुरंग सेना संग चलन्त, सभा बिराजै मंत्री मंत ।
बैठ सिंहासन हुकम चलाय, श्रीचन्द्र को संग न जाय ।।

यहाँ शासक और शासित, शोषक और शोषित, राजा और प्रजा, जमींदार और रियाया के विपरीत जीवन की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत है, क्या श्रीचन्द्र जी से पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज की विषमता का ऐसा चित्रण, इतना बेबाक वर्णन संत काव्य में हुआ है? मेरी दृष्टि में नहीं। यही वह पीड़ा है जिसे श्रीचन्द्र जी ने मात्रा में '*तारहुँ गाँव*' के द्वारा व्यक्त की है। मध्यकाल के किसी संत कवि के पास समाज के विशेषत: ग्रामीण समाज के उद्धार की गुहार नहीं है। अत: यह कहना अत्युक्ति न होगी कि व्यक्ति और समाज के स्तर पर ग्रामों के उद्धार की योजना उन्हीं के पास थी। वह भारतीय ग्रामीण समाज का उद्धार चाहते थे जिसमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों तबकों के लोग थे।

श्रीचन्द्रजी ने उन्हें वैचारिक स्तर पर प्रबुद्ध करने का कार्य किया। उनकी दृष्टि में यह जिम्मेदारी संतों तथा गुरुओं के कंधों पर होनी चाहिए थी पर ये प्रबुद्ध गुणी, कलावंत, विद्वान्, विचारक तो राजाओं के निकट, जागीरदारों की सभाओं तथा नगरों में विलास का जीवन जी रहे थे। '*चेतहु नगरी*' कहकर आचार्य श्री ने उन्हें उनके कर्त्तव्य का स्मरण कराया। वह गुरु के सच्चे प्रशंसक थे, आखिर लाखों निरीह लोगों को

किंकर्त्तव्यमूढ़ता के अंधकार तथा अज्ञान के जंगल से निकालने का जिम्मा कौन लेगा? उन्हें यह भी भरोसा था कि दुर्व्यवस्था से त्रस्त लोग अपने अधिकारों के लिए एक दिन स्वयं सचेष्ट होंगे। सिख गुरुओं की परम्परा ने इस दायित्व की बखूबी पूर्ति की। शास्त्र और शस्त्र दोनों ही उनके हाथों में थे। उदासी संतों ने जीवन भर इसी व्रत का निर्वाह किया। उनकी जमात ग्राम-ग्राम घूम कर दुःखी तथा दीन हीन जनता की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती है। शिक्षा द्वारा ही भारतीय समाज उबर सकता है, क्या आज भी निरक्षरता का अभिशाप देश नहीं भोग रहा है? श्रीचन्द्र जी कहते हैं-

मानुष तन सफलै गुरु शरणा ।
चिन्ता लागी मन मानव कै गुरु उपदेश करत है हरणा। ।।रहाऊ।।
निसि अँधियारी कूह अमावस सति गुरु शब्द उदय तन तरणा,
जंगल भ्रम गाढ़ो तरु कंटक मार्ग डार उतारत परणा ।
भवजलनिधि तृष्णा की लहरी चित बोहिथ चिन्ता परिहरणा,
कर्दम रस तृण भाव लुकाना सँभल सँभल पग हाथी धरणा ।
परमानन्द नीरसर बुद्धि सूक रह्यो गुरु शब्दी भरणा,
देव न पहुँच सकहि तिस जन कह श्रीचन्द्र वथु अजरी जरणा ।।

मध्यकाल में इसके अतिरिक्त संत कवि के पास सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष का मार्ग हो भी क्या सकता था? क्या यह सत्य नहीं है कि जिन बुराईयों की ओर श्रीचन्द्र जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था, आज भी समाज उनसे बुरी तरह जकड़ा हुआ है। यदि समताधारित समाज का निर्माण कर हम सुखी-समृद्ध और आदर्श राज्य व्यवस्था देना चाहते हैं तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना चाहते हैं तो हमें श्रीचन्द्र जी की शिक्षाओं को जीवन में उतारना होगा। उनके उपदेश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने पाँच सौ साल पहले थे। वह सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति के कवि हैं और यही विशेषता उनके कालजयी होने का प्रमाण भी।

परिशिष्ट

धूणे की मात्राओं में निहित श्रीचन्द्र सिद्धान्त
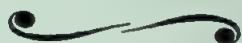
आचार्य श्रीचन्द्र जी के चार प्रमुख शिष्यों अलमस्त साहब, फूल साहब, बालू हसना या बालहास साहब तथा श्री गोइंद साहब ने चार धूणों की परम्परा चलाई। गोइंद साहब की चौथी पीढ़ी के बाबा मींहा साहब ने लिखा है कि निगमागम का उपदेश देकर अविनाशी मुनि जी ने श्रीचन्द्र जी को उदासीमत की दीक्षा प्रदान की। श्रीचन्द्र जी ने समाधि के दिव्य क्षणों में मात्रा तथा वाणी का उपदेश किया और उस दिव्य ज्ञान तथा अनुभव को सनकादि के चार अवतारों (अलमस्त साहब, फूल साहब, बालू हसना साहब तथा गोइंद साहब) ने ग्रहण किया। इनसे उदासीमत आगे बढ़ा। मीहां साहब अपनी मात्रा में लिखते हैं-

गुरु बिन आगम निगम न सूझै, गुरु बिन ज्ञात तत्त नहीं बूझै ।
गुरु अविनाशी भये दयाल, काटे मोह फाँस भ्रम जाल ।
श्रीचन्द्र गुरु भये उदासी, अनभव ज्ञान कीन प्रकासी ।
श्रीचन्द्र जब ज्ञान बताया, अनहद सुन्न समाध लगाया ।
सो उपदेस किये अति भारी, चार शिष्य भये आज्ञाकारी ।
चार युगों की कथा सुनाई, अनुभव दिव्य ज्ञान बतलाई ।
सनकादिक चारों अवतारा, धरियो रूप उदास विस्तारा ।।

इसी तथ्य का समर्थन बाबा गोइंद साहब जी के शिष्य बाबा कमल नैन जी ने अपनी मात्रा में इन शब्दों में किया है।

गुरु के बिना पार कोऊ न पाया, पढ़े चार वेदं पुराणं सुनाया
पूर्ण उदासी सनकादि सुनाऊं, सदगुरु श्रीचन्द्र का ध्यान लाऊं
बाबा गुरु को है प्रणाम मेरी, भ्रम मोह बंधन की काटी है बेरी
भये चार शिष्य तिनै धर्मधारी, तिन्हीं के कहों नामचारों उचारी
श्री अलमस्त प्रथम सिद्ध जानों, दूजे बालू हसनें तिने को बखानों
तृतीये भये गोइंद साहब सुनाऊं, चेलो चौथा जानों फूलसाहब नाऊं
यही सम्प्रदा चार गुरु की भणीजै, कहै कमल नैनं सुसाहं सुनीजै।

इन पंक्तियों से एक तो यह सिद्ध होता है कि ये चारों बाबा श्रीचन्द्र जी के सीधे शिष्य थे, सिद्ध थे तथा चारों वेदों और अठारह पुराणों के श्रोता-ज्ञाता थे। श्रीचन्द्र जी से इन्हें यह ज्ञान मिला था तथा दूसरी बात यह सिद्धहोती है कि चारों शिष्यों का दीक्षक्रम भिन्न था। पहली दीक्षा श्री अलमस्त साहब को, दूसरी दीक्षा श्री बालूहसना साहब को, तीसरी दीक्षा श्री गोइंद साहब को तथा चौथी दीक्षा श्री फूल साहब को प्राप्त हुई थी। इस प्रकार निश्चित हो जाता है कि उदासी मत श्रुति-स्मृति, वेद तथा पुराण में अगाध आस्था रखता है तथा क्रिया योग की प्रधानता के कारण वह श्रुति मार्ग तथा योग मार्ग का समन्वय प्रस्तुत करता है, शैव-नाथ परम्परा में जिसे हठयोग कहा गया है तथा शाक्त मार्ग जिसे कुण्डलिनी योग के नाम से जानता है, मध्यकालीन संत सम्प्रदाय में उसे ही सुरति शब्द योग के नाम से जाना जाता है। श्रीचन्द्र जी ने इस योगधारा को भक्ति के साथ जोड़ कर भागवती योग का रूप दिया। उन्होंने अपनी अन्य मात्रा में कहा है-

धूनी भगति योग वैरागं, इड़ा पिंगला सुखमन नावै ।
अमर सिद्ध जो अह निसि जागं, सुन्न मंडल में ध्यान लगावै ।।

बाबा अलिमस्त साहब भी अपनी मात्रा में लिखते हैं-

जत की जटा जोग का मज्जन, ज्ञान फाहुड़ी ध्यान का अंजन ।
ऐसा जोगी जोग कमावै, सुपने विंद न ताकै जावै ।
हरि, हर, गुरु की वाणी गावै, आसा छांड निरासा ध्यावै ।
गुरु की दीक्षा दृढ़ करधारं, एक पल नहीं बिसरै करतारं ।
सात समुन्द्र करै अस्नाना, सो जोगी दरगह परधाना ।

बस्तु अगम सतगुरु बतलाया, अलख पुरुष का दर्शन पाया ।
सोई सबद सुनत सुख पायो, सुन्न महल में आसन पायो ।।

इन पंक्तियों में अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा, हरि, हर विषयक विष्णु, भागवत, शिव तथा लिंग आदि पुराण, गुरुवाणी अर्थात् श्रीचन्द्र आदि संतों की वाणी का पाठ, अलख पुरुष का ध्यान, सातवें समुन्द्र अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में अमृत प्राप्ति और अनहदनाद श्रवण की महत्ता बताई गई है। योगाभ्यास, मंत्रजाप तथा ध्यान को साधना का प्रमुख अंग बताया गया है। श्रीचन्द्र जी के इस बीज मंत्र सूत्र की व्याख्या उक्त पंक्तियों में हुई है-

ओंम संसा स्वासे में सोया, जहाँ सोया तहां समाया ।
जो जाने स्वासे का भेव, आपै करता आपै देव ।
उलट गगन में चन्द्र समावै, पढ़ बीज मंत्र श्रीचन्द्र सुनावै ।
नारी सिद्ध करै न मेला, सोई सिद्ध जान गुरु चेला ।
नार सिस्न त्याग दोए, प्रेम योनी सिद्ध होए ।
सत सील खिमा की खिन्था, ओं हंस सोहम जाप जपै ले ग्रन्था ।।

क्रिया योग में सहजावस्था को विशेष महत्त्व दिया जाता है। गुरुदेव द्वारा दिया गया शब्द ही वास्तव में गुरु है। संतोषी शिष्य जब एकनिष्ठ होकर '*ओहम सोहम*' जपता है तो शिव-शक्ति योग या सुरति-शब्द योग सिद्ध होता है। चतुर्थपद या मोक्ष की प्राप्ति इसी योग गायत्री से होती है। बालू हसना साहब अपनी मात्रा में लिखते हैं-

सबद गुरु संतोष चेला, सति सबद चउथै पद मेला ।
पंथ उदासी निर्वाण जुगता, आतम ज्ञानी अनभै मुक्ता ।
ना कहीं आवै ना कहीं जावै, बालू हसना सहज समावै ।।

श्रीचन्द्र जी ने अपनी मात्रा में '*शिक्षा गुरु मंत्र गायत्री हरिनाम, निहचल आसन कर विश्राम*' का जो सूत्र दिया था, बालू हसना साहब ने उसी का समर्थन किया है। कुण्डलिनी का उत्थान सोहम, ओंकर या राम नाम के जाप से ही होता है। आचार्य श्री ने इसीलिए हरिनाम की चर्चा की है। बाबा कमलनैन जी ने भी अपनी मात्रा में इसीलिए कहा-

हरि ओम मंत्र जपो जाप जाको, मिटे मोह संसा बढ़े ज्ञान ताको ।
ध्यान गुफा बैठ आसन लगाओ, कटै ताप सब ही हरि नाम ध्याओ ।
पकड़ ज्ञान खड्ग ध्यान की चाला, गुरु शब्द धारो जपो दीन दयाला ।।

ध्यान की प्रक्रिया पर गोइंद साहब ने अपनी मात्रा में इन शब्दों में विचार किया है-

ओम सिद्ध पद्मासन लावे, चौगान भुज थापं,
मेरुदण्ड सूधो कर राखे, ओम शब्द प्राणमन जापं ।
त्रिकुटी ध्यान सकल पेखे, अनाहद लेखं,
दसवें द्वार पवन को रोके, एक निरंजन देखं ।।

निरंजन शब्द परमात्मा का वाचक है। 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है-

सदानादानुसंधानात्क्षीयते पाप संचयाः,
निरंजने विलीयेते, निश्चिन्तं चित्त मारुतौ ।

अंजन कहते हैं माया को और माया से शुद्ध जो परम तत्त्व है वह माया रहित होने से निरंजन कहलाता है। उपनिषद् में निरंजन परमसाम्यावस्था की प्राप्ति का सूचक है। कबीर ने भी कहा था-

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार ।

बाद में 'निरंजनी सम्प्रदाय' में निरंजन तत्त्ववाचक नाम हो गया ।

आरती तेरी अलख अभेवा, निरभैनाथ निरंजन देवा ।

यही नहीं 'करणीसार जोग' ग्रंथ में संत तुरसीदास निरंजनी तो उदासी साधना का रूप भी प्रकट कर देते हैं-

निरधन रहै उदास, नहीं संगि दूजा भावै ।
हे कलमल अबीह, सोई अवधूत कहावै ।
तजै दुःख अरु सुख, गगन में आसन लावै ।
तंह देखे निज नूर, मगन ह्वै माहिं समावै ।।

सिद्ध पुरुष जीवन मुक्त होता है। श्रीचन्द्र जी ने अपनी अन्य मात्रा में कहा है- अचल काया होय योगी काम क्रोध निवारियम् ।

• • •

जटा-जूट मुकुट सिर होय, मुक्ता फिरै बंध नहिं कोय।

योगशिखोपनिषद् में कहा गया है-

पिण्ड यातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु हन्यते,
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा ।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते,
विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ।।

अर्थात् 'जिन्होंने योग साधना से अपने शरीर, मन, प्राण को वश में कर लिया है, जिनका प्राण ही बाहर नहीं आता है, उनके देह का पतन कैसे हो सकता है? जो अपने योग बल से पंचत्व प्राप्त होने में, तत्त्व में तत्त्वलीन करने में तथा जीवन इच्छानुसार धारण करने में समर्थ हैं, उनका मरना ही कहां है? देह को ब्रह्मत्व प्राप्त होने से अर्थात् ज्ञान होने से जैसे नमक पानी में घुलकर जल रूप हो जाता है, वैसे ही दिव्य ब्रह्म ज्ञान से देह भी ब्रह्मरूप अनन्यता को प्राप्त होता है तब योगी जीवन मुक्त होता है। ऐसे जीवन मुक्त पुरुष का शरीर संकल्प मात्र से इच्छानुरूप बर्तता है। जब चाहे वह देह छोड़ सकता है और जब तक चाहे इच्छानुसार शरीर रख भी सकता है।' उसके लिए जंगल, मंदिर, श्मशान समान होते हैं। बाबा फूल साहब जी अपनी मात्रा में लिखते हैं-

जंगल मसान में आसन धारूं, श्रीचंद्र निरंकार को नाम उचारूं ।
गुरु मंत्र विचार, वेद उचार, मैं को मार, श्रीचंद्र नाम सु इष्ट धार ।।

इतना ही नहीं वह गुरुद्वारा प्रदत्त मंत्र के अर्थानुसन्धान पर बल देते हैं। वेद वाणी के पाठ की अनिवार्यता बताते हैं, अहं के त्याग की भावना पर बल देते हैं तथा श्रीचन्द्र जी को इष्ट रूप में मान्यता प्रदान करने वाले को जीवन्मुक्ति का अधिकारी मानते हैं।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि उदासी सम्प्रदाय श्रुति, स्मृति तथा योग ग्रन्थों में उपलब्ध साधनापद्धति का समर्थक है और इसीकारण वह शैव, शाक्त, नाथ तथा अन्य संत सम्प्रदायों से भिन्न है। वेद की प्रामाणिकता उदासियों के अतिरिक्त निर्गुणियां संतों में नहीं मिलती। श्रीचन्द्र जी तथा उनके धूणे के चारों शिष्य इस मान्यता के पोषक हैं। उनकी मात्राओं में इस बात का उल्लेख प्रायः मिलता है।

उपदेश जितने तब प्रासंगिक थे, उतने ही आज भी सार्थक और प्रासंगिक हैं। उन्होंने वैदिक जीवन मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा की। वह अपने युग के पहले आचार्य हैं जिन्होंने संस्कृत एवम् जनभाषा में एक साथ ग्रन्थ रचना की।

श्रीचन्द्र पहले आध्यात्मिक गुरु तथा आचार्य हैं जिन्होंने ग्रामोद्धार की बात की। गाँव-गाँव घूमकर जनजागरण का कार्य किया। क्या आज भी अनेक विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरे भारतीय समाज के लिए आचार्य श्रीचन्द्र का चिन्तन प्रासंगिक नहीं है?

□

आवरण चित्र—'बिन्दु' (100 × 100) से.मी. कैनवस पर एक्रिलिक। **सैयद हैदर रज़ा**। साभार। यह चित्र गहरे आध्यात्मिक अर्थों वाली शृंखला के तहत निर्मित है जिसमें हिन्दी-कवि मुक्तिबोध की निम्न प्रमुख पंक्तियां प्रेरक रही हैं—

'इस तम शून्य में तैरती है जगत समीक्षा'

वस्तुत: सृष्टि का आदि और अंत दिखाता 'बिन्दु' शीर्षक यह चित्र उस अखण्ड सत्ता का प्रतीक है जिसके संकेत मात्र से ही पूरी सृष्टि की गति निर्धारित होती है। शक्ति और माया तथा ब्रह्म और जीव के भेद के बीच नश्वर जगत की आपाधापी में शांति-पथ की खोज की प्रेरणा देती यह शृंखला मनुष्य की सार्थकता की वास्तविकता व्यंजित करती है।

□□

देश के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, समीक्षक एवं चिन्तक : डा0 विष्णुदत्त राकेश

डा0 विष्णुदत्त राकेश भारतीय साहित्य, दर्शन, संस्कृति एवं धर्मसाधनाओं के सर्वमान्य विद्वान हैं। जोधपुर विश्वविद्यालय से पीएच0डी0 तथा विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से डी0लिट्0 की सर्वोच्च अकादमिक उपाधि से विभूषित डा0 राकेश ने अनेक मौलिक ग्रन्थों तथा शोध-निबन्धों की रचना की है। आपके निर्देशन में दो दर्जन से अधिक शोधार्थी डाक्ट्रेट की डिग्री प्राप्त कर चुके हैं।

सम्प्रति आप गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के ***आचार्य एवं अध्यक्ष*** तथा स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र के ***निदेशक*** पद पर कार्यरत हैं। आपने काशी में रहकर प्राचीन शास्त्रों का परम्परागत अध्ययन किया है। आप श्रीमद्भागवत के उच्चकोटि के वक्ता, भारतीय-अभारतीय धर्म साधनाओं के ज्ञाता तथा चर्चित समीक्षक हैं।

'*देवरात*' महाकाव्य पर आपको मध्यप्रदेश शासन का ***अखिल भारतीय भवानी प्रसाद मिश्र काव्य पुरस्कार*** तथा '*नभग*' महाकाव्य पर समन्वय सेवा न्यास भारत माता मंदिर, हरिद्वार का ***अखिल भारतीय समन्वय सम्मान*** मिल चुका है। आपकी '***दश महाविद्या मीमांसा***' पुस्तक की *पद्मभूषण* आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय, '***उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास***' ग्रन्थ की आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे काशी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इन दिनों आप चारों ***वेदों*** का ***हिन्दी काव्यान्तरण*** कर रहे हैं। इस कार्य की प्रशंसा *पद्मभूषण* डा0 शिवमंगल सिंह सुमन तथा *पद्मभूषण* डा0 विद्यानिवास मिश्र जैसे मूर्धन्य साहित्यकारों ने की है। आपके '*श्रीमद्भागवत प्रवचन*' ग्रन्थ को कैलास पीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर आचार्य स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने सराहा है।